स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा निर्गत अधिनियम संख्या 10, 1999 द्वारा स्थापित)

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

CWED-01
महिला सशक्तिकरण एवं विकास में आधार पाठ्यक्रम

प्रथम खण्ड : लिंग की सामाजिक रचना

द्वितीय खण्ड : सामाजिक-लिंग समानता के लिए संघर्ष

तृतीय खण्ड : महिला स्वालंबन : समस्याएं और रणनीतियां

चतुर्थ खण्ड : विषय संबंधी अध्ययन (केस स्टडी) :
सहभागिता की ओर बढ़ते कदम

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद - 211013

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

CWED-01

महिला सशक्तिकरण एवं विकास में आधार पाठ्यक्रम

खंड

1

लिंग की सामाजिक रचना

आइए हम शुरू करें

पाठ्यक्रम परिचय

खंड प्रस्तावना

इकाई 1

लिंग-सोच की सामाजिक रचना 7

इकाई 2

सामाजिक लिंग रचना का संस्थागत आधार 25

इकाई 3

समाजीकरण और सामाजिक-लिंग रचना की विचारधाराएं 45

इकाई 4

समकालीन भारत में नारी 61

आइए हम शुरू करें

महिला सशक्तिकरण और विकास में आधार पाठ्यक्रम इस कार्यक्रम का अनिवार्य पाठ्यक्रम है। इसमें चार खंड हैं। प्रत्येक खंड में अलग-अलग विषयों पर विचार किया गया है जिनमें 3 से लेकर 5 इकाइयां हैं। हर इकाई में प्रमुख विषय पर तार्किक ढंग से विचार किया गया है। प्रत्येक खंड की शुरुआत खंड प्रस्तावना के साथ की गई है और अन्त में उपयोगी पुस्तकों की सूची दी गई है।

खंड 1 में कार्यक्रम का परिचय भी दिया गया है। इस कार्यक्रम के उद्देश्य और विषय को जानने के लिए कार्यक्रम परिचय को ध्यान से पढ़िए। साथ ही साथ खंड के विषय और उद्देश्य को समझने के लिए खंड प्रस्तावना अवश्य पढ़िए।

आपके सामने इस पाठ्यक्रम का पहला खंड है जिसमें चार इकाइयां हैं। इन इकाइयों को पढ़ने से पहले आपके लिए यह जानना लाभदायक होगा कि इस पाठ्य सामग्री को किस प्रकार पढ़ना चाहिए। यहां हम एक इकाई की रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे हैं और इकाई को विभिन्न भागों और उपभागों में बांटने की व्यवस्था से आपको परिचित करा रहे हैं। इसके बाद हम आपको बताएंगे कि इकाई को आप कैसे पढ़ें और इस पाठ्य सामग्री में दिए हुए कार्यों को किस प्रकार करें।

इकाई की रूपरेखा

इकाइयों की रूपरेखा का व्यवस्थित रूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :

ग.0 उद्देश्य

ग.1 प्रस्तावना

ग.2 भाग (भाग की विषय-वस्तु)

ग.2.1 उपभाग ग.2 का 1 — क्या आप जानते हैं

ग.2.1 उपभाग ग.2 का 1

.....

..... — ज़रा सोचिए

.....

ग.3 भाग (भाग की विषय-वस्तु)

ग.3.1 उपभाग ग.3 का 1

ग.3.2 उपभाग ग.3 का 2

.....

.....

.....

यहां ग चिन्ह इकाई की संख्या का द्योतक है।

प्रत्येक इकाई के अंतिम चार भागों के शीर्षक इस प्रकार दिए गए हैं :

सारांश

शब्दावली

कुछ उपयोगी पुस्तकें

पाठ्यक्रम परिचय

महिला विकास और सशक्तिकरण

इस आधार पाठ्यक्रम का लक्ष्य महिलाओं से जुड़े मुद्दों पर एक विश्लेषणात्मक परिप्रेक्ष्य रखना है जिसमें नए सवाल बनें और बदलाव की नई राहें तलाशी जा सकें। इसमें यह दिखाने की कोशिश की गई है कि समाजीकरण के जरिए जो सामाजिक-लिंग (जेंडर) रचित भूमिकाएं हमें मिलती हैं वे न तो प्राकृतिक होती हैं और न ही अटल सत्य हैं। इनकी रचना समाज करता है और वे सांस्कृतिक व ऐतिहासिक दृष्टि से परिवर्ती हैं। इन्हें हम बदल सकते हैं, इसलिए इन्हें सिर्फ अकादमिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि सामाजिक जीवन में भी चुनौती दी जा रही है।

सामाजिक-लिंग भूमिकाएं कई कारकों की परस्पर क्रिया के जरिए निश्चित होती हैं। इनमें से कुछ कारक भौतिक हैं: श्रम विभाजन, पारिवारिक समाजीकरण द्वारा थोपी गई सीमाएं, जाति, विवाह और नातेदारी का ढांचा, असमान उत्तराधिकार और स्वस्थ जीवन और आजीविका के लिए जरूरी संसाधनों का समान रूप से सुलभ नहीं होना, सामाजिक-लिंग, वर्ग और जाति के आधार पर परिवार के भीतर और उसके बाहर वैतनिक श्रम के क्षेत्र में विद्यमान क्रमपरंपरा। कुछ कारक वैचारिक हैं: पारिवारिक विचारधाराएं, धार्मिक विश्वास, कर्मकांड और रीतिरिवाज जो असमानता को मजबूती देते हैं और खुद महिलाओं द्वारा इन क्रमपरंपराओं का आंतरिकीकरण कर लेना, उन्हें अपने मूल्यों और आस्थाओं का हिस्सा बना लेना। ज्यादातर भौतिक और वैचारिक कारक संस्थाओं में गुंथे रहते हैं, यही संस्थाएं महिलाओं की पराधीनता को जीवित रखती हैं और उसकी पुनर्रचना करती हैं। ये हैं परिवार, जाति, धर्म, मीडिया श्रम बाजार और राज्य।

मगर यह जरूरी नहीं है कि ऐसा ही हो। यह इस बात से साबित हो जाता है कि अतीत में भारत और अन्य देशों में अलग-अलग किस्म के सामाजिक संगठन मौजूद हैं जहाँ महिलाएं इस तरह की बेड़ियों में जकड़ी नहीं थीं। ये हैं पत्नी-स्थानिक, मातृवंशीय, जनजातीय समाज। इसमें संदेह नहीं कि इन सामाजिक संगठनों में भी महिलाओं को सत्ताधिकार किस हद तक प्राप्त थे, इसे हमें हर सामाजिक प्रणाली की व्यापक सीमाओं के दायरे में देखना होगा।

सामाजिक-लिंग असमानता के खिलाफ भारत और दूसरे दक्षिण एशियाई देशों में अतीत में तरह-तरह के संघर्ष हुए हैं और वे वर्तमान में भी चल रहे हैं; यह पाठ्यक्रम आपको इन संघर्षों की झांकी दिखाता है। महिलाएं किसी एकमात्र वर्ग से जुड़ी नहीं हैं। उनकी पराधीनता भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है तो वहीं उनमें इलाकाई और प्रादेशिक, शहरी और देहाती तमाम तरह की भिन्नताएं पाई जाती हैं। इसलिए उनके संघर्ष भी जहां समान सिद्धांतों पर चले हैं तो वहीं उनके मुद्दे, रणनीतियां और लामबंदी के स्वरूप भी उतने ही विविध रहे हैं। दक्षिण एशिया हालांकि अनेक राष्ट्रों में बंटा है मगर इनमें महिलाएं जो-जो समस्याओं का सामना करती हैं उनमें समानताएं हैं। खासकर पितृसत्तात्मक दमन, आर्थिक वंचना और धार्मिक कट्टरता के मामले में वे समान समस्याओं से जूझ रही हैं; स्वतंत्रता कालीन भारत में हर स्तर पर संघर्ष हो रहे हैं: जमीनी किसान और मेहनतकश वर्ग के आंदोलन और स्वतंत्र संगठनों और राजनीतिक दलों की महिलाओं द्वारा उठाए गए आंदोलन। इन आंदोलनों ने कई तरह के मुद्दे उठाए हैं जैसे भूमि का स्वामित्व और वितरण, पर्यावरण का विनाश और क्षरण, महिलाओं के खिलाफ होने वाली दूसरी तरह की हिंसा। उन्होंने शराब, जबरिया विस्थापन और आर्थिक भूमंडलीकरण के प्रभावों के खिलाफ भी लड़ाई लड़ी है; इस मंच में दूसरे पात्र भी अभिनय कर रहे हैं–इनमें मुख्य हैं गैर-सरकारी संगठन, राज्य और अंतरराष्ट्रीय ऐजेंसियां क्योंकि सामाजिक लिंग-लिंग (जेंडर) एक अंतरराष्ट्रीय मुद्दा बन गया है। यह पाठ्यक्रम राज्य की ओर से की जा रही पहलों समेत इन गतिविधियों पर एक आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है और इन तमाम मुद्दों को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखने की जरूरत पर जोर देता है क्योंकि यह महिलाओं के दमन, उत्पीड़न को असमानताओं के दूसरे रूपों से जोड़कर देखता है।

इसी तरह इसमें स्वतंत्रता पूर्व भारतीय समाजिक सुधार आंदोलनों की अभी तक प्रचलित व्याख्याओं पर प्रश्न उठाए गए हैं और हमारे इतिहास के मूल्यांकन के वैकल्पिक तरीके सुझाए गए हैं। राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी पर चर्चा करने के साथ-साथ यह पाठ्यक्रम राजनीतिक सहभागिता के मायने का दायरा मौजूदा संदर्भ में बढ़ाने का प्रयास करता है। राजनीतिक सहभागिता के स्थापित संस्थाओं के भीतर और बाहर कई प्रकार के स्तर और रूप हैं और हर एक की अपनी संभावनाएं और सीमाएं हैं। सार्वजनिक और निजी कार्यक्षेत्र के बीच तथा-कथित सीमा रेखा बनावटी है। इसके कई तरह के प्रभाव हैं और इनमें एक राजनीतिक सहभागिता की संकुचित परिभाषा है। इसलिए पाठ्यक्रम ने राजनीतिक प्रतिनिधित्व के परंपरागत प्रश्नों और महिला आरक्षण के साथ-साथ राजनीतिकरण और लामबंदी के दूसरे रूपों को लिया भी है।

कुछ क्षेत्रों में कई बदलाव आएं तो दूसरे क्षेत्रों में कुछ। वहीं पिछले पांच दशकों में उत्पीड़न और दमन के नए रूप भी उभरे हैं। ऐसी स्थिति में समकालीन मुद्दों पर विशेष ध्यान दिया गया है जैसे महिलाओं के बेगार काम को मान्यता, संगठित और असंगठित क्षेत्रों में महिलाओं को रोज़गार, सहकारिताओं और सामूहिक उद्यमों का निर्माण, शिक्षा, स्वास्थ्य, कानूनी परिवर्तन के प्रश्न, कई कानूनों के समस्याजनक पहलू और इन सबके बीच अंतरसंबंध।

खंड प्रस्तावना

इस खंड में चार इकाइयां हैं। ये चारों इकाइयां सामाजिक-लिंग रचना के चार विभिन्न पहलुओं के बारे में बताती है। ये हैं: सामाजिक लिंग रचना के-संकल्पनात्मक, वैचारिक और संस्थागत आधार और भारत में इस सामाजिक लिंग रचना की प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न महिलाओं की स्थिति। यह खंड विभिन्न सामाजिक सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रक्रियाओं के बीच अंतर्संबंधों पर रोशनी डालता है जो महिलाओं के लिए सामाजिक रूप से अलग या पृथक्कृत, आर्थिक रूप से पराश्रित और शोषित, सांस्कृतिक रूप से सहिष्णु और दुर्बल और राजनीतिक रूप से अधिकारहीन स्थिति उत्पन्न कर सामाजिक-लिंग रचना को जन्म देती है और उन्हें चिरस्थायी बनाती हैं। इसका लक्ष्य महिलाओं की दकियानूसी आत्मछवि के मिथक को तोड़ना और अपने पर थोपी गई विभिन्न किस्म की ढांचागत पराधीनताओं का प्रतिरोध करने के लिए विभिन्न स्तरों पर किए जा रहे महिलाओं के प्रयासों के बारे में बताना है।

पहली इकाई **लिंग की सामाजिक रचना** विभिन्न संकल्पनात्मक मुद्दों पर केंद्रित है। यह यौन-लिंग (सैक्स) और सामाजिक लिंग (जेंडर) में भेद स्पष्ट करती है और सामाजिक-लिंग की सांस्कृतिक रचना के बारे में बताती है। इसमें संक्षेप में विभिन्न आर्थिक व सामाजिक बंदोबस्तों के जरिए होने वाली सामाजिक लिंग रचना की प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है। ये बंदोबस्त हैं: श्रम का लैंगिक विभाजन, नातेदारी और जाति की संस्थाएं। ये संस्थाएं संस्कृति विशिष्ट होती हैं इसलिए मानव समाज में सामाजिक-लिंग की प्रकृति में भिन्नताएं पाई जाती हैं। यह इकाई इन भिन्नताओं पर चर्चा करती है और सामाजिक-लिंग रचना पर विश्ववादी नज़रिए का आलोचनात्मक विश्लेषण भी प्रस्तुत करती हैं।

सामाजिक-लिंग रचना का संस्थागत आधार दूसरी इकाई का विषय है। यह सामाजिक-लिंग रचना में विभिन्न सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं की भूमिका के बारे में बताती है। समाज के सदस्यों के सामाजिक जीवन में संचालन और भारतीय समाज में सामाजिक लिंग-सोच की रचना को जनमानस में बिठाने ओर उसमें उसे जीवित रखने में संस्थाओं की भूमिका का विश्लेषण यहां किया गया है; ये संस्थाएं हैं--परिवार, जाति, धर्म, मीडिया, श्रम बाजार और राज्य।

समाजीकरण और सामाजिक लिंग रचना की विचारधाराएं इकाई 3 का विषय है। यह इकाई समाजीकरण और विचारधारा की संकल्पनाओं को स्पष्ट करते हुए समाज के सदस्यों के जीवन के विभिन्न चरणों यानी बचपन, युवावस्था और मातृत्व पर सामाजिक-लिंग सोच की रचना में इनकी भूमिका का विश्लेषण करती है। हाल के कुछ वर्षों में विवाह और श्रम विभाजन जैसी संस्थाओं में कुछ खास बदलाव शिक्षा और महिलाओं के लिए रोज़गार के उभरते अवसरों की वजह से आए हैं। इन्हीं के अनुरूप समाजीकरण की प्रक्रिया और इन संस्थाओं की विचारधारों में भी परिवर्तन हुए हैं। हमने भारतीय समाज में महिलाओं के लिए इन परिवर्तनों के निहितार्थों का विश्लेषण किया है। साथ ही हमने भारतीय समाज में नारी की विरोधाभासी स्थिति पर चर्चा की है जो प्रचलित धारणाओं और अंतर्विरोधों से उत्पन्न हुई है। इस इकाई के आखिरी भाग में परिवार और धर्म जैसी महत्वपूर्ण संस्थाओं की बिसरी हुई वैचारिक रचनाओं को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

इकाई 4, **समकालीन भारत में नारी**, भारत में महिलाओं के सरोकार के मुद्दों के सामान्यीकरण की समस्याओं से आरंभ होती है और भारतीय समाज में महिलाओं की उपेक्षा के रूपों और व्यापकता का विश्लेषण करती है। यह भारतीय समाज में महिलाओं की निम्न आर्थिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य और राजनीतिक स्थिति और इसके लिए उत्तरदायी विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक कारकों की विस्तार से चर्चा करती है। इसके अंतिम भाग में भारत में मानव विकास और सामाजिक-लिंग (यानी स्त्री जाति) सशक्तिकरण के मुद्दों की चर्चा एक तुलनात्मक धरातल पर की गई है। आइए सबसे पहले सामाजिक लिंग रचना के मुद्दे से अपनी चर्चा शुरू करते हैं क्योंकि यह समूचे पाठ्यक्रम के दौरान हमारे साथ-साथ चलेगा।

इकाई 1 लिंग-सोच (जेंडर) की सामाजिक रचना

रूपरेखा

1.0 लक्ष्य और उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 सामाजिक रचना और लिंग-सोच (जेंडर)

- 1.2.1 सामाजिक रचना क्या है?
- 1.2.2 यौन-लिंग और सामाजिक लिंग-सोच में अंतर
- 1.2.3 संस्कृति और सामाजिक लिंग-सोच रचना

1.3 सामाजिक लिंग-सोच और कार्य : श्रम का लैंगिक विभाजन

1.4 सामाजिक लिंग-सोच और नातेदारी

- 1.4.1 जनजातीय समाज में सामाजिक लिंग-सोच
- 1.4.2 सामाजिक लिंग-सोच के स्वरूपों में भिन्नता: मातृसत्ता पर बहस
- 1.4.3 दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया में सामाजिक लिंग-सोच और नातेदारी

1.5 सामाजिक लिंग-सोच की रचना और जाति

- 1.5.1 धार्मिक अनुष्ठान और सामाजिक लिंग-सोच की रचना
- 1.5.2 विवाह, लैंगिकता और प्रजनन का नियमन
- 1.5.3 सामाजिक लिंग-सोच और रचित संबंध

1.6 सामाजिक लिंग सोच की रचना: विश्ववादी दृष्टिकोण

1.7 सारांश

1.8 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

1.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.0 लक्ष्य और उद्देश्य

महिला सशक्तिकरण और विकास के समूचे पाठ्यक्रम की यह पहली इकाई है। जैसा कि इस इकाई का शीर्षक बताता है हमारा लक्ष्य सामाजिक लिंग-सोच रचना के अर्थ, उसके आयामों और महिलाओं के लिए उसके निहितार्थों से आपको परिचित कराना है। इसके लिए हमने भारत और पड़ोसी देशों से उदाहरण चुने हैं। सामाजिक लिंग-सोच रचना की प्रक्रिया का [illegible] बंदोबस्तों से नज़दीकी रिश्ता है जिनके जरिए यह काम करती है। लिंग-सोच रचना स्थानीय और विश्वव्यापी स्तर पर काम करती है। यह इकाई आपको इन मिले-जुले प्रसंगों की जानकारी देगी। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- सामाजिक लिंग-सोच रचना की प्रक्रिया और समाज की संस्कृति से इसके रिश्ते को स्पष्ट कर सकेंगे;
- श्रम विभाजन में लिंग-सोच रचना के मायनों का विश्लेषण कर सकेंगे;

- सामाजिक लिंग-सोच और संस्थागत बंदोबस्तों के बीच संबंध का विश्लेषण कर सकेंगे जैसे नातेदारी, जाति और विवाह;
- सामाजिक लिंग-सोच रचना पर विश्ववादी नजरिए की मुख्य विशेषताओं और सीमाओं का विश्लेषण कर पाएंगे।

हमें आशा है कि इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप न सिर्फ लिंग-सोच की रचना प्रक्रिया की जटिलताओं को समझ लेंगे बल्कि यह प्रश्न भी उठा पाएंगे कि इसका प्रचलन क्यों है? इन प्रचलनों की वैधता के स्रोत क्या हैं? इत्यादि।

1.1 प्रस्तावना

यह इकाई सामाजिक रचना के अभिप्राय पर संक्षिप्त चर्चा से शुरू होती है। इसके साथ-साथ यह लिंग-सोच रचना के अभिप्राय और संस्कृति से उसके रिश्ते पर चर्चा करती है। चूंकि सामाजिक लिंग सोच रचना तरह-तरह की सामाजिक संस्थाओं के जरिए शाश्वत रूप धारण करती है, इसलिए हमने सामाजिक लिंग-सोच (जेंडर) को विभिन्न संस्कृतियों में श्रम के विभाजन और नातेदारी, जाति और विवाह, इन संस्थाओं से जोड़कर देखा है। श्रम के लैंगिक विभाजन वाले भाग में हमने महिलाओं के लिए इसके मायनों पर चर्चा की है। जैसे: दायित्वों का क्रम-परंपराकरण (hierarchisation), संसाधनों का असमान वितरण, महिलाओं के काम का अवमूल्यन और अदृश्यमान होना और अंतत: महिलाओं का अधिकारहरण (disempowerment)।

इकाई के नातेदारी और सामाजिक लिंग-सोच वाले भाग में हमने बताया है कि नातेदारी के पैटर्न में भिन्नता समाज में लिंग-सोच (जेंडर) रचना की प्रक्रिया को किस तरह प्रभावित करती है। सामाजिक लिंग-सोच रचना में भिन्नताओं के अलावा आदिम समाजों के साथ-साथ दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया के कुछ समकालीन समाजों में लिंग-सोच के मुद्दे पर भी हमने चर्चा की है। इसके बाद लिंग-सोच रचना और जाति पर एक संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वे करते हुए हमने जाति या वर्ण व्यवस्था में सत्ताधिकार संबंधों, कर्मकांडों, विवाह प्रथाओं, लैंगिकता (यौन व्यवहार) के नियमन इत्यादि के माध्यम से लिंग-सोच की रचना को समझने का प्रयास किया है। इकाई के अंत में हमने लिंग-सोच के विश्ववादी नजरिए और उसकी मीमांसा पर चर्चा की है।

1.2 सामाजिक रचना और लिंग-सोच

अक्सर कहा जाता है कि सामाजिक वास्तविकता जैसी कोई चीज नहीं है बल्कि जो कुछ है वह "सामाजिक रचना" है। इसी तरह वास्तविकता में ऐसा कुछ भी नहीं है जो नैसर्गिक रूप से "अच्छा" या "बुरा" हो। बल्कि यह सब सामाजिक रचनाएं हैं। दूसरी तरह से कहें तो नैतिकता मानव समाज का एक अर्जित दर्शन है। अब सवाल यह उठता है कि किसी समाज के दर्शन या उसकी सामाजिक रचना किस प्रकार होती है? क्या यह खुद-ब-खुद बन जाती है? क्या यह संस्कृति विशेष है? आइए, सामाजिक रचना की इस प्रक्रिया को समझने का प्रयास करें।

1.2.1 सामाजिक रचना क्या है?

रोज़ाना हम कई चीजें देखते हैं, कई तरह की घटनाओं का अनुभव हमें होता है और हम कई तरह के पारस्परिक संपर्कों से गुज़रते हैं। इनमें से कुछ अनुभव नए, कुछ पुराने तो कुछ अतीत की निरंतरता लिए रहते हैं। इन अलग-अलग अनुभवों या प्रसंगों की हम एक छवि या बिंब बना लेते हैं। इस तरह हम अपनी चारों ओर की दुनिया के बारे में एक समझ बना लेते हैं और फिर इन प्रसंगों को उसी के अनुसार देखते हैं, असल में हम अपने जीवन में रोज़ाना जो कुछ भी घटता है उसे दुनिया

की अपनी समझ के चश्मे से ही देखते हैं। "घटनाओं का रोज़मर्रा का यही बोध" सामाजिक रचना की नींव बनाता है जिसे हम वास्तविकता कहते हैं (ई.डी. ग्रे, 1982:39)।

मगर यह समझ आखिर आती कहां से है? सामाजिक रचना एक सतत प्रक्रिया है जिसमें अलग-अलग होने वाली प्रक्रियाएं और व्यापक सामाजिक प्रक्रियाएं दोनों अपनी-अपनी भूमिका अदा करती हैं। हर रचना सामाजिक पात्र की निजी समझ से प्रभावित होती है और इसमें एक व्यक्तिपरक पूर्वाग्रह रहता है। सामाजिक रचना विशेष जन समूहों और वर्गों के अपने निहित स्वार्थों या हितों से भी होती है। इस मायनें में भी यह व्यक्तिपरक होती है। सांस्कृतिक मूल्यों, आदर्शों, रीति-रिवाजों, भाषा, विचारधारा और समाज के संस्थागत ढांचे का इस्तेमाल अक्सर कुछ विशेष सामाजिक रचनाओं को सही ठहराने के लिए किया जाता है। इसके पीछे जन समूहों और वर्गों के व्यक्तिपरक पूर्वाग्रहों को तर्कसंगत ठहराने और उसे व्यापक और विधि-सम्मत बनाने का विचार काम करता है। इस तरह जिस सामाजिक रचना के जरिए हम अपने रोजाना के अनुभवों को समझते हैं, नैतिक निर्णय लेते हैं और दूसरे लोगों को उनके धर्म, यौन-लिंग, जाति के आधार पर बांटते हैं उसका निर्धारण संस्कृति करती है और उसे बदला भी जा सकता है। ये सामाजिक रीति-रिवाजों, विश्वासों इत्यादि का निर्माण करती हैं और ये रचनाएं इनके जरिए भी मन में बिठायी जाती हैं। समाजीकरण और शिक्षा जैसी सामाजिक प्रक्रियाएं भी एक खास किस्म की सामाजिक रचना के निर्माण में हाथ बंटाती हैं जो टिकाऊ होती है और जिन्हें व्यापक स्तर पर स्वीकार कर लिया जाता है। सामाजिक-लिंग-सोच ऐसी ही सामाजिक रचना का फल है। यह समाज के एक निश्चित सांस्कृतिक तंत्र के दायरे में आकार लेता है। आइए अब देखें कि हमारे समाज में लिंग-सोच रचना किस प्रकार होती है। इस प्रक्रिया को समझने के लिए यौन लिंग और सामाजिक लिंग-सोच (जेंडर) में क्या अंतर है, आइए पहले इसे जानें।

1.2.2 यौन-लिंग और सामाजिक लिंग-सोच में अंतर

इन दोनों शब्दों ['सैक्स' (यौन-लिंग) और 'जेंडर' (सामाजिक-लिंग)] को अक्सर हम अंग्रेजी में अदल-बदल कर प्रयोग करते हैं। मगर क्या दोनों का अभिप्राय एक ही है? क्या दोनों में अंतर है? हां, ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। लिंग-सोच (जेंडर) वह भूमिका है जिसकी रचना का सामाजिक रूप से निर्धारण सांस्कृतिक होता है, जिसे नर और नारी को अपने दैनिक जीवन में अदा करनी पड़ती है। लिंग-सोच विश्लेषण की एक संकल्पनात्मक युक्ति है, जिसे महिला और पुरुष के बीच असमानता के विभिन्न ढांचागत संबंधों को प्रकाश में लाने के लिए प्रयोग किया जाता है जो कि हमें श्रम बाजार, राजनीतिक ढांचे और परिवार में नजर आते हैं। दूसरी ओर यौन-लिंग नर और मादा के बीच जैविक भेद हैं, जो स्थान और काल दोनों स्थिति में समान हैं।

सामाजिक लिंग सामाजिक रूप से रचित भेद और नर और नारी के बीच संबंध हैं, जिसमें स्थान और समय के अनुसार भारी भिन्नताएं पाई जाती हैं। सामाजिक-लिंग (जेंडर) को इस प्रकार एक ऐसे विचार या धारणा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो हमें एक ढांचा प्रदान करता है, जिसके दायरे में यौन लिंगों (नर-नारी) की सामाजिक और वैचारिक रचना और उनके बीच भेदों के निरूपण को स्पष्ट किया जाता है (मेजफील्ड, ए. 1994)।

1.2.3 संस्कृति और सामाजिक लिंग-सोच रचना

जैसा कि पीछे कहा गया है सामाजिक-लिंग रचना का निर्धारण संस्कृति से होता है। अब आप जानना चाहेंगे कि संस्कृति क्या है। संस्कृति एक महत्वपूर्ण संकल्पना है, यह "एक विशेष जीवन शैली का चित्रण" है, जो कुछ खास अभिप्रायों और मूल्यों को न सिर्फ कला और ज्ञान में बल्कि संस्थाओं और साधारण व्यवहार में भी प्रकट करती है (विलियम्स, आर. 1987: 43)। संस्कृति की यह परिभाषा उत्पादन के प्रबंध, परिवार, संस्थाओं और विचारधाराओं के ढांचे को समेट लेती है जो सामाजिक रिश्तों की अभिव्यक्ति या उनका संचालन करते हैं। समाज के सदस्यों (स्त्री और पुरुष) के बीच संवाद के पैटर्न को भी यह प्रभावित करती है। पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की सामाजिक लिंग-सोच

(जेंडर) या सांस्कृतिक रचना हर समाज में संस्थाओं और प्रथाओं के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जाति, वर्ग, नस्ल और एक संस्कृति में पुरुषों और महिलाओं के बीच सत्ताधिकार के संबंधों के रूप में पाए जाने वाले स्तरीकरण और प्रभुत्व की प्रणाली को समझने के लिए यह महत्वपूर्ण है। हमें अब सामाजिक सोच-लिंग (जेंडर) रचना के इन महत्वपूर्ण तत्वों और संस्कृति से उनके संबंधों का विश्लेष्ण करना होगा:

क) सामाजिक लिंग-सोच रचना प्रभुत्व की प्रणालियों की पोषक है

सामाजिक लिंग-सोच की रचना प्रभुत्व की प्रणालियों के सृजन और रक्षा प्रबंध का अभिन्न अंग है। यह महिलाओं और पुरुषों के लिए विकल्पों को तय करती है। ये विकल्प कार्य और उत्पादन प्रक्रिया, गतिशीलता/पार्थक्य, पहनावा और व्यवहार इत्यादि से जुड़े हैं। दूसरी तरह से कहें तो एक समाज के सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रचलन जैसे श्रम का लैंगिक विभाजन, भूमि का आबंटन और रूढ़िकरण, संपत्ति और उत्तराधिकार, अधिकार और शासन का वितरण और इन सबसे ऊपर समाज में पुरुषों और महिलाओं के हाथों में सत्ताधिकार का असमान संकेन्द्रण और उनकी स्थिति ये सब सामाजिक-लिंग सोच की रचना के पैटर्नों को दर्शाते हैं।

यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि सामाजिक लिंग-सोच श्रेणियां कभी तटस्थ या अमूर्त नहीं होती न ही वे समान होती हैं। कुछ समाजों में सामाजिक लिंग-सोच विशेष भूमिकाओं को उनकी परस्पर पूरकता ;बवउचसमउमदजंतपजलद्ध के तर्क पर उचित ठहराया जाता है। गहराई से देखने पर इस तर्क में कोई सचाई नजर नहीं आती। स्त्री-पुरुष के बीच क्रमपरंपराएं अक्सर संसाधनों तक उनकी पहुंच, विकल्पों की स्वतंत्रता और फिर उनकी भूमिका के सामाजिक मूल्यांकन से बनती हैं।

क्या उनकी सामाजिक भूमिकाओं को उचित रूप से मान्यता दी गई है और क्या उनका मूल्यांकन किया गया है?

सौजन्य : देवल के. सिंहराय, इग्नू, नई दिल्ली

क्या आप जानते हैं? 1

सामाजिक लिंग-सोच (जेंडर): सामाजिक-लिंग सोच एक संकल्पना है जो हमें स्त्री-पुरुष के आपस में और उनके सामाजिक परिवेश में उनके व्यवहार पैटर्न में सायास विकसित, सांस्कृतिक रूप से निर्धारित भेदों (जो जैविक रूप से निर्धारित भेदों से भिन्न हैं) के बारे में बताती है। समाज ही क्रिया-कलापों, अधिकारों और दायित्वों को स्त्रियोचित या पुरुषोचित भूमिकाओं के दायरे में बांटता है। समाज के सदस्य इन्हीं अपेक्षाओं के अनुसार सामाजिक-लिंग आधारित भूमिका को निभाना सीखते हैं। सामाजिक लिंग-सोच आधारित भूमिका का सृजन करने वाले आदर्श और मूल्य समाज और परिवार दोनों में मौजूद रहते हैं। महिलाओं की स्थिति और जीवन में उनके भविष्य की संभावनाओं को यही सामाजिक-लिंग जनित भूमिका सबसे ज्यादा प्रभावित करती है।

सामाजिक-लिंग जनित भूमिकाएं श्रम के विभाजन को प्रभावित करती हैं। संसाधनों, लाभों तक पहुंच और उन के वितरण पर नियंत्रण के साथ-साथ निर्णय प्रक्रिया को भी ये भूमिकाएं प्रभावित करती हैं। यह स्त्री-पुरुष के बीच परस्पर-निर्भरता को जन्म देती हैं, यह परस्पर-निर्भरता जटिल, सूक्ष्म लचीली होती है और सत्ताधिकार संबंध लेकर चलती है। महिलाओं के लिए आमदनी के स्रोतों को भी यह प्रभावित करती है। पुरुषों के बनिस्बत महिलाओं की संसाधनों तक पहुंच अक्सर कम और अपने ही श्रम पर खुद का अधिकार कम रहता है। फिर उद्योग के उपक्षेत्रों और रोजगार के साधनों तक उनकी पहुंच सीमित है तो आधारी सेवाओं और सुविधाओं को हासिल करना उनके लिए कठिन हो सकता है। अंततः अपनी आमदनी को अपने अधिकार में रखने में भी उन्हें कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

इसलिए सामाजिक-लिंग संबंधी विशेषताएं महत्वपूर्ण परिवर्ती बन जाती हैं, नियोजन और नीति-निर्माण में जिन्हें ध्यान में रखा जाना जरूरी है। बहरहाल दूसरे सामाजिक-आर्थिक परिवर्ती सामाजिक लिंग-सोच के प्रभाव को बदल डालते हैं। ये हैं: परिवार की सामाजिक-आर्थिक हैसियत, जातीयता और उम्र। सामाजिक-लिंग जनित भूमिकाएं समाज के अंदर स्थान और काल के अनुसार बदलती रहती हैं। महिलाएं एक समरूप समूह नहीं हैं, सो नीति-निर्माताओं और योजनाओं और योजनाकारों के लिए जरूरी है कि वे इस विषमरूपता को ध्यान में रखें। महिलाओं के काम, हित और जरूरतें अलग हैं। (थिया हिलहॉर्स्ट, 1192)

ख) सामाजिक-लिंग रचना बनाम सामाजिक-लिंग की निजी अभिव्यक्ति

नारी अधिकारवादी मनोविश्लेषक यह मानकर चलते हैं कि सामाजिक-लिंग सोच को पूरी तरह से सांस्कृतिक भाषायी या राजनीतिक रचित नहीं माना जा सकता है। सांस्कृतिक यंत्रों के अलावा निजी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएं भी अपना काम करती हैं जो हर व्यक्ति को अपनी सामाजिक-लिंग पहचान या सामाजिक-लिंग जनित व्यक्तिपरकता का बोध कराते हैं (एन. चॉडॉरो, 1995; 516)। यहां आकर हमें सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक रूप से तय होने वाली : (i) *सामाजिक-लिंग की आदेशात्मक रचनाओं* (जैसे एक बालिका का समाजीकरण ग्रहणी बनने और सामाजिक प्रतिमानों के अनुसार अपनी भूमिका निभाने के लिए किया जाता है।) और इन रचनाओं की (ii) *निजी रूपसिद्धियों या व्यवस्थाभंजन* के बीच अंतर जानना होगा। ये निजी रूपसिद्धियां या व्यवस्थाभंजन निजी मानस की सामाजिक-राजनीतिक या सांस्कृतिक या ऐतिहासिक प्रतिमानों के साथ पारसपरिक-क्रिया से उत्पन्न होती हैं। जैसे किशोरावस्था में एक बालक यौन परिवर्तन से गुजरता है। इसके अलावा हमें यह भी ध्यान रखने की जरूरत है कि सामाजिक-लिंग की निजी व्याख्याओं या अभिव्यक्तियों से समाज विशेष किस प्रकार पेश आते हैं। क्या समाज ऐसे प्रचलनों, प्रथाओं को संस्थागत बनाते हैं? या फिर वे सामाजिक-लिंग की निजी अभिव्यक्ति पर वृहत्तर अधिकार या नियंत्रण को संस्थागत बनाते हैं?

किसी भी समाज के इतिहास में पुल्लिंग (पुरुषोचित) और स्त्रीलिंग (स्त्रियोचित) की श्रेणियां स्थायी नहीं रहती। एक ऐतिहासिक काल से दूसरे काल में संक्रमण के लिए सामाजिक-लिंग रचनाएं कौन से विशिष्ट मार्ग अपनाती हैं? इस संक्रमण को कौन सी शक्तियां प्रभावित करती हैं और किस तरह प्रभुता की विभिन्न शक्तियां और अधिनायकवादी हित मिल कर किसी खास युग में सामाजिक-लिंग विचारधाराओं को गढ़ते हैं? फिर सामाजिक-लिंग की रचना और पुनर्रचना में महिलाओं, उनके काम, उनके जीवन, उनकी लैंगिकता (या यौन व्यवहार) और उनकी स्थिति के लिए क्या मायने हैं।

श्रम-विभाजन, नातेदारी और जाति की संस्थाओं का विश्लेषण करते हुए हम इनमें से कुछ प्रश्नों की समीक्षा करेंगे।

जरा सोचिए 1

इस पाठ के पिछले अनुभाग को ध्यान से पढ़िए और अपने तरीके से सामाजिक लिंग-सोच और यौन-लिंग में भेद करने की कोशिश करें। संभव हो तो इन्हें अपने अनुभवों से जोड़कर देखें।

1.3 सामाजिक-लिंग सोच और कार्य: श्रम का लैंगिक विभाजन

श्रम का लैंगिक विभाजन सामाजिक-लिंग रचना का एक अनिवार्य घटक है। श्रम के लैंगिक विभाजन की यही विशेषता है कि यह हर लिंग (यानी स्त्री और पुरुष) को उत्पादन के अलग-अलग दायित्व सौंपता है। कुछ समाजों में उत्पादन कार्यों में पुरुषों और स्त्रियों के बीच समकक्षता को अधिक महत्ता दी जाती है। समकक्षता का मतलब है कि नर या नारी, हर उत्पादक को, अपने श्रम से उपजे उत्पादों पर बराबर का अधिकार है। श्रम के लैंगिक विभाजन को सिर्फ़ उन कसौटियों के नजरिये से ही देखने की जरूरत नहीं, जिनसे विशेष कार्यों को लिंग-विशिष्ट बना दिया जाता है। बल्कि उसे इस नजरिए से भी देखने की जरूरत है कि श्रम के उत्पादों को किस तरह वितरित और नियंत्रित किया जाता है (एडहॉल्म, हैरिस और यंग, 1977: 122)। काम के आबंटन में सामाजिक-लिंग भेद को सही ठहराने के लिए यह तर्क दिया जाता है कि दोनों के कार्यक्षेत्र अलग मगर बराबर हैं। जैसे, महिलाओं को घर बनाने वाली या गृहणी तो पुरुषों को रोजी-रोटी कमाने वाला कहा जाता है। इसका यही मतलब निकलता है कि सामाजिक रूप से सौंपे गए हर कार्य को बराबरी का महत्व और दर्जा दिया जाएगा। यह तर्क दावा करता है कि उत्पादन और प्रजनन जिसका मतलब बच्चे पैदा करना है, के आधार पर श्रम के लैंगिक विभाजन में कोई बुराई नहीं है। मगर समस्या तब पैदा होती है जब इन में कुछ कार्यों को तो महिमामंडित किया जाता है मगर कुछ को कोई सम्मान नहीं मिलता। कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों पर यहां चर्चा की जा रही हैं।

क) जनन का दायित्व और कार्य का क्रमपरंपराकरण

श्रम के लैंगिक विभाजन के विश्लेषण के लिए तीन मुद्दे महत्वपूर्ण हैं: पहला, क्या महिलाओं के कार्य मुख्यत: जनन, मातृत्व, बच्चे के पालन-पोषण और समाजीकरण के इर्द-गिर्द घूमते हैं; दूसरा, यह विभाजन कितना कठोर है और तीसरा, बच्चे की देख-भाल की जिम्मेदारियों के बिना भी क्या महिलाओं के लिए ये कार्य जरूरी हैं।

इससे जुड़ा एक प्रश्न यह है कि कार्यक्षेत्र के इस पार्थक्य को कई समाजों में महिलाओं के अवमूल्यन से क्यों जोड़ा गया है? श्रम के लैंगिक विभाजन का एक महत्वपूर्ण पहलू दरअसल दायित्वों का यौन लिंग आधारित क्रमपरंपराकरण है, जिसमें महिलाओं द्वारा किए जाने वाले सामाजिक लिंग-विशिष्ट कार्यों को निम्न दर्जा और पुरुषों द्वारा किए जाने वाले कार्यों को ऊंचा दर्जा दिया जाता है।

ख) संसाधनों का असमान वितरण

श्रम के लैंगिक विभाजन के विश्लेषण के लिए जरूरी है कि पहले हम वितरण के संबंधों को देखें। अलग-अलग कार्यक्षेत्रों की उपस्थिति के चलते क्या हम सोच सकते हैं कि परिवार में उत्पाद का वितरण समान होता है? नहीं। परिवार में संसाधनों के असमान वितरण के बारे में पर्याप्त अध्ययन किए जा चुके हैं। महिलाओं को हमेशा ही पुरुषों से कम हिस्सा मिलता है। यहीं पर कार्यक्षेत्रों का सार्वजनिक और निजी में विभाजन एक नया महत्व ग्रहण करता है। महिलाएं परिवार की उत्पादक गतिविधियों में बड़ा हिस्सा लेती हैं लेकिन चूंकि परिवार को एक "निजी" कार्यक्षेत्र माना जाता है इसलिए उनके उत्पादक कार्य को कोई मान्यता नहीं मिलती।

ग) अवमूल्यन और अदृश्यता: एक वैचारिक पूर्वाग्रह

बेरेट (1988) ने पूंजीवादी समाज में पुरुषत्व-नारीत्व की वैचारिक-रचना और श्रम के लैंगिक विभाजन के बीच संबंध का विश्लेषण किया है। उन्होंने दिखाया कि पूंजीवाद में श्रम के लैंगिक विभाजन में महिलाओं को सबसे निचले दर्जे का काम दिया जाता है। उदाहरण के लिए दिहाड़ी मजदूरों के रूप में सबसे कम वेतन वाली नौकरियों में ही उन्हें ज़्यादा काम दिया जाता है, जैसे सेक्रेटरी, क्लर्क, निजी सेवा, कैटरिंग, ब्यूटी केयर, हैयरड्रेसिंग, बेबीसिटिंग इत्यादि जिनका फिर स्त्रीकरण कर दिया जाता है। उसके बाद आती है परिवार की विचारधारा, जो घर के कामकाज और बच्चों के लालन-पालन की सारी जिम्मेदारियां महिलाओं पर थोप देती है, जिसका उन्हें न तो कोई वेतन मिलता है और न ही उसका कोई मूल्य है। बच्चे की देखभाल और घर के कामकाज की यह जिम्मेदारी महिलाओं के लिए पूर्णकालिक नियमित रोजगार पाना असंभव बना देती है। इस तरह महिला श्रमशक्ति अनिवार्यत: अनौपचारिक या असंगठित क्षेत्र के दायरे में ही सिमट कर रह गई है। इसका मतलब है कि महिलाओं को कभी घर से कामधंधे करने पड़ते हैं तो कभी अंशकालिक अकुशल कामधंधों में लगा रहना पड़ता है जो सुरक्षा कानूनों की परिधि में नहीं आते हैं। जहां न तो कोई न्यूनतम मजदूरी है और न ही कोई सामाजिक सुरक्षा जैसे लाभ। इस तरह के कामधंधों की पहचान "स्त्रियोचित काम" के रूप में होने लगती है क्योंकि इन्हें सिर्फ महिलाएं ही करती हैं। सो बेहतर मजदूरी के आंदोलन में "समान काम के लिए समान मजदूरी" का नारा महिलाओं की दशा को पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं करता क्योंकि जो वैतनिक काम वे करती हैं उसकी परिभाषा पुरुषों के काम के समकक्ष नहीं है और न ही घर में जो काम-काज वे करती हैं उसका कोई आर्थिक मूल्य है।

घ) पुरुष और महिला के काम की गैरबराबरी

श्रम के लैंगिक विभाजन का वैचारिक अभिप्राय तब नजर आ जाता है जब महिलाओं और पुरुषों के काम की तथाकथित गैरबराबरी की आड़ में स्त्री-पुरुष को उनके श्रम के उत्पाद में असमान हिस्सा दिया जाता है। परिवार तंत्र में यह असमानता अक्सर अदृश्य रहती है, जिसके परिणाम स्वरूप महिलाओं का श्रम भी नजर नहीं आता है। एडहॉल्म, हैरिस और यंग (1977) का तर्क है कि पुरुष और स्त्री के बीच संबंध कई सामाजिक ढ़ाचों और प्रथाओं को निर्धारित करने के लिए अति महत्वपूर्ण हैं। अगर "महिलाओं को देखना" ही है, तो सामाजिक भूमिकाओं में महिलाओं की अनुपस्थिति को जानने के लिए हमें प्रथाओं और ढ़ाचों का विश्लेषण करना होगा। आर्थिक अधिकार, स्त्री और पुरुष की भूमिका इत्यादि से जुड़े वक्तव्यों के पीछे अक्सर ये प्रसंग ही छिपे रहते हैं। महिलाएं अपने आप अदृश्य नहीं होतीं। बल्कि उनके लोप की रचना समाज ही करता है और उसे पुन:प्रतिष्ठित भी समाज ही करता है। असल में महिलाओं को सार्वजनिक भूमिकाओं से बाहर रखना सामाजिक संगठन का एक गतिशील और दीर्घकालिक पहलू है (1977:126)।

चेहरा क्यों छुपाएँ? क्या आपकी भूमिका सामाजिक रूप से अपरिभाषित है?

ड.) श्रम के लैंगिक विभाजन से महिलाओं का अधिकारहरण

एक सामाजिक प्रक्रिया के बतौर श्रम के लैंगिक विभाजन के फलस्वरूप महिलाएं भी सामाजिक लिंग रचनाओं को अपने मन-मस्तिष्क पर बिठा लेती है या यह उनके सोच का हिस्सा बन जाता है जिसे हम आंतरिकीकरण कहते हैं। जैसे: महिलाओं की अपने बारे में धारणा, उत्पादन और वितरण में महिलाओं की स्थिति और सार्वजनिक सामाजिक सहभागिता से उनका बहिष्कार इन सबका आंतरिकीकरण हो जाता है। समाज के संस्थागत और वैचारिक तंत्रों के जरिए महिलाओं के श्रम और उनकी उपयोगिता का यह योजनाबद्ध अवमूल्यन पितृसत्ता के तंत्र को मजबूत बनाता है। पितृसत्ता का मतलब है भौतिक कार्यक्षेत्र (श्रम, कार्य वितरण, पारिश्रमिक और प्रजनन) और वैचारिक कार्यक्रम (यानी इनमें से हर गतिविधि में पुनर्निरुपण) में महिलाओं का दमन। ये सब समाज में महिलाओं को अधिकारहीन बनाते हैं।

जरा सोचिए 2

श्रम के विभाजन से आप क्या समझते हैं? लिंग के आधार पर श्रम विभाजन से महिलाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है?

1.4 सामाजिक लिंग-सोच और नातेदारी

समाज के सामाजिक और सांस्कृतिक ताने-बाने में नातेदारी की महत्वपूर्ण भूमिका है। यह संस्था महिलाओं की काम में सहभागिता, शैक्षिक उपलब्धि, शारीरिक गतिशीलता और उत्पादन और प्रजनन भूमिकाओं के स्वरूपों का निर्धारण करती है। नातेदारी की संरचना में भिन्नताएं भी सामाजिक-लिंग रचना को प्रभावित करती हैं।

1.4.1 जनजातीय समाज में सामाजिक-लिंग सोच

मानव समाज रूपांतरण की प्रकिया से गुजर कर आदिम संस्कृति से आधुनिक संस्कृति में बदले हैं। जनजातीय समाज में आदिम समाज के लक्षण दिखाई देते हैं। आइए अब देखें कि जनजातीय समाज में सामाजिक-लिंग सोच की रचना किस तरह होती है। सामाजिक-लिंग सोच की रचना संस्कृति-विशिष्ट होती है इसीलिए भूमिकाओं के लैंगिक विभाजन और सामाजिक-लिंग सोच रचना में भिन्नता उससे कहीं ज्यादा होती है जितनी कि हमें दिखाई देती है।

क) न्यू गिनी

मागरिट मीड (1935) पहले मानव-विज्ञानियों में से थीं, जिन्होंने अपने शोध कार्य को महिलाओं पर विशेष तौर से लिंग-सोच की सामाजिक-सांस्कृतिक रचना और लिंग आधारित भूमिकाओं में सांस्कृतिक परिवर्तिता के अध्ययन पर केन्द्रित किया था। "सेक्स एंड टेम्परामेंट इन थ्री प्रिमिटिव सोसायटीज" (तीन आदिम समाजों में काम और स्वभाव) नाम की किताब में वह बताती हैं कि तीन आदिम समाजों ने अपनी सामाजिक अभिवृत्तियों को किस तरह से लिंग-भेद के अनुसार स्वभाव विकसित करने की दिशा में ढाला है। मीड के शोध ने यह साबित कर दिखाया है कि समाज में नर-नारी की भूमिकाओं और व्यक्तित्वों को ढालने में संस्कृति की अपनी एक अलग भूमिका है।

न्यू गिनी के अपेक्षतया एक छोटे से क्षेत्र में मीड ने तीन जनजातियों का अध्ययन किया। ऐरापेश नामक जनजाति में दोनों लिंगों (यानी स्त्री-पुरुष) के व्यक्तित्व हमारी धारणाओं के अनुसार "स्त्रियोचित" कहे जाएंगे। क्योंकि दोनों में आज्ञापरायण, संकोच, विनम्र, भावुक जैसे गुण पाए जाते हैं। इस जनजाति में पुरुष और स्त्री दोनों लगभग बराबर हैं। इसके विपरीत, मुंडुगुमोर नामक जनजाति में दोनों लिंगों के व्यक्तित्व रूढ़िगत या "पुरुषोचित" में सामाजिक लिंगीकृत हैं। जैसे वे स्वाग्रही, आक्रामक, निर्भीक, साहसी, साधक, विषयनिष्ठ होते हैं। तीसरी जनजाति टेहमबुलि में साधारण पुरुषों के व्यक्तित्व में "स्त्रियोचित" गुण और साधारण नारी के व्यक्तित्व में "पुरुषोचित" गुण दिखाई देते हैं। मीड निष्कर्ष निकालती हैं कि इन भिन्नताओं का कारण सामाजिक अनुकूलन है जैविकी नहीं।

ख) ऑस्ट्रेलिया के आदिवासी

एक और मानव-विज्ञानी फिलिस कैबेरी (1939) ने ऑस्ट्रेलिया के किम्बरली आदिवासियों के बीच काम किया था। कैबेरी ने बताया है कि ये आदिवासी महिलाएं लगभग पूरी तरह से स्वतंत्र हैं। अपने दैनिक जीवन में पति-पत्नी एक दूसरे को सिखाते हैं, साथ-साथ काम करते हैं और कब काम करना है कब नहीं इसका सामूहिक निर्णय करते हैं। पुरुषों और महिलाओं के अपने अलग-अलग, अच्छी तरह से निर्दिष्ट कार्य हैं, मगर इनके समाज में महिलाओं और उनके पतियों के बीच एक समतावादी पारस्परिकता नजर आती है। फिलिस जोर देकर कहती हैं कि इन आदिवासी महिलाओं की अनिवार्य आर्थिक भूमिका और उससे जुड़े सत्ताधिकार के कारण ही अपने परिवार में इन्हें "विशेषाधिकार", "अच्छा व्यवहार और न्याय" मिलता है।

ग) उत्तरी अमेरिका की जूनी जनजाति

रूथ बेनेडिक्ट ने 1934 में अपनी पुस्तक पैटर्न्स ऑफ कल्चर में बरडेक (Berdache) का उल्लेख किया है। यह सामाजिक संस्था हमें स्पष्ट तरीके से बताती है कि सामाजिक-लिंग एक अलग श्रेणी है। उत्तरी अमेरिका के अधिकांश हिस्सों में बरडेक जैसी सामाजिक संस्था मौजूद थी जिसका मतलब है नर-मेहरी। यह नर-मेहररियां असल में शरीर से तो पुरुष थे मगर सामाजिक भूमिका वे नारियों की अपना लेते थे। ये नर-मेहरी किशोरास्था में या उसके बाद महिलाओं के कपड़े पहनने लगते थे और उनके काम-धंधे अपना लेते थे। कभी ये दूसरे पुरुषों से विवाह कर उनके साथ ही रहते थे तो कभी शारीरिक (यौन) कमजोरियों के चलते महिलाओं के तानों से बचने के लिए यह भूमिका अपना लेते

थे। महिलाओं के पेशों में बरडेक अव्वल रहते थे और कुछ बीमारियों का बड़ा अच्छा इलाज कर लेते थे। इसके बावजूद भी बरडेकों को समाज में असहजता से लिया जाता था। फिर भी उनका एक सामाजिक स्थान था। अधिकांश जनजातियां यह भी जानती थीं कि जो पुरुष महिलाओं के पेशे अपनाते थे वे उनमें अपनी सामर्थ्य और पहल के बूते ही आगे रहते थे।

जूनी जनजाति में पुरुष बरडेक क्यों बनते थे इसके कई कारण थे। बहरहाल कारण कुछ भी हों जो पुरुष महिलाओं का वेश धर लेते थे ऐसा कर लेने से समाज में उनका दरजा कम नहीं हो जाता था। बल्कि समाज के उत्पादक, कार्यशील सदस्यों के रूप में खुद को स्थापित करने के उन्हें भी उतने ही अवसर मिलते थे। उनकी प्रतिक्रिया, उनका व्यवहार समाज में मान्य था। अगर उनमें सहजात गुण थे, तो इसकी संभावना तलाश सकते थे। पर अगर वे कमजोर प्राणी थे तो इस कारण असफल नहीं होते थे, कि उन्होंने समाज की सामान्य व्यवस्था को उलटा है (बेनेडिक्ट, 1934:243-244)।

घ) उत्तरी अमेरिका के समाज

कुछ ऐसे समाज हैं जिनमें पुरुषों और महिलाओं की भूमिकाएं यूं तो उनके लिंग के अनुसार विभेदित और निर्धारित रहती हैं, मगर इन समाजों में इन भूमिकाओं की सीमाएं अलंघ्य नहीं हैं। सो महिला और पुरुष दोनों ही परंपरा तोड़कर वे काम कर लेते हैं जो दूसरे के कार्य क्षेत्र में है। इसका चिर परिचित उदाहरण उत्तर अमेरिकी इंडियन हैं। प्रसिद्ध मानव-विज्ञानी ह्वाइटहैड के अनुसार उत्तर अमेरिकी इंडियन समाजों में प्रत्येक व्यक्ति को व्यापक स्वतंत्रता हासिल है। यह स्वायत्तता सामाजिक-लिंग रद्दोबदल के प्रभावक्षेत्र तक जाती है, जिसमें व्यक्ति अपने लिए सामाजिक, सांस्कृतिक और सांस्कारिक भूमिकाएं खुद तय करते हैं। इसमें सामाजिक-लिंग रूपांतरण संबंधी निर्णय भी आते हैं। कुछ समाजों में, जैसे नैवाजो में, जिन महिलाओं और पुरुषों ने अपना सामाजिक-लिंग बदल लिया हो, उन्हें तीसरे लिंग की श्रेणी में रख दिया जाता है। दूसरी जन-जातियों में सामाजिक-लिंग रूपातरण के लिए महिलाओं और पुरुषों को अलग-अलग दर्जा दिया जाता है अब चाहे वे समलैंगिक हों, विषमलिंगकामी हों या उभयलिंगकामी हों। या चाहे वे सामाजिक-लिंग को हमेशा या कुछ समय के लिए लांघना चाहते हों। हालांकि यह अमूमन निजी इच्छा पर चलता था। मगर जिन पुरुषों को पुत्र प्राप्ति न हो वे अपनी बेटियों का पालन-पोषण बेटों की तरह करते थे। जिसका यही मतलब निकलता है कि ऐसे समाज भी हैं जहां सामाजिक-लिंग भूमिकाओं का जैविक लिंग से संबंध कोई जरूरी नहीं है (अल्बर्स, 1989:136)।

यूं तो उत्तरी अमेरिका के ग्रेट बेसिन के वासियों में सामाजिक-लिंग विभेद की मुख्य विशेषताएं थीं उनकी पेशागत भूमिकाएं और उत्पादनशील श्रम मगर परंपरागत रूप से पुरुष और महिलाओं द्वारा किए जाने वाले कई कार्य स्थिति की मांग के अनुसार सहजता से अदल-बदल लिए जाते थे। यहां तक कि महिला और पुरुष विपरीत लिंग दायित्वों में दक्षता हासिल कर सकते थे। इसके लिए उन्हें न तो कलंकित होना पड़ता था, न उन्हें नकारात्मक रूढ़ियों में जकड़ा जाता था और न ही उन्हें अपनी सामाजिक-लिंग पहचान खोनी पड़ती थी। बल्कि महिलाओं के अधिकार क्षेत्र में उपलब्धियों के लिए पुरुषों की प्रतिष्ठा बढ़ती थी तो वहीं महिलाओं को भी लड़ाइयों में आगे रहने के लिए सम्मान मिलता था (अल्बर्स, 1989:135)।

उधर मिन्ह हा ने भी गैबॉन के परंपरागत स्वतंत्र समाजों में महिलाओं की ऊंची हैसियत के बारे में जानकारी एकत्र की है जो कि अर्थ-प्रधान, औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं के बिल्कुल विपरीत हैं। "गुजर-बसर वाली निर्वाह अर्थव्यवस्था" में पुरुष अपनी आजीविका महिलाओं के सहयोग से उनका शोषण किए बिना कमाने के लिए विवश हो जाते हैं। मगर पूंजी प्रधान अर्थव्यवस्था में आराम और लाभ अर्जित करने की लालसा पुरुषों को महिलाओं का शोषण करने और उन्हें राजनीतिक और सामाजिक कार्यक्षेत्रों से निकाल बाहर करने के लिए प्रेरित करती है (मिन्ह हा, टी.टी. 1989:108)।

महिलाओं की भूमिका और स्थिति का यह वृतांत समकालीन समाज में श्रम के लैंगिक विभाजन और उससे जुड़े सत्ताधिकार व प्रभुता के प्रश्नों की हमारी समझ, जानकारी के बिल्कुल उलट है।

1.4.2 सामाजिक-लिंग सोच के स्वरूपों में भिन्नता: मातृसत्ता पर बहस

समाज-शास्त्रियों के एक समूह का मत है कि मातृसत्तात्मक समाजों में महिलाओं को ऊंचा स्थान हासिल था। मगर मानव सभ्यता की प्रगति के साथ मातृसत्तात्मक प्रणाली की जगह पितृसत्तात्मक प्रणाली ने ले ली है। कई विद्वानों ने आदिम समाजों से प्रेरणा लेकर मातृसत्ता पर छिड़ी बहस को आगे बढ़ाया है। आइए अब यह जानें कि मातृसत्ता को हटाया कैसे गया।

क) बैकोफेन का सिद्धांत

मातृसत्ता के प्रश्न पर रुचि सबसे पहले बैकोफेन की पुस्तक दास मतरेख ने जगाई थी। बैकोफेन ने नैतिक और ऐतिहासिक तथ्य के रूप में "मातृ अधिकार" की प्रधानता को स्थापित करने की कोशिश की थी, जो उनके अनुसार मां और बच्चे के बीच प्राकृतिक और जैविक संबंध से उपजी थी। उनके विचार से मां का "परिवार और राज्य" के ऊपर आधिपत्य असल में बाद में स्थापित हुआ था जिसका कारण मातृसत्तात्मक परिवार में हुए अनेक परिवर्तनों से महिलाओं में उपजा गहरा असंतोष था। इसका परिणाम यह रहा कि पृथक विवाह संस्था का निर्माण हुआ और संपत्ति और नामों का आदान-प्रदान मातृवंश के आधार पर हुआ। मातृ अधिकार की इस उन्नत अवस्था के बाद महिलाओं के नागरिक शासन का युग चला जिसे बैकोफेन ने "स्त्रीतंत्र" का नाम दिया। स्त्री के शासन को अंततः "दैवीय पिता सिद्धांत" ने उखाड़ फेंका। (बैमबर्जर, 1974)।

ख) एंजेल्स का सिद्धांत

मानव-विज्ञान की लीक से हटकर एंजेल्स की कृति ओरिजिन ऑव द फेमिली, प्राइवेट प्रापर्टी एंड द स्टेट (परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति) ने इस दिशा में काम को बढ़ाने के लिए मार्ग खोला। पुरुष प्रभुत्व या पितृसत्ता की जड़ों की खोज में लगे नारी-अधिकारवादी अनुसंधानकर्ताओं के सामने सवाल यह था कि क्या मातृसत्ता का अस्तित्व और पुरुषों द्वारा महिलाओं से सत्ताधिकार और राजनीतिक नियंत्रण को जबरन हथिया लेना भी एक संभावना हो सकती थी। एंजेल्स ने नातेदारी को राज्य या राजसत्ता से जोड़ा। उन्होंने यह साबित कर दिखाया कि राज्य की उत्पत्ति का आधार समाज में विवाह संबंधों (और मातृसत्ता) का पितृ संपत्ति और पितृसत्ता में संक्रमण है, जिसके चलते महिलाओं को अपने जनन अधिकारों और भौतिक संसाधनों पर अपने नियंत्रण को खोना पड़ा।

ग) उपनिवेशवाद का विवाह संबंध पर प्रभाव

फिर शोध आगे बताते हैं कि विभिन्न समाजों में विवाह संबंधों के चरित्र में उपनिवेशीकरण के तहत भारी बदलाव आया। इन बदलाओं को तब बेहतर समझा जा सकता है अगर नातेदारी के ढ़ाचों में होने वाले परिवर्तनों को देशज अर्थव्यवस्थाओं से जोड़कर देखा जाए। मगर यहां यह नहीं कहा जा सकता कि उपनिवेशवाद का महिलाओं पर पूरे विश्व में समान रूप से बुरा असर पड़ा था। "स्थानीय सामाजिक संरचनाओं की तरफ वंशानुक्रम निवास और श्रम के विभाजन के पहले से मौजूद पैटर्न ने यह तय किया कि उपनिवेश के प्रभाव से महिलाओं की स्थिति में इजाफा होगा या यह कायम रहेगी या कम होगी। उपनिवेशीकरण के संबंधों की तरफ आर्थिक विनियोजन या हस्तगत करने के नए रूप कह लें, महामारियों का होना और ईसाई मिश्नरियों के क्रियाकलापों का दबाव इन सबने अमेरिकी इंडियन महिलाओं की भूमिकाओं को बदलने में महती भूमिका निभाई" (अल्बर्स, पी.सी. 1989:140)। आम तौर पर अमेरिकी इंडियन समाजों से मिलने वाले प्रमाण यही बताते हैं कि जहां यूरोपीय बाजारों ने इन समाजों की उभरती अर्थ-व्यवस्थाओं के चरित्र को प्रभावित किया, वहीं पुरुष-प्रधान श्रम प्रक्रिया ने महिलाओं के श्रम पर अधिकार कर लिया। सो महिलाओं की स्थिति में भारी गिरावट आ

गई। मगर जो समाज यूरोपीय बाजारों पर कम आश्रित थे उनमें महिलाओं की हैसियत में कोई कमी नहीं आई। बल्कि कुछ मामलों में इसमें इजाफा ही हुआ। उत्तरी अमेरिका से दिए गए उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है।

1.4.3 दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया में सामाजिक-लिंग सोच और नातेदारी

दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया में नातेदारी की प्रणालियों के तुलनात्मक अध्ययन में लीला दुबे (1993) तर्क देती हैं कि नातेदारी की प्रणालियों और पारिवारिक ढ़ाचों में भिन्नताओं का रिश्ता उन तरीकों से है जिनमें सामाजिक-लिंग सोच विभिन्न समाजों में काम करता है। उनके अध्ययन का मुख्य उद्देश्य इस क्षेत्र में सामाजिक-लिंग रचना का मानचित्रण करना था। उनके अनुसार सामाजिक-लिंग जनित भूमिकाओं की संकल्पना और रचना इन्हीं संस्थाओं के दायरे में की जाती है। इसी रचना के जरिए स्त्री और पुरुष लिंग-जनित नागरिक बन जाते हैं और इस तरह एक सामाजिक तंत्र के रक्षा प्रबंध और पुनरुत्पादन में जुट जाते हैं (1993:2)। फिर सामाजिक-लिंग और नातेदारी की रचना साथ-साथ होती है और खास सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियों में उनकी अभिव्यक्ति भी साथ-साथ होती है। हम जब सांस्कृतिक, आर्थिक-राजनीतिक प्रणालियों की बात करते हैं तो सामाजिक-लिंग सोच और नातेदारी की धुरी सत्ताधिकार होता है। सत्ताधिकार की इसी गतिकी में महिलाएं हाशिए पर धकेल दी जाती हैं।

दुबे के अनुसार दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया में द्विपक्षी/मातृवंशीय समाजों में सामाजिक- लिंग रचना में मातृवंशीय, पतिस्थानिक समाजों के विपरीत गहरा भेद देखने को मिलता है। दुबे कहती हैं कि न मातृवंशीय समाज और न द्विपक्षी समाज एकरूप हैं। उन्होंने पारिवारिक विचारधाराओं की धारणाओं में मौजूद भेदों का अध्ययन किया, जो नातेदारी की दोनों प्रणालियों का मूलभूत अंग हैं। दक्षिण एशिया के पितृवंशीय और दक्षिण-पूर्व एशिया के द्विपक्षी और मातृवंशीय समाजों में नर और मादा बच्चों की स्थितियों में बुनियादी अंतर वंशानुक्रम समूहों, परिवार और नातेदारी की इकाइयों की उनकी सदस्यता की प्रकृति में है। दक्षिण एशिया के पितृवंशीय समाज में सामाजिक पहचान और संपत्ति दोनों ही पिता से मिलते हैं, जिसमें बेटा तो उसके नातेदारी समूह का स्थायी सदस्य है मगर बेटी सिर्फ एक अस्थायी अतिथि है। इसलिए पितृसत्ता और अधिकार का केन्द्र भी पिता ही है। उधर दक्षिण-पूर्व एशिया के द्विपक्षी-मातृवंशी समाजों में बच्चे को माता-पिता दोनों से बराबर जुड़ा माना जाता है जिसमें मां की जैविक भूमिका को प्रमुखता दी जाती है। इसके साथ-साथ वैवाहिक घरवास संबंधी व्यवस्थाएं काफी लचीली रहती हैं जो कि खासकर दक्षिण एशिया के मातृवंशीय समाजों में बिल्कुल ही आदेशात्मक हैं।

नारी लैंगिकता के प्रबंध और नियंत्रण पर पितृवंशीय समाज भारी सामाजिक निवेश करते हैं। अनब्याही या कुंवारी लड़कियों की "रक्षा" की जिम्मेदारी रिश्तेदार की होती है, जो उन्हें अपने अधीन महिलाओं पर पूर्ण अधिकार जमाने का हक देती है। इन स्थितियों में सामाजिक लिंग (जेंडर) की रचना इस तरह होती है कि उसमें नर रक्षक बलवान, पुंसत्व से भरपूर और अधिकारसंपन्न होता है तो नारी "झुकी आंखों और घटते शरीर" वाली होती है। महिलाओं पर निजी पारिवारिक नियंत्रण रखने के अलावा पितृवंशीय समाज यह सुनिश्चित करते हैं कि महिलाएं लिंग सोच की मौजूदा विचारधाराओं के अनुसार चलें। जिसे हम "कोरपोरेट कंट्रोल" या निगमित नियंत्रण के नाम से बेहतर समझते हैं, जिसमें महिलाओं को उनके समूचे गांव, जाति या समुदाय द्वारा नियंत्रित किया जाता है।

दक्षिण-पूर्व एशिया के दूसरे समाजों की विशेषता है उनका सापेक्ष समतावाद। दुबे के अनुसार इस समतावाद की उपस्थिति का संबंध क्षेत्र के सामाजिक गठन के तत्वों से है जो इस प्रकार है: द्विपक्षी नातेदारी जिसमें मातृवंश और पत्नी-स्थानिकता को महत्ता दी जाती है, परिवारों के गठन में लचीलापन, परिवार की निरंतरता को बनाए रखने का दबाव न होना, बेटों और बेटियों को समान उत्तराधिकार, महिला-पुरुष दोनों को संसाधनों का उपयोग करने की स्वतंत्रता, नातेदारों और

विवाह-संबंधियों में गैरसत्तावादी रिश्ता और अंत में, तलाक की स्थिति में बच्चे का मां के साथ रहना, जिसे पूरी सांस्कृतिक मान्यता मिली हुई है।

मगर दुबे अंत में दक्षिण-पूर्व एशिया के समाज में द्विपक्षीयता और पुरुष प्रभुत्व के सिद्धांत के बीच टकराव के बारे में आगाह करती हैं। यह संभवतः इसलिए है कि दक्षिण एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया दोनों के समाजों के पितृवंशीय और द्विपक्षी सिद्धांतों में एक समानता है। वह है विषमलिंगाकामुकता का सिद्धांत और उससे जुड़ी यह मान्यता कि जैविक लिंग और सामाजिक रूप से रचित लिंग समान हैं, जिसमें समान काम रुचियों के लिए कोई गुंजाइश नहीं हैं।

अनुभव से सीखें 1

- यह पता लगाने की कोशिश करें कि आपके परिवार का वंशानुक्रम किस तरह चल रहा है। क्या यह आपके मोहल्ले के अन्य परिवारों के वंशानुक्रम की तरह है?
- अपने परिवार के हर सदस्य के मुख्य-मुख्य कामों की सूची बनाइए जो वे रोजाना करते हैं।
- पता लगाइए कि क्या श्रम के इस विभाजन में सामाजिक-लिंग भूमिका को रूढ़िबद्ध किया गया है। क्या यह आपके परिवार के वंशानुक्रम, नातेदारी या जाति से जुड़ा है?

1.5 सामाजिक लिंग-सोच (जेंडर) की रचना और जाति

जाति की उत्पत्ति को लेकर कई धारणाएं, कई सिद्धांत प्रचलित हैं। आइए इनमें से कुछ सिद्धांतों और सामाजिक लिंग सोच की रचना से उनके संबंध, यदि कोई हो, का विश्लेषण करें।

कुछ सिद्धांत जाति की उत्पत्ति को नस्ल में ढूंढते हैं, तो कुछ इसकी उत्पत्ति को पेशागत विशेषज्ञता की परिपाटी के आरंभ से जोड़ते हैं। मगर इनमें से कोई भी जाति या वर्ण व्यवस्था को राजनीतिक रूप से सचेत या लिंग-सोच की प्रक्रिया के नजरिए से नहीं देखता। फिर ये सिद्धांत जाति समाज के पूरे इतिहास में सत्ताधिकार, प्रभुत्व और वर्चस्व के मुद्दों को भी संबोधित नहीं करते।

कोई भी प्रयास तभी मान्य होगा जब वह इसके इतिहास का विश्लेषण करे। यह उन परिस्थितियों को जानने में भी सहायक होगा जिनके चलते जाति-पूर्व समाज का जाति समाज में कायांतरण हुआ। इससे इस कायांतरण की विभिन्न ऐतिहासिक और क्षेत्रीय घटनाओं का भी पता चलेगा। भारतीय जब भी जाति का विश्लेषण करते हैं तो वह राजनीति से प्रेरित रहता है। यह दो दृष्टिकोणों में से किसी एक को सचेतन रूप से चुनता है या उसके साथ जुड़ जाता है:

क) यथास्थिति को बनाए रखने के लिए यह उन लोगों (या जातियों) के हाथ में ही सत्ता

केन्द्रित रखे जाने की पैरवी करता है जो इसे पहले से भोग रहे हैं, या ख) भारतीय परंपरा की मीमांसा करते हुए यथास्थिति से आलोचनात्मक संघर्ष में जुट जाता है। वर्ण व्यवस्था की और भारतीय परंपरा की सबसे कटु आमूल परिवर्तनवादी मीमांसा बुद्धिजीवियों, राजनीतिक गुटों, दलित संगठनों और ब्राहमणवाद-विरोधी आंदोलनों की तरफ से आई जो इन समूहों के जीवन अनुभवों और विश्वदर्शन से उपजी है। ये मामांसाएं जाति को उन वर्गों या जातियों की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक यथार्थ में दृढ़ता से पुनर्केंद्रित करती हैं जिनके श्रम और लैंगिकता को जाति समाज के वर्चस्ववादी समूहों यानी शक्तिशाली जातियों द्वारा हड़पे जाने या उस पर अधिकार जमाए रहने की परिपाटी चली आ रही है।

जाति को समझने में सामाजिक-लिंग सोच कहां खड़ा होता है? जाति के लिंगीकरण का सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र लैंगिकता है। नारी की लैंगिकता को नियमित करने की इच्छा के चलते श्रीलंका और

भारत के जाति समाजों में नारी-पवित्रता एक भारी सांस्कारिक या अनुष्ठानिक पूर्वाग्रह बन गया है। ज़ाहिर है नर लैंगिकता को इसी तरह अनुष्ठानिक नहीं बनाया जाता है। आइए कुछ अनुष्ठानों का विश्लेषण करें।

1.5.1 धार्मिक अनुष्ठान और सामाजिक-लिंग सोच की रचना

अलग-अलग समाजों में प्रचलित कर्मकांड या धार्मिक रस्में हमें सामाजिक लिंग-सोच की रचना के बारे में काफी कुछ बताती हैं। उदाहरण के लिए यलमां (1963) कांदयान सिंहलियों में प्रचलित दो महत्वपूर्ण रस्मों के बारे में बताती हैं।

(i) इस समाज के बच्चों के लिए सबसे महत्वपूर्ण कर्मकांडों में जो सिर्फ सामाजिक-लिंग विभेदित हैं, लड़कियों के यौवन की दहलीज में पांव रखने पर उनके कान छेदने की रस्म है और (ii) दूसरी और सबसे महत्वपूर्ण रस्म पुरुष यौवनारंभ पर की जाने वाली रस्म है।

किसी लड़की को जब पहली बार मासिक धर्म होता है तो इसका पता चलते ही दो काम किए जाते हैं। पहले मासिक धर्म के आरंभ का सही-सही समय नोट किया जाता है और फिर लड़की को एक कोठरी में अकेले बंद कर दिया जाता है। लड़की का घनिष्ठ पुरुष संबंधी अब किसी ज्योतिषी के पास जाता है जो लड़की के लिए नई जनम-पत्री बनाता है। लड़कों के लिए इसके विपरीत सिर्फ एक ही जनभ-पत्री होती है जो कि उनके जन्म पर बनाई जाती है। "रजो धर्म" में लड़की को अहाते में एक कोठरी में अकेला रखा जाना चाहिए (जिसमें कोई खिड़की न हो)। दरवाजा बंद हो। कहा जाता है कि लड़की को बड़ा खतरा रहता है। यह पार्थक्य अंशत: उसे बुरी ताकतों और शैतानों से बचाने के लिए किया जाता है जिसकी ओर वे इस दौरान आकर्षित होती हैं। और अंशत: उसके छूत को फैलने से रोकने के लिए यह पार्थक्य किया जाता है। पहले रजोधर्म के बाद लड़की के शुद्धीकरण के लिए बड़े धार्मिक अनुष्ठान किए जाते हैं (यलमा, एन. 1963 : 25)। यलमां ने गांव वासियों से पूछा कि आखिर लड़कियों के लिए ऐसी विस्तृत रस्म क्यों की जाती है तो उनका उत्तर जितना स्त्री उर्वरता से जुड़ा है उससे ज्यादा सम्मान या प्रतिष्ठा से जुड़ा है। वे कहते हैं:

1) यह नारी के गर्भ की प्रजननक्षमता की रक्षा करता है।
2) यह जरूरी है क्योंकि पुरुष की मर्यादा और प्रतिष्ठा उनकी औरतों से ही बची और अक्षुण रहती है।

1.5.2 विवाह, लैंगिकता और प्रजनन का नियमन

ऐसी तमाम रस्मों के साथ-साथ जाति समाज प्राय: अनुलोम विवाह के जरिए नारी लैंगिकता को नियमित करते हैं। इसमें महिलाएं सिर्फ अपनी जाति या ऊंची जाति के पुरुषों के साथ ही जीवन बिता सकती हैं। उन पुरुषों से वे विवाह कर ही नहीं सकती हैं, जिनकी जाति हैसियत उनसे कम हो। इसकी वजह साफ है। प्रजनन अधिकार और प्रजनन को जाति समाज इन्द्रियविषयक या महज वस्तु बनाकर रख देता है। प्रभावी जातियों में महिलाओं को सिर्फ नर वीर्य को ग्रहण करने वाला पात्र भर समझा जाता है। इस पात्र (यानी स्त्री के गर्भ) की पवित्रता संतान की पवित्रता को सुनिश्चित करती है, जिससे पितृत्व के बारे में सारी शंकाएं दूर हो जाती हैं। फिर समाज के भौतिक संसाधनों, परिसंपत्तियों पर जिन जातियों के हित सबसे ज्यादा टिके होते हैं उनमें स्त्री लैंगिकता पर नियंत्रण और दिलचस्पी भी उतनी ही ज्यादा होती है।

जाति पर जो भी अध्ययन किया गया हो उसमें अक्सर विवाह तंत्र, सगोत्र-विवाह, विजातीय विवाह के बारे में बात की जाती है जो इस व्यवस्था को जीवित रखने के लिए महत्वपूर्ण हैं। पुरुष इस व्यवस्था को महिलाओं के आदान-प्रदान या उन पर नियंत्रण से नियमित करते हैं। लर्नर के अनुसार विवाह में परिवार की स्त्रियों को अदलने-बदलने का परंपरागत अधिकार पुरुष सदस्यों को पितृसत्ता के अस्तित्व में आने से पहले ही हासिल हो चुका था और इसी ने परिवार के विकास के लिए परिस्थितियां पैदा कीं। मगर भारत में निजी संपत्ति और

जाति स्तरीकरण के विकास के चलते इस पारंपरिक अधिकार से आर्थिक आयाम आ जुड़ा।

इसीलिए विवाह के माध्यम से संबंधों को मजबूत बनाने के पीछे मुख्यत: परिवार की समृद्धि को बढ़ाने का विचार काम करता था जो आज भी करता है। महिलाएं मुत पारिवारिक श्रमदान कर महत्वपूर्ण आर्थिक भूमिका अदा करने के साथ-साथ प्रजनन और शिशु के पालन-पोषण संबंधी दायित्व निभाती हैं। लर्नर का तर्क है कि पितृसत्ता में महिलाओं के बजाए उनकी यौन और जननात्मक सेवाओं को ही महत्व दिया गया (लर्नर, जी. 1986)।

1.5.3 सामाजिक लिंग सोच और रचित संबंध

यह स्पष्ट है कि जाति समाज में सामाजिक संबंधों को बनाने में सामाजिक लिंग-सोच की महत्वपूर्ण भूमिका है। अगर हम आज के जाति समाज की वस्तुगत कार्यप्रणाली को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि संबंध, निगमित नियंत्रण की कार्यप्रणाली के साथ-साथ गतिशीलता, वेशभूषा और आचार संहिताएं किस तरह से लिंगकृत हैं। किसी खास जाति और विभिन्न जातियों में महिलाओं और पुरुषों के बीच संबंधों का संचालन कई तरह के नियंत्रणों से किया जाता है जो आदेशात्मक विवाह नियमों का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। जैसाकि हम जानते ही हैं, विवाह के मामले में अधिकार और निर्णय सामाजिक-लिंग द्वारा निर्धारित होते हैं। ठीक यही दहेज जैसे लेन देनों में होता है। फिर सामाजिक-लिंग और जातिगत आदेशों का पालन हिंसा के संस्थागत प्रयोग द्वारा भी सुनिश्चित किया जाता है। यही निगमित नियंत्रण का सार है, जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।

पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय जाति समाज के विवाह-बाज़ार में महिलाओं को महज भोग की वस्तु बनाया जाना असल में महिलाओं के लिए आचरण के नियम बनाए जाने और उनकी गतिशीलता पर अंकुश लगाने, संपत्ति और उत्तराधिकार के मामलों में महिलाओं को अधिकारहीन बनाने और स्थानीय राजनीतिक और निर्णयकारी निकायों में उनकी अनुपस्थिति से जुड़ा है। जाति समाज में सामाजिक-लिंग सोच की रचना करने वाली यह समूची जटिल प्रणाली ऐसे समाजों में महिलाओं की स्थिति में आमूल अवमूल्यन करती है।

पंचायत की बैठक में दलित महिला न्याय के लिए निवेदन करती हुई :
क्या जाति समाज इसकी परवाह करता है?
सौजन्य : देवल के. सिंहराय, इन्नू, नई दिल्ली

अगली इकाई में हम इस मुद्दे पर फिर से चर्चा करेंगे।

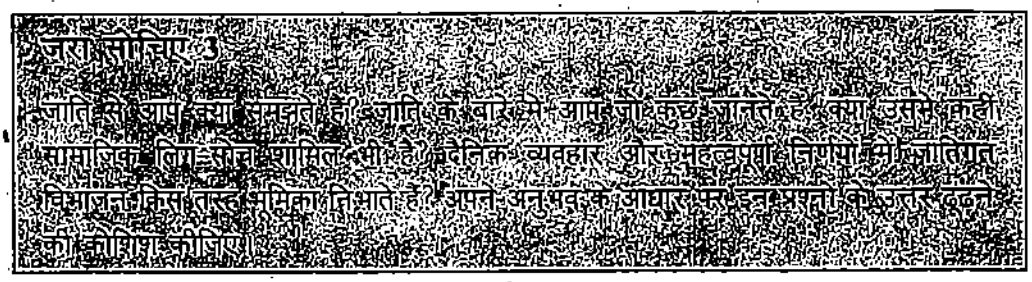

1.6 सामाजिक लिंग-सोच की रचना: विश्ववादी दृष्टिकोण

सामाजिक लिंग-सोच (जेंडर) की रचना एक सामाजिक प्रक्रिया है। मगर क्या इसका कोई विश्वजनीन पैटर्न है? क्या यह सभी मानव समाजों के लिए लागू होती है? नारी अधिकारवादी सिद्धांत में इसको लेकर मतभेद हैं। कुछ सिद्धांतकार इसमें पाई जाने वाली भिन्नताओं को इसके विश्वव्यापी पैटर्न से ही जोड़कर देखते हैं। तो दूसरे हर समाज या संस्कृति को अलग-अलग देखना पसंद करते हैं। उनके अनुसार सामाजिक लिंग-सोच रचना का कोई विश्वव्यापी पैटर्न नहीं है। आइए इन मतभेदों से उठे सवालों की जांच पड़ताल करें।

क) नातेदारी का रूपांतरण और राज्य के ढांचे का उदय

वर्ष 1974 में रोजाल्डो और लैम्फीयर के संग्रह वूमन, कल्चर एंड सोसायटी (नारी, संस्कृति और समाज) में दृढ़ता से यह कहा गया कि विश्व में ऐसा कोई भी समाज मौजूद नहीं जो पूर्णतः लिंग-समतावादी हो। इसमें पुरुष प्रभुत्व पर एक विश्ववादी सिद्धांत रखा गया। मगर विद्वानों का मत था कि मानव समाजों के राज्य-हीन होने या राज्यपूर्व अवस्था से राज्य अवस्था में संक्रमण के साथ ही पुरुष प्रधानता ने व्यापक रूप ग्रहण किया। आदिम समाजों में राजनीतिक ढांचे का उदय नातेदारी के आधारों से ही हुआ जिनसे राज्य पूर्व-समाजों का संचालन होता था। नातेदारी के इन्हीं आधारों के भीतर से ही इन उदीयमान राजनीतिक ढांचों को विरोध का सामना करना पड़ा था। राइटर (1977) कहती हैं कि "राज्यपूर्व सामाजों में सामाजिक पुनरुत्पादन पूरी तरह से नातेदारी के द्वारा ही संचालित होता था। धीरे-धीरे राज्यों का जन्म हुआ तो नातेदारी के ढांचों का मौजूदा स्वरूप बिखर गया और उनका कायांतरण ज्यादा शक्तिशाली, राजनीतिकृत अधिकार-क्षेत्रों के अस्तित्व और उसकी वैधता का उत्तरदायित्व संभालने के लिए हुआ। इस प्रक्रिया में समग्र सामाजिक रिश्तों की अभिव्यक्ति और अनुभव नातेदारी के सांगठनिक स्वरूपों के जरिए होना बंद हो गया, जिनमें गैर-अभिजात्य या साधारण जन समूह रहते आए थे।" राइटर आगे कहती हैं कि "राज्य के ढांचे के उदय के साथ नातेदारी पर आधारित स्वरूपों वाले संगठनों को क्षेत्रीय और वर्ग-विशिष्ट राज्यव्यवस्थाओं के पक्ष में काटा-छांटा गया, उनकी वैधता और स्वायत्तता छीन ली गई" (राइटर, आर.आर. 1977:107)। राइटर तर्क देती हैं कि राजसत्ता के ढांचों के उदय के चलते नातेदारी के साथ-साथ महिलाओं को भी पराधीन बना दिया गया। इस तर्क को आगे बढ़ाते हुए ऑर्टनर (1974) कहती हैं कि राज्य द्वारा आयोजित प्रणालियों में विवाह समस्तरीय लेन-देन से एक बिल्कुल ही विषम-स्तरीय लेन-देन में परिवर्तित हो सकता है। इस दशा में अभिजात्य महिलाएं प्रणाली के शीर्ष पर जा विराजमान हो जाती हैं। विवाह प्रणाली के इन संरचनात्मक गुणों को वह उन विचारधाराओं से जोड़कर देखती हैं, जिनकी शर्त नारी पवित्रता और उनकी रक्षा है। उनका यह कथन राज्य द्वारा आयोजित प्रणालियों पर आधारित है। ऑर्टनर कहती हैं कि महिलाओं की दूसरे दर्जे की या गौण हैसियत एक "वास्तविक विश्वव्यापी और सार्व-सांस्कृतिक सच्चाई है"। राज्य-पूर्व और राज्य द्वारा आयोजित प्रणालियों में भेद इस विश्वव्यापी वास्तविकता के तहत विद्यमान तरह-तरह की सांस्कृतिक विशिष्टताओं को संबोधित करते हैं (ऑर्टनर, 1974:72)।

ख) नारी-प्रकृति व पुरुष-संस्कृति

ऑर्टनर के अनुसार महिलाओं की दूसरे दर्जे की हैसियत के कारण इस सिद्धांत में ढूंढे जा सकते हैं, जिसमें नारी को प्रकृति के साथ देखा या सांकेतिक रूप से जोड़ा जाता है। इसके विपरीत पुरुषों को संस्कृति के साथ जोड़ा जाता है। चूंकि संस्कृति का उद्यम हमेशा से प्रकृति को वश में करना और उस पर विजय प्राप्त करना रहा है, और चूंकि महिलाओं को भी प्रकृति का ही हिस्सा समझा गया है इसीलिए उनको पराधीन बनाना और उनका दमन करना संस्कृति के लिए "प्राकृतिक" या स्वाभाविक है। इसलिए पुरुषों के बनिस्बत महिलाओं को प्रकृति के ज्यादा निकट माना जाता है। प्रकृति और संस्कृति की श्रेणियां संकल्पनात्मक हैं और कुछ मामलों में उन्हें एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। ऑर्टनर यह सिद्धांत आगे रखती हैं कि नारी को आम तौर पर ऐसी चीज़ से जोड़कर देखा जाता है और उसका प्रतीक माना जाता है, जिसे हर संस्कृति हीन या तुच्छ समझती है, जिसे हर संस्कृति सृष्टि की सबसे निचली श्रेणी में रखती है। "प्रकृति" परिभाषा के इस दायरे में बिल्कुल फिट बैठती है। वह आगे कहती हैं कि खुद यह संस्कृति अर्थपूर्ण स्वरूप वाली प्रणालियों के सृजन और उन्हें जीवित रखने की प्रक्रिया में जुटी रहती है। मानवता इसी के जरिए प्राकृतिक अस्तित्व से आगे निकल जाती है या उस पर विजय पा लेती है। इस तरह संस्कृति को मोटे तौर पर हम मानव-चेतना की धारणा या उसके उत्पादों (यानी विचार और प्रौद्योगिक प्रणालियों) से जोड़ सकते हैं जिनके बलबूते मानवता प्रकृति को अपने वश में करने का प्रयास करती है (ऑर्टनर, 1990:36)। यहां पर प्रकृति ही नारी है, जो यंत्र-तंत्र-सर्वत्र संस्कृति यानी पुरुष के अधीन हैं।

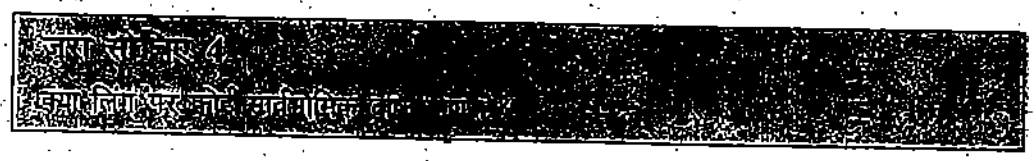

1.7 सारांश

इस इकाई में आपको यह बताने का प्रयास किया गया है कि सामाजिक प्रचलन सामाजिक रचना से जुड़े है और ये रचनाएं समाज के कुछ खास मूल्यों, आदर्शों, परंपराओं और रीति-रिवाजों के अनुसार विकसित होती हैं और इन्हें व्यवहार में लाया जाता है। ये रचनाएं हर समाज के सत्ताधिकार संबंधों से जुड़ी हैं और ये अक्सर उसके प्रभावी जनसमूहों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हितों का साधन करती हैं। सामाजिक-लिंग रचना की प्रक्रियाओं ने नारी पर पुरुषों के पितृसत्तात्मक नियंत्रण को हावी बनने में मदद की है। चूंकि इस रचना की प्रक्रिया संस्कृति-विशिष्ट है, इसीलिए यह हर समाज के वैचारिक और संस्थागत व्यवस्थाओं में पैठी रहती है। आपने देखा कि किस तरह श्रम विभाजन, नातेदारी और जाति की संस्थाओं ने सामाजिक-लिंग रचना को वैधता का आधार दिया और नारी की दासता और पराधीनता की राह खोली। सामाजिक-लिंग रचना क्या एक विश्वव्यापी यथार्थ है? इस प्रश्न पर चली बहस के बारे में भी आपने इस इकाई में पढ़ा। हमें उम्मीद है कि सामाजिक-लिंग रचना की वैधता और उसकी निरंतरता की प्रक्रिया के आधार के बारे में कई तरह के प्रश्न आपके मन में भी उठे होंगे। मगर इन मुद्दों को गहराई से समझने के लिए आपको सामाजिक लिंग रचना के संस्थागत और वैचारिक आधार को जानना होगा। आगे की दो इकाइयों में हम इन्हीं पर चर्चा करेंगे।

1.8 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

द्विपक्षी : नर और नारी दोनों जनकों के जरिए वंशक्रम चलने की प्रणाली।

निगमित नियंत्रण : समाज के एक प्रभावी जनसमूह के चिरकालिक बंदोबस्तों के द्वारा एक

व्यक्ति या खास जनसमूह की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और जैविक पहचान को नियंत्रित करने की प्रक्रिया।

सगोत्र विवाह : अपने समूह के भीतर विवाह करने का रिवाज। जैसे एक जाति में होने वाले सजातीय विवाह जिसमें जाति समूह के हर सदस्य से अपनी जाति में ही विवाह करने की आशा की जाती है।

विजातीय विवाह : अपने जाति समूह से विवाह करने का रिवाज। इसमें विवाह अक्सर सिर्फ वशंज समूह से होता है। उदाहरण के लिए इसमें जाति समूह के सदस्यों से समान "गोत्र" में विवाह करने की आशा नहीं की जाती है।

नौकरी या रोजगार का स्त्रीलिंगीकरण : कम-वेतन, रूढ़िगत नौकरियों में महिलाओं का जमाव।

ढांचा : किसी सामाजिक प्रसंग को समझाने के लिए रखा जाने वाला एक सैद्धांतिक विश्वदर्शन।

विषमलिंगी : विपरीत यौनलिंगियों में विवाह।

अनुलोम विवाह : यह विवाह के नियम से जुड़ा है जिसमें निम्न जाति की महिला ऊंची जाति के पुरुष से विवाह करती है। इसमें निम्न उपजाति की महिला उसी जाति समूह में ऊंची उपजाति के पुरुष से भी विवाह कर सकती है।

मातृवंशीय : वंशक्रम को सिर्फ स्त्री के वंशक्रम से चिन्हित करने की प्रथा।

पतिस्थानिक : विवाहित युगल द्वारा पति के पारिवारिक घर में ही घर बसाने की प्रथा।

पैतृक संपत्ति : पिता की ओर से उत्तराधिकार में मिलने वाली संपत्ति।

निर्वाह अर्थव्यवस्था : उत्पादन की ऐसी प्रणाली जिसमें उत्पादक अपने घर की जरूरतों को पूरा करने के लिए उत्पादन करता है।

1.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

माइज; एम. 1986 *पेट्रियार्की एंड एक्यूमुलेशन ऑन ए वर्ल्ड स्केल*. न्यू जर्सी : जेड बुक्स लि.

संगारी, के., एस. वैद (संपा) 1989 *रिकास्टिंग हिस्ट्री*. नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन।

इकाई 2 सामाजिक-लिंग रचना का संस्थागत आधार

रूपरेखा

2.0 लक्ष्य और उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 सामाजिक संस्थाओं और उनके प्रकार्यों को समझना

- 2.2.1 सामाजिक संस्थाओं की भूमिका और उनका महत्व
- 2.2.2 सामाजिक लिंग विशिष्ट भूमिकाओं के लिए समाजीकरण
- 2.2.3 सामाजिक प्रथा के रूप में पितृसत्ता

2.3 परिवार में सामाजिक लिंग रचना

- 2.3.1 परिवार के प्रकार्य: क्या यह लिंग दमनकारी है?
- 2.3.2 पितृसत्तात्मक परिवार: नारी पराधीनता का आधार
- 2.3.3 परिवार की उत्पत्ति का इतिहास: प्राकृतिक व्यवस्था में परिवर्तन
- 2.3.4 श्रम का लैंगिक विभाजन और नारी को गृहिणी बनाया जाना
- 2.3.5 विषम लैंगिकता: नारी के लिए एक दमनकारी दशा

2.4 वर्ण व्यवस्था के अंदर सामाजिक-लिंग सोच रचना

- 2.4.1 अनुलोम और प्रतिलोम विवाह: महिलाओं का शोषण
- 2.4.2 पवित्रता और अपवित्रता की प्रथा: महिलाओं के लिए अभिप्राय
- 2.4.3 वर्ण व्यवस्था और महिलाओं की पराधीनता को बदलना

2.5 धर्म में सामाजिक लिंग-सोच रचना

- 2.5.1 नीति निर्माण में धर्म की भूमिका
- 2.5.2 धर्म से महिलाओं का विरोधाभासी संबंध

2.6 मीडिया में सामाजिक-लिंग सोच रचना

- 2.6.1 मीडिया सामग्री: महिलाओं का गलत चित्रण
- 2.6.2 दर्शकों के रूप में महिलाएं
- 2.6.3 मीडिया में महिलाओं को रोजगार

2.7 श्रम बाजार में सामाजिक लिंग-सोच रचना

- 2.7.1 महिला रोजगार के पैटर्न
- 2.7.2 लिंग विभेद: सामाजिक लिंग सोच रचना की उपज

2.8 राज्य और सामाजिक-लिंग सोच रचना

2.9 सारांश

2.10 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

2.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.0 लक्ष्य और उद्देश्य

इस खंड की पिछली इकाई में हमने सामाजिक रचना के अभिप्रायों और आयामों पर विस्तार से चर्चा की थी और यह बताने की कोशिश की थी कि समाज के विभिन्न सांस्कृतिक प्रणालियों के भीतर सामाजिक लिंग सोच की रचना होती है। संस्कृति-विशिष्ट प्रसंग के रूप में सामाजिक लिंग-रचना समाज के संस्थागत बंदोबस्तों और वैचारिक बुनियादों से होती है और ये ही इसे शाश्वत रूप देते हैं। इस इकाई में हम सामाजिक लिंग रचना के संस्थागत आधार के बारे में बताएंगे। आपके दिमाग में ये प्रश्न उठ सकते हैं कि सामाजिक संस्थाओं की भूमिका क्या है? उनकी प्रकृति और प्रकार्य क्या हैं? इन संस्थाओं के साथ सामाजिक-लिंग सोच की रचना के क्या बुनियादी संबंध हैं? समाज में कई संस्थाएं हैं जैसे परिवार, विवाह, नातेदारी, बाज़ार, धर्म, मीडिया, राज्य इत्यादि। इस इकाई में विशेष रूप से हम :

- विभिन्न सामाजिक संस्थाओं की भूमिका और प्रकार्यों का विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे;
- सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) की रचना में परिवार की भूमिका का विश्लेषण करेंगे;
- वर्ण व्यवस्था के सामाजिक-लिंग रचना से संबंधों के बारे में बताएंगे;
- सामाजिक-लिंग रचना में धर्म की भूमिका पर रोशनी डालेंगे;
- सामाजिक-लिंग रचना और उसे शाश्वत बनाने में मीडिया और श्रम बाजार की भूमिका का अध्ययन करेंगे; और
- सामाजिक-लिंग सोच की भूमिका के बारे में चर्चा करेंगे।

2.1 प्रस्तावना

सामाजिक संस्थाएं स्थायी बंदोबस्त हैं जिनके जरिए विभिन्न गतिविधियां चलाई जाती हैं और सामाजिक संबंध बनाए जाते हैं। समाज ने जो-जो कार्य करने हैं उनके संचालन के लिए विशिष्ट संस्थागत बंदोबस्त लिंग-निरपेक्ष नहीं होते। बल्कि कई संस्थाएं तो विभिन्न प्रथाओं के माध्यम से समाज में लिंग-आधारित असमानताओं को सिर्फ जन्म ही नहीं देतीं, उन्हें शाश्वत या चिरस्थायी भी बनाती हैं। इस इकाई में हमने इनमें से कुछ प्रथाओं को अपने अध्ययन के लिए चुना है।

यह इकाई सामाजिक संस्था की भूमिका पर संक्षिप्त चर्चा से शुरू होती है। इसके बाद यह समाज में लिंग-विषमता को जन्म देने और उन्हें शाश्वत बनाने में इन संस्थाओं की भूमिकाओं का गहराई से विश्लेषण करती है।

परिवार मानव सभ्यता की एक बुनियादी इकाई है। क्या परिवार के प्रकार्य लिंग-दमनकारी हैं? परिवार में महिलाओं की पराधीनता के आधार और प्रचलन क्या हैं? परिवार की उत्पत्ति के इतिहास, पितृसत्तात्मक परिवार की प्रगति और परिवार में श्रम विभाजन को ध्यान में रखते हुए यह इकाई इन प्रश्नों पर रोशनी डालती है।

एक और महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था जाति है। हमने इसमें खास तौर से विवाह नियमों और पवित्रता व अपवित्रता की प्रथा पर चर्चा की है जो भारतीय समाज में लिंग-विषमता के लिए जिम्मेवार हैं।

सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) की रचना में धर्म की महती भूमिका है। यह अपने अनुयायियों के नैतिक मूल्य व्यवस्था के स्वरूप को तय करता है जो अक्सर लिंग-पूर्वाग्रही होती है। इस इकाई में धर्म में महिलाओं की विरोधाभासी स्थिति का विवेचन किया गया है।

मीडिया, बाजार और राज्य हमारे समाज के आधुनिक और पंथ निरपेक्ष संस्थाएं हैं। मगर क्या ये संस्थाएं लिंग-निरपेक्ष हैं? इन संस्थाओं के लिंग-जनित नजरियों पर भी इस इकाई में चर्चा की गई है, जो उनके विभिन्न स्तरों पर प्रतिबिंबित होते हैं, विशेषकर मीडिया में महिलाओं के गलत चित्रण, श्रम बाजार में महिलाओं की उपेक्षा और शोषण और सामाजिक विकास नीतियों के कार्यान्वयन में राज्य क्रिया-प्रणाली की प्रभावहीनता के मामले में।

2.2 सामाजिक संस्थाओं और उनके प्रकार्यों को समझना

सामाजिक-लिंग (जेंडर) पहचान हमारे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। यह हमें भूमिका सीखने की प्रक्रिया के एक हिस्से के रूप में मिलती है। यह प्रक्रिया सभी संस्कृतियों में चलती है और इसे हम समाजीकरण कहते हैं। निर्धारित और विधिसम्मत कार्यों, भूमिकाओं, विश्वासों, मूल्यों, व्यवहार पैटर्नों, ज्ञान, कार्य दक्षता इत्यादि अर्जित करने, उनमें ढलने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है। इस प्रक्रिया के जरिए ही हर समाज और संस्कृति एक तरफ अपने विशिष्ट स्वरूपों को संचारित करती है, तो दूसरी तरफ यह व्यक्तियों के कार्य-व्यवहार को एक विशेष दिशा में ढालती है, जो मानव समाज की निरंतरता और रख-रखाव के अनुकूल हो। वास्तविकता में समाज सीमित दायरे में व्यवहार के विकास को तय करता है, जबकि मनुष्य के व्यवहार का दायरा काफी बड़ा होता है। मगर यह सब आखिर कैसे किया जाता है? यह समाज के संस्थागत बंदोबस्तों के जरिए किया जाता है। आइए जरा देखते हैं कि हमारा समाज किस प्रकार इस सीमा को प्रभावी बनाता है।

2.2.1 सामाजिक संस्थाओं की भूमिका और उनका महत्व

सामाजिक संस्थाएं किसी जन समूह के विशिष्ट व्यवहार पैटर्न को दर्शाती हैं, जिसके आधार पर हम उस जन समूह के व्यवहार का अमूमन अनुमान लगा सकते हैं। ये समूह कुछ खास लोगों के संग्रह हैं। किसी विशेष प्रयोजन की पूर्ति के लिए ये आपस में आ मिलते हैं। समाज के कार्यों या दायित्वों को अंजाम देने के लिए ये लोग सुलभ संसाधनों का उपयोग कर लक्षित उद्देश्यों के अनुसार क्रिया-कलाप करते हैं।

व्यक्तियों का जन्म समूहों में होता है और इन्हीं समूहों के अंदर उनकी पहचान बनती है। जनसमूह कई किस्म के हो सकते हैं जैसे नातेदारी, धार्मिक, जातिगत, क्षेत्रीय, शैक्षिक, राजनीतिक इत्यादि। स्वीकार्य व्यवहार के आंतरिकीकरण और आने वाली पीढ़ियों में उसके बार-बार संचारण से सामूहिक परस्पर व्यवहार और संबंधों को असल में एक व्यापकता मिल जाती है। यही व्यापकता उन्हें संस्थागत बनने या प्रतिष्ठित होने का अधिकार देती है। यही स्थापित रीतियां विभिन्न संस्थाओं जैसे परिवार, धर्म, जाति, जनजाति, राज्य, इत्यादि का आधार बनती हैं।

संस्थाएं निर्देश, सुझाव, आकांक्षा या उदाहरण के साथ साथ विपथगमन की स्थिति में सज़ा के जरिए व्यक्तियों के निजी संस्कृति-संक्रमण को प्रभावित करती हैं। इस तरह से वे सामाजिक प्रकार्यों की निरंतरता, उनकी आपूर्ति और पुनर्रचना को बनाए रखती हैं। इससे पहले कि हम यह चर्चा करें कि विशिष्ट संस्थाएं किस तरह से सामाजिक लिंग-रचना में योगदान करती हैं, आइए यह समझने का प्रयास करें कि आखिर किसी सामाजिक प्रणाली को दो लिंगों यानी पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की जरूरत भला क्यों पड़ती है।

2.2.2 सामाजिक लिंग विशिष्ट भूमिकाओं के लिए समाजीकरण

नर को पुल्लिंग और नारी को स्त्रीलिंग समझना साधारण सी बात है। मगर इस तरह सोचकर हम कुछ खास आनुवंशिक, जैविक, मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक लक्षणों को कुछ खास व्यवहार, सांस्कृतिक और परिवेश संबंधी लक्षणों के साथ मिलाने की भूल कर बैठते हैं।

किस कारण वे औरों से भिन्न हैं? समाजीकरण अथवा जैविक विशेषताओं से!

सौजन्य : देवल के. सिंहराय, इग्नू, नई दिल्ली

जैसा कि हम पुरुषों और महिलाओं के साथ रोजाना के पारस्परिक व्यवहार में देखते हैं, उन्हें जींस; गुणसूत्र और जननांग जैसे परिवर्ती ही निश्चित स्वरूप देते हैं। मगर बाहर से उन्हें लैंगिक स्वरूप उनके व्यवहार के विभिन्न पहलुओं से मिलता है। जैसे उनकी वेशभूषा, हावभाव, उनके मित्रों और संबंधियों के दायरे के समेत उनकी सामाजिक भूमिकाएं और वह खास काम जो वे करते हैं।

यौन लिंग और सामाजिक-लिंग के बीच एक सरल से भेद को बताना जरूरी है। जैसा कि पिछली इकाई में कहा गया है कि यौन लिंग प्राकृतिक और आनुवंशिक रूप से निर्धारित होने वाली पहचान है, मानव जाति में जिसके सिर्फ दो रूप हैं: नर और नारी। मगर सामाजिक-लिंग (जेंडर) एक ज्यादा जटिल पहचान है और पुरुषों और महिलाओं के लिए समुचित आचरण के बारे में संस्कृति-विशिष्ट विश्वासों का कार्यफलन है।

ज्यादातर संस्कृतियों में सामाजिक-लिंग के निस्संदेह दो ही रूप हैं–ये हैं दो (यौन) लैंगिक रूपों के अनुरूप व्यवहार के दो अलग-अलग पैटर्न। मगर संस्कृतियां सामाजिक लिंग (जेंडर) के गुणधर्मों को यौन लिंग की जैविक द्वैतता से नाना प्रकार से जोड़ती रही हैं। इसीलिए समाज और संस्कृतियां भूमिकाओं और सामाजिक रूढ़ियों को अलग-अलग तरीके से परिभाषित करती हैं। इन्हें एक साथ यौन लिंग/सामाजिक लिंग-भूमिका प्रणाली के रूप में समझा जाता है।

सामाजिक-लिंग भूमिका प्रणाली के कई रूप हैं, मगर इसके तीन बुनियादी आयाम हैं। ये हैं:

i) दोनों यौनलिंगों (नर-नारी) को विशेष व्यक्तित्व लक्षण सौंपना। ये लक्षण एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत होते हैं। इसीलिए ज्यादातर समाजों में पुरुषों को स्वतंत्र, स्वाग्रही, आक्रामक तो महिलाओं को पराश्रिता, सहनशील और विनम्र समझा जाता है।

ii) निश्चित और विशिष्ट क्रिया-कलापों, कार्यक्षेत्र या काम को यौन-लिंग के आधार पर सौंपा जाता है जिसके पीछे यह धारणा रहती है कि अमुक काम सामाजिक प्रणाली को बनाए रखने के लिए

अनिवार्य है। यहां यह ध्यान रखना जरूरी है कि अलग-अलग संस्कृतियों में नर और नारी को दिए जाने वाले क्रिया-कलाप भिन्न हो सकते हैं। मगर तो भी श्रम के लैंगिक विभाजन का दायरा व्यापक है। इसे "प्रकृतिसम्मत" व्यवस्था बताया जाता है।

iii) लिंग भूमिका प्रणाली का तीसरा पहलू है संस्कृतियों और समाजों द्वारा विशेष लक्षणों के दोनों समूहों, जिन्हें पुरुषोचित और स्त्रियोचित कहा जाता है, का विभेदी मूल्यांकन। पुरुषों से जुड़े संस्कृति प्रदत्त क्रिया-कलापों या विशेष-लक्षणों को महिलाओं से जुड़े लक्षणों से अधिक मान महत्व दिया जाता है।

कुल मिलाकर यह बंदोबस्त महिलाओं के बनिस्बत पुरुषों के पक्ष में अधिक जाता है। इसके फलस्वरूप महिलाओं के प्रति तरह-तरह के भेदभाव बरते जाते हैं, जिसे नारी अधिकारवादी पितृसत्ता कहते हैं। आइए यह समझने का प्रयास करें कि पितृसत्ता के क्या अभिप्राय हैं और समाज के सभी महत्वपूर्ण संस्थाओं के ढांचे और उनके कार्यों में पितृसत्ता किस तरह से छायी रहती है।

2.2.3 सामाजिक प्रथा के रूप में पितृसत्ता

पितृसत्ता की उत्पत्ति कुल पिता से हुई। यह ऐसा प्रभावी व्यक्ति था जिसका अधिकार और नियंत्रण महिलाओं, पुरुषों, बच्चों ओर नौकर-चाकरों वाले बड़े कुनुबों पर चलता था। पितृसत्ता का सीधा सा अर्थ एक ऐसे परिवार से है, जिसे पिता चलाता हो। नारी अधिकारवादियों ने इस पारिभाषिक शब्द की व्याख्या के दायरे को बढ़ाकर उसमें पुरुष प्रभुत्व और सामाजिक प्रणालियों और संबंधों में सत्ताधिकार के योजनाबद्ध प्रयोग को सम्मिलित किया है, जिसके जरिए महिलाओं को पराधीन बनाया जाता है। महिलाओं को इस पितृसत्ता का स्वाद तरह तरह से चखना पड़ता है। जैसे: भेदभाव, दमन, शोषण, उपेक्षा, अपमान या हिंसा। पितृसत्ता की इन सभी अभिव्यक्तियों की प्रभावी और सामूहिक थीम महिलाओं का नियंत्रण है। यह नियंत्रण महिलाओं की उत्पादकता या श्रम शक्ति, प्रजनन, लैंगिकता, गतिशीलता, संपत्ति और दूसरे भौतिक संसाधनों पर चलाया जाता है।

नारी अधिकारवादियों का मत है कि पितृसत्ता सिर्फ कुछ अभागी महिलाओं की दुर्दशा या कुछ क्रूर पुरुषों के व्यवहार पैटर्न की बात नहीं है। बल्कि इसे सामाजिक रचनाओं और प्रचलनों की एक प्रणाली के रूप में समझे जाने की जरूरत है। इसका यह तात्पर्य है कि कुछ सामाजिक रचनाओं, प्रचलनों और विशेष विचारधाराओं ने महिलाओं को अपने अधिकार में रखने, उनका दमन और शोषण करने में पुरुषों को समर्थ बनाया है और इन संस्थागत पैटर्नों को बनाए रखने के लिए महिलाएं मूक सहयोगी बन जाती हैं।

इस प्रकार नारी अधिकारवादियों की नज़र में महिलाओं की योजनाबद्ध और संस्थागत पराधीनता ही पितृसत्ता है। यह एक महत्वपूर्ण मत है। यह हमें लैंगिक विषमता की प्रणालियों को समझने में मदद करती है जिन्हें सिर्फ इसलिए गलत ढंग से प्रकृतिसम्मत, पूरक और प्रकार्यात्मक मान लिया गया है कि वे इतने सारे समाजों में इतने सारे ऐतिहासिक युगों से चली आ रही हैं।

पितृसत्ता की धारणा की इस व्यापक व्याख्या के बाद हमें अब यह समझना होगा कि यह किस तरह से संस्थाओं के जरिए सामाजिक-लिंग व्यवहार, विशेषाधिकारों और सामाजिक लिंग सीमाओं की रचना और उन्हें परिभाषित करती है। इसे और अच्छी तरह से समझने के लिए हम यहां परिवार संस्था के बारे में विस्तार से चर्चा करेंगे और उसके बाद जाति और वर्ग, धर्म, मीडिया और श्रम बाजार संस्थाओं पर चर्चा करेंगे।

जरा सोचिए 1

सामाजीकरण क्या सामाजिक-लिंग रचना में सहायक है? पितृसत्ता की सामाजिक प्रथा का अभिप्राय क्या महिलाओं का अधिकारहरण है? समाज में अपने अनुभवों के आधार पर इन प्रश्नों का उत्तर ढूंढने की कोशिश कीजिए।

2.3 परिवार में सामाजिक लिंग रचना

परिवार समाज की सबसे बुनियादी संस्था है, जिसे असल में समाज का लघुरूप माना जाता है। मगर यही परिवार सामाजिक लिंग-सोच रचना और भेदभाव की मुख्या स्थली है। चाहे संयुक्त रूप में हो या (केन्द्रीय/नाभिक) न्यूक्लीयर, इस संस्था की संरचना के आयाम आयु, रक्त संबंध या नातेदारी और सबसे ऊपर सामाजिक लिंग-सोच (जैंडर) हैं।

2.3.1 परिवार के प्रकार्य : क्या यह लिंग-दमनकारी है?

समाजविज्ञान के अनुसार परिवार एक प्रकार्यात्मक इकाई है जिसका संस्थागत उदेश्य इन महत्वपूर्ण प्रकार्यों को पूरा करना है:

क) यौन लिंग का नियमन और उसे एक निश्चित दिशा-मार्ग में ढालना, (ख) नई पीढ़ियों को परंपरागत ज्ञान और संस्कृति में ढालना, (ग) आर्थिक उत्पादन और इसके फल का वितरण, (घ) परिवारों को समुदायों और समाज से जोड़ने वाले नातेदारी के बड़े समूहों के बीच पारस्परिक संबंधों की स्थापना करना और उन्हें बनाए रखना; और (ड़) सबसे ऊपर उत्तराधिकार को कानूनी जामा पहनाना।

आम तौर पर यह माना जाता है कि परिवार ये सारे महत्वपूर्ण कार्य इसलिए कर पाता है कि हमारे समाजीकरण की प्रक्रिया मानव की स्वाभाविक स्वार्थभावना और निजता को दबा देती है। बल्कि इन पर परिवार के बीच परस्पर मिल-जुल कर रहने की भावनाएं हावी हो जाती हैं। हमारा परिवार दरअसल इन्हीं भावनाओं को हममें विकसित करता है और उन्हें बढ़ावा देता है। यह भी माना जाता है कि परिवार इस प्रक्रिया के जरिए अनुकूलनशील बनाए जाते हैं, जिसमें सभी काम और गतिविधियां मिलजुलकर की जाती हैं। इसमें परिवार के सदस्य सिर्फ कार्यभार को ही आपस में नहीं बांटते बल्कि उपभोग और उपयोगिता के सभी सामान भी बांटते हैं। यह मुख्यत: श्रम के लैंगिक विभाजन से हासिल होता है, जिसमें पुरुषों को दाता तो नारियों को परिचारिक की भूमिकाएं निभानी होती हैं।

इस तरह परिवार को हितों की सहपरोपकारिता, निजता की अनुपस्थिति, कार्यभार को उदारता से मिलजुल करने और उपयोगिता की वस्तुओं को बराबर बांटने की भावना, परस्परनिर्भरता और सुरक्षा का सूचक माना जाता है। मगर नारी अधिकारवादी इसे सिर्फ छलावा मानते हैं जो उन तमाम दमनकारी ढांचों की सच्चाई को ढक देता है। यही वे ढांचे हैं जो इस संस्था की सीमा को बनाए रखने और इसके बेरोकटोक संचालन को सुनिश्चित करते हैं।

2.3.2 पितृसत्तात्मक परिवार: नारी पराधीनता का आधार

नारी पराधीनता का आधार असल में परिवार में मौजूद भूमिकाओं और जिम्मेदारियों का विभाजन, संसाधनों का आबंटन और सत्ताधिकार का वितरण ये सब परिवार की तमाम प्रचलित धारणाओं को गलत साबित करते हैं। पितृसत्तात्मक परिवार लड़कियों के बजाए लड़कों, स्त्रियों के बजाए पुरुषों को अधिक मान, महत्व देता है। इसी आधार पर वह तय करता है कि दोनों लिंगों को कितने संसाधन सुलभ होंगे जैसे भोजन, शिक्षा, धन-संपत्ति, अवकाश और स्थान। शारीरिक और मानसिक कल्याण के लिए अनिवार्य संसाधनों की सुलभता में यह असमानता दो मोर्चों पर काम करती है। एक ओर यह नर और नारी के जीवन के लिए बिल्कुल भिन्न आधारशिला रखती है, तो दूसरी ओर यह दोनों सामाजिक-लिंगों को इस तरह ढालती है कि पुरुष तो निर्णायक और सत्ताधिकार का केन्द्र बन जाते हैं, मगर स्त्रियों को खुद अपने व्यक्तित्व और शरीर पर अपना कोई अधिकार नहीं रहता। यह अधिकारहीनता महिलाओं को इस तरह से प्रभावित करती है कि उनमें पार्थक्य, आत्म-सम्मान की कमी, आत्म-विश्वास की कमी, अन्यमनता, तटस्था, पराधीनता और मौन-सहमति जैसे गुण आ जाते हैं। निस्संदेह परिवार उन्हें बाहरी दुनिया में सक्रिय कई नकारात्मक कारकों से बचाता है मगर इसकी

उन्हें बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। यह उन्हें **भेदभाव, उत्पीड़न, शोषण और पारिवारिक हिंसा का** शिकार बनाता है।

भारतीय घर-परिवारों में महिलाओं की सहायक या गौण स्थिति के इन व्यापक पैटर्नों पर कई सूक्ष्म अध्ययनों ने रोशनी डाली है, जिनकी पुष्टि लिंग-आधारित जनसांख्यिक आंकड़ों पर संकलित मैक्रो (मोटे) डाटा से होती है। जैसे स्त्री-पुंजाति अनुपात, आयु संभाविता, जनसंख्या की आयु संरचना, मृत्यु दर, शिशु मृत्युदर और पैटर्न, विवाह के समय उम्र, प्रजननदर, साक्षरता, लड़कियों और लड़कों का स्कूल में नामांकन, स्कूल छोड़ने की दर, उच्च शिक्षा में सहभागिता, रोजगार, कार्य सहभागिता और बेरोजगारी। इनमें हर एक के मामले में महिलाएं अलाभकर स्थिति में हैं। एक खुशहाल, समरस, अनुकूलनशील, क्रियात्मक परिवार के मिथक को महिला अधिकारवादियों के नजरिए से देखने के बाद आइए, इसके मूल में स्थित संस्थागत बंदोबस्तों को देखें।

संस्थागत परिभाषा में इन असमानताओं को जानने, समझने के लिए हमें इन तीन बुनियादी धारणाओं को समझना होगा:

i) परिवार की ऐतिहासिक उत्पत्ति

ii) श्रम का लैंगिक विभाजन

iii) विषमलैंगिकता

2.3.3 परिवार की उत्पत्ति का इतिहास: प्राकृतिक व्यवस्था में परिवर्तन

न्यूक्लीयर या नाभिक परिवार की 'स्वाभाविकता' ऐसा आभास देती है कि यह मानव जाति के इतिहास पर्यन्त रही है और इसलिए सर्वत्र विद्यमान और सर्वशक्तिमान है। उन्नीसवीं सदी के मानव विज्ञानियों ने तुलनात्मक नृजातिविज्ञान को आधार बना कर इस मिथक को तोड़ दिया। कालांतर में एंजेल्स ने मोर्गन और बैकोफेन की नृजाति विज्ञानी व्याख्याओं के आधार पर (जिनके बारे में हम पिछली इकाई में चर्चा कर चुके हैं) महिलाओं की पराधीनता के कारणों को पितृसत्तात्मक परिवार के संस्थायन में ढूंढा। उन्होंने यह बताया कि यह निजी संपत्ति के विकास और वर्गों के उदय का परिणाम था। ऐंजेल्स के मतानुसार मानव संस्कृति के असभ्यता के चरण में भोजन जुटाने, शिकार करने जैसी गतिविधियों पर आधारित निर्वाह अर्थव्यवस्था में विशाल मातृवंशीय, पत्नी-स्थानिक साम्यवादी घर-परिवारों में स्त्रियों को उल्लेखनीय अधिकार प्राप्त थे। 'बर्बरता' के युग में खेती-बाड़ी और पशुपालन का विकास हुआ'। इन आर्थिक क्रिया-कलापों और पशुओं के झुंड और अनाज के संचय ने संपत्ति की धारणा को जन्म दिया। इन दोनों क्रिया-कलापों ने पुरुषों की आर्थिक महत्ता बढा दी, तो उनमें अपने लिए और अपनी संतानों के लिए नियंत्रण, सत्ताधिकर और संपत्ति को बनाए रखने की लालसा भी बढ़ी। इसके फलस्वरूप स्त्रियों का घरेलूकरण और उन्हें घर की चारदीवारी तक सीमित रखने का सिलसिला चल पड़ा। नारी लैंगिकता को नियमित और नियंत्रित किया जाने लगा और एकपत्नी विवाह और पितृसत्ता का जन्म हुआ। स्त्रीलिंग (या नारी जाति) की इस ऐतिहासिक पराजय के साथ मातृ-अधिकार का बोध, उसकी समझ भी दरकिनार कर दी गई। एंजेल्स की इस मीमांसा को हालांकि आज सीधा- सपाट, यांत्रिक, काल्पनिक और उनके युग के ज्ञान तक सीमित माना जा सकता है मगर यह हमें परिवार की ऐतिहासिक उत्पत्ति के बारे में बताती है। इससे हमें यह तर्कसंगत व्याख्या मिलती है कि ज्यादातर समाजों में लिंग भूमिकाएं संपत्ति के वारिसों को जन्म देने तक ही क्यों सिमटी हैं और महिलाओं के पारिवारिक श्रम को निजी सेवा से अधिक क्यों नहीं माना जाता है। परिवार जैसी संस्था पर एक ऐतिहासिक नजरिया देकर एंजेल्स ने इस मिथक को तोड़ा कि परिवार प्राकृतिक और ईश्वर की देन है। उन्होंने इसकी सामाजिक रचना की अनिवार्य प्रकृति की व्याख्या दी। यह सामाजिक रचना इस तरह से होती है कि यह कुछ खास निहित स्वार्थों की पूर्ति करती है। इस तरह यह हमें संस्था के रूप में परिवार के एक वैकल्पिक बंदोबस्त की संभावनाओं की ओर ले जाती है जो समता, समरसता के सिद्धांतों पर आधारित हो। आइए शेष दो धारणाओं को इसी रोशनी में जानने का प्रयास करते हैं।

2.3.4 श्रम का लैंगिक विभाजन और नारी को गृहिणी बनाया जाना

पुरातनपंथी हमेशा ही श्रम के लैंगिक विभाजन के पक्ष में तर्क देते हैं कि यह प्राकृतिक है, ईश्वर की देन है, पूरक है। प्रयोजनवाद के अनुसार मानव नस्ल की निरंतरता या उसके अस्तित्व के लिए यह अनिवार्य है। कई बार श्रम के लैंगिक विभाजन को 'प्रकृति सम्मत' ठहराने के लिए तर्क दिया जाता है कि यह युगों से चला आ रहा है। वहीं महिलाओं की जैविक दुर्बलता को ही पुरुषों के लिए 'कठिन' कार्यों और महिलाओं के लिए 'आसान' घरेलू काम-काजों के सामाजिक संस्थापन (संस्थागत बनने) का आधार बताया जाता है। कार्यों के 'कठिन' और 'आसान' में इस विभाजन के चलते ही महिलाओं के श्रम और कार्य को तुच्छ बनाया गया और अंततः उसका अवमूल्यन हुआ। इसने इस भ्रामक मिथक को फैलाया कि महिलाएं ऐसा काम नहीं कर सकतीं जिसमें कठोर शारीरिक श्रम की जरूरत पड़े। यह मिथक महिलाओं के वास्तविक जीवन के अनुभव को ही नकार देता है, जिन्हें कमर तोड़ कार्य करने पडते है, जिनमें रोजमर्रा के घरेलू कामकाजों और खेतों या कारखानों में उत्पादक श्रम करने के अलावा पानी और लकड़ी लाने और कोसों दूर तक सिर पर भारी बोझ लाद कर ले जाने जैसे काम भी शामिल हैं। सिर्फ मध्यम और उच्च वर्ग की मुट्ठी भर महिलाएं ही ऐशो आराम का जीवन जी रही हैं। यह मिथक बहुसंख्यक महिलाओं के दैनिक अनुभव पर परदा डाल देता है।

गृहणी एक, बोझ अनेक हैं

सौजन्य : अतुल यादव, नई दिल्ली

इसलिए श्रम के लैंगिक विभाजन से संपूरता की जो धारणा बनी वह अपने आप में मिथकीय है। बल्कि पुरुषों और महिलाओं के संबंधों में एक संस्थागत क्रम-परंपरा विद्यमान है, जिसके फलस्वरूप सामाजिक-लिंग जनित भूमिकाओं और अपेक्षाओं में विसंगति उत्पन्न होती है और पुरुषों द्वारा महिलाओं का शोषण होता है। यह धारणा प्रचलित है कि पुरुष और महिलाएं स्वयं विभिन्न कार्यों को आपस में बांट लेते हैं। मगर यह इस तथ्य को छिपा देती है कि जहां पुरुषों के कार्यों को प्रायः सही

मायने में पुरुषार्थ समझा जाता है और उन्हें सचेतन; तार्किक, नियोजित और उत्पादक माना जाता है, वहीं महिलाओं के घरेलू काम-काजों और बच्चों के पालन-पोषण जैसे कार्यों को उनकी कायिकी (यानी शरीरक्रियाविज्ञान) का ही विस्तार समझा जाता है। इसीलिए उनके कार्यों को कार्य का दर्जा नहीं दिया जाता है। यही कारण ही कि महिलाओं के कार्य को घरेलू काम-काज की संज्ञा देकर उसे निजी कार्य बना दिया गया है जिसे न तो कोई मान्यता दी जाती है, जिसका न ही कोई मेहनताना दिया जाता है। यही अपने आप में महिलाओं के पिछड़ेपन का संस्थागत आधार बन जाता है, जो महिलाओं की सेवाओं और उनके श्रम के उत्पादों को पुरुषों द्वारा हस्तगत कर लिए जाने के लिए महिलाओं को घर की चारदीवारी तक सीमित रखता है, जिससे उनका बाहरी व्यापार जगत से कोई संपर्क नहीं बनता। यह बात सिर्फ मध्यम और उच्च वर्ग की महिलाओं के लिए ही लागू नहीं होती जिन्हें आर्थिक गतिविधियों से बाहर रखा जाता है। बल्कि निम्न वर्ग की महिलाओं पर भी यही बात लागू होती है जो अपने आपको सामाजिक बोझ तले दबा और इस विचारधारा के संस्थागत द्वारा बाधित पाती हैं जिसके फलस्वरूप जिन्हें अनेक दायित्वों और दोहरे बोझों को, बिना कोई आदर पाए ढोना पड़ता है।

श्रम के लैंगिक विभाजन का ऐसा संस्थायन सामाजिक रचनाओं के आरंभ से विद्यमान रहा होगा। परंतु तब यह पूंजीवाद के अंतर्गत घरेलू कार्य और बाहरी कार्य के समकालीन द्विभाजन का पर्याय नहीं बना था। विख्यात समाजवादी नारी-अधिकारवादी मारिया माइस के अनुसार पूंजीवादपूर्व काल में परिवार समाज की बुनियादी आर्थिक इकाई थी, जो विभिन्न क्रिया-कलापों में लगा था। इन क्रिया-कलापों को मोटे तौर पर स्वाभाविक प्रकार्यों, भौतिक प्रकार्यों और आध्यात्मिक प्रकार्यों में बांटा जा सकता है। महिलाएं पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करती थीं और इन सभी क्रिया-कलापों में शामिल रहती थीं। हालांकि परिवार में आयु, यौन लिंग और पारिवारिक स्थिति के आधार पर और परिवार तथा माल उत्पादन जगत के बीच श्रम का विभाजन विद्यमान था। लेकिन महिलाओं के कार्य का अवमूल्यन घरेलू कार्य में नहीं हुआ था, बल्कि उनके कार्य को भावी पीढ़ियों के लिए अनिवार्य माना जाता था। पूंजीवादी उद्यम के उदय के बाद ही महिलाओं के घरेलू श्रम और केन्द्रित, बड़े नियमित उद्यमों के समाजीकृत श्रम के बीच विभाजन हुआ। घर से उत्पादनशील श्रम के हट जाने के बाद महिलाओं का घरेलू उत्पादन का अवमूल्यन घरेलू कार्य में हो गया। 'गृहिणीकरण' का दबाव 19वीं सदी के उत्तरार्ध और 20वीं सदी के पूर्वार्ध में चले श्रमिक आंदोलन का परिणाम था जिसने पुरुषों के कार्य को महिलाओं के कार्य से अलग करने वाले बढ़ते सीमांकन को संस्थागत रूप प्रदान किया। गृहिणीकरण यानी महिलाओं को गृहिणी बनाए जाने की यह मांग अपने आप में इस श्रमिक वर्ग के पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण का प्रतिबिंब थी जिसकी रचना औद्योगीकरण और औपनिवेशिक विस्तार ने की थी। इसी ने एक पुरुष पालनकर्ता (कमाने वाला) और पारिवारिक पारिश्रमिक की प्रद्धति को संभव बनाया। इसके दो परिणाम निकले–एक ओर पूंजीवाद ने घरेलू श्रम के योगदान को प्रछन्न रूप दे दिया गया तो दूसरी ओर इस मिथक का जन्म हुआ कि घरेलू काम वास्तविक कार्य नहीं है।

2.3.5 विषम लैंगिकता: नारी के लिए एक दमनकारी दशा

जिस तरह नाभिक पितृसत्तात्मक परिवार की स्वभाविकता को चुनौती दी गई है उसी तरह विषमलैंगिक मिलन या विवाह को यह कहकर चुनौती दी गई है कि इस बंदोबस्त का कोई "प्राकृतिक" आधार नहीं है। अब यह माना जा रहा है कि यह मिलन लैंगिकता का सामाजिक नियमन है जो असल में श्रम के लैंगिक विभाजन के सिद्धांत के साथ मिल कर काम करता है। भूमिकाओं और दायित्वों को नियमित करने वाली इस प्रणाली के लिए ऐसे विवाहों का होना जरूरी है जिनमें कम से कम एक स्त्री और एक पुरुष हो यानी जो विषमलैंगिक मिलन हो। यह मानव लैंगिकता की सिर्फ एक अभिव्यक्ति की अनुमति देता है और दूसरी अभिव्यक्ति का दमन करता है। इस प्रकार यह महिलाओं को पुरुषों के साथ शोषणात्मक, दमनकारी और अक्सर हिंसक मिलन के लिए बाध्य बनाता है। 1970

के दशक में कई नारी-अधिकारवादियों ने पुरुषों के साथ संबंध समाप्त करने और समलिंगियों के साथ संबंध (स्त्रीसमलिंगकामुकता) बनाने की पैरवी की जो उनकी राय में पितृसत्ता के विरोध का एक आवश्यक और वैध मार्ग था।

इस संदर्भ में यह उल्लेख करना उचित होगा कि समलैंगिकों का दमन भी यही प्रणाली करती है जो नारी दमन कर रही है। इसीलिए यह मांग उठाई गई है कि लिंगवाद (सैक्सिज्म) पर आधारित इस तरह के यौन लिंग/सामाजिक-लिंग संस्थायनों को बदला जाए जो असल में सामाजिक-लिंग भेदों को बढ़ाते हैं या पुरुषों और महिलाओं में विद्यमान समानताओं का दमन करते हैं और अंततः सामाजिक दृष्टि से स्वीकार्य लैंगिकता के कुछ खास स्वरूपों को ही स्त्री-पुरुष के लिए अनिवार्य बना देते हैं।

परिवार संस्था के अंदर दो सामाजिक लिंगों को विभेदित और उनकी रचना करने वाले तरह-तरह के ढांचों को विस्तार से स्पष्ट करने के बाद हम अब समाज की कुछ और महत्वपूर्ण संस्थाओं पर आएंगे।

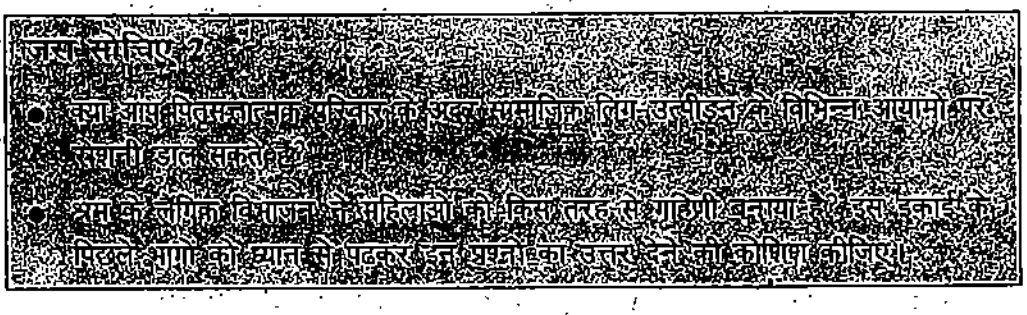

2.4 वर्ण व्यवस्था में सामाजिक लिंग-सोच रचना

जाति संस्था और लिंग से उसके संबंध का मुख्य उद्देश्य महिलाओं की लैंगिकता पर नियंत्रण करना है। वर्ण या जाति व्यवस्था एक तरफ जातिगत सीमाओं को कड़ाई से बनाए रखने का काम करती है तो दूसरी ओर यह कुल नाम और संपत्ति का उत्तराधिकार उसके वैध-वारिसों को सुनिश्चित करती है।

2.4.1 अनुलोम और प्रतिलोम विवाह : महिलाओं का शोषण

चार प्रमुख वर्ण समूहों : ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में बांटकर वर्ण व्यवस्था ने मूलतः पेशागत समूहों के क्रमपरंपरा की रचना की। ये समूह अनिवार्यतः आनुवंशिक और सगोत्र या अंतर्विवाही थे। हालांकि इसके अपवाद जरूर थे मगर एक निश्चित मर्यादा में ही इसके विपरीत विवाह करने दिया जाता था। जातियां यूं तो अंतर्विवाही थीं मगर इस नियम में ढील दे दी जाती थी अगर स्त्रियां ऊंची जाति के पुरुषों से विवाह करें या पुरुष जाति क्रमपरंपरा में नीचे की महिलाओं से विवाह करें। यह बंदोबस्त इस तरह का था कि इसमें अपने से छोटी जाति की स्त्री से विवाह रचाने पर पुरुष को किसी भी प्रकार की हानि उठानी नहीं पड़ती थी। मगर वहीं स्त्री अगर अपने जाति समूह से ऊपर की जाति में विवाह करे तो इससे उसकी और उसके जनक परिवार की सामाजिक स्थिति बढ़ जाती थी। इस प्रकार अनुलोम विवाह जातियों के बीच वैवाहिक संबंधों को दिशा देने वाला एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है, जिसमें स्त्री को अपनी जाति या उपजाति या उससे ऊंची जाति में विवाह करना होता है। मगर वहीं वह अपने से छोटी जाति या उपजाति में विवाह नहीं कर सकती है। अगर कोई पुरुष अपने से छोटी उपजाति में विवाह करे तो उसे अनुलोम विवाह कहते हैं, जिसका मतलब है लोम के अनुरूप–वैध और समाज द्वारा अनुमोदित। इसके उलट, कोई स्त्री अगर अपनी सामाजिक या जातिगत हैसियत से नीचे के पुरुष से ब्याह रचाती है तो उसे प्रतिलोम विवाह कहा जाता है, जिसका मतलब है समाज के स्थापित नियमों के विपरीत? यहां बंगाल के कुलीन राढ़ी ब्राहमणों का उदाहरण दिया जा सकता है, जिनकी चार उपजातियों में सबसे श्रेष्ठ कुलीन ब्राहमण माने जाते थे। अनुलोम विवाह के नियमों के कारण

कुलीन राढ़ी ब्राहमणों में स्त्रियां कुलीन उपजाति के पुरुषों से ही विवाह कर सकती थीं। मगर दूसरी ओर कुलीन पुरुष किसी भी छोटी उपजाति में ब्याह रचा सकता था। इस प्रथा ने इन अभागी कुलीन ब्राहमण स्त्रियों के लिए एक अजीब सी स्थिति पैदा कर दी। इससे माता-पिताओं को अपनी बेटियों के लिए कुलीन ब्राहमण वर, जिन्हें समाज वैध ठहराए, ढूंढ पाना कठिन हो गया। इसके फलस्वरूप इन महिलाओं की स्थिति इस कदर गिर गई कि उनके शोषण ने भंयकर रूप धर लिए: जैसे बाल विवाह, द्विविवाह (यानी उन्हें पहले से विवाहित पुरुषों की दूसरी पत्नी बनना पड़ा) और कच्ची उम्र में विधवा बन जाना जिसका कारण वर और वधू की उम्र में भारी फर्क था।

क्या आप जानते हैं? 1

सबसे पहले बात आती है नारी के यौन उपभोग और शोषण की जो सत्ताधिकार की असमानता का ही एक पहलू है। यह हमें निम्न श्रेणी की महिलाओं के प्रति उच्च श्रेणियों वाले पुरुषों के व्यवहार में अपने चरम रूप में दिखाई देता है। समस्या के इस पहलू पर सबसे ज्यादा ध्यान दिया गया है .....

जाति या नस्ल में विभाजित समाजों में निम्नश्रेणी की स्त्रियों का उच्च श्रेणी के पुरुषों द्वारा यौन उपभोग को अपना विशिष्ट स्वरूप नहीं मिल पाता अगर नर और नारी के बीच साधारण संबंधों में विषमता नहीं होती। इन संबंधों की यह विषमता तब और गहरी हो जाती है जब पुरुष ऊंची और नारी निम्न नस्ल (या जाति) से संबंध रखते हों। अगर नारी ऊंची और पुरुष निम्न श्रेणी का हो तो विषमता की यह आम स्थिति पूरी तरह से पलट जाए। नर और नारी के बीच साधारण रिश्तों में विषमता की मांग जितनी जबर्दस्त होगी, भूमिकाओं की अदला-बदली के खिलाफ प्रतिबंध उतने ही कठोर होंगे...

अनुलोम मिलन उच्च वर्ण के पुरुष और निम्न वर्ण की नारी के बीच विवाह है और कुछ खास शर्तों में यह स्वीकार्य है। इस नियम की व्याख्या बड़ी उदार है जिसमें ब्राहमण पुरुष को ब्राहमण कन्या के अलावा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या से ब्याह रचाने की अनुमति प्राप्त है। इसी तरह क्षत्रिय को वैश्य कन्या से विवाह करने का अधिकार है। इसी तरह वैश्य पुरुष अपने वर्ण के अलावा शूद्र वर्ण की कन्या से भी विवाह कर सकता है। मगर शूद्र को सिर्फ शूद्र कन्या से ही विवाह करने का अधिकार है (मनु स्मृति, 1964, पृष्ठ 405 बेलीली, 1992, द्वारा उद्धत)।

2.4.2 पवित्रता और अपवित्रता की प्रथा: महिलाओं के लिए अभिप्राय

यहां यह बताना जरूरी है कि भारतीय वर्ण व्यवस्था के अभिन्न अंग के रूप में पवित्रता और अपवित्रता की धारणाओं की रचना चारों जातियों के लिए अलग-अलग थी। वर्ण व्यवस्था के भीतर पवित्रता और अपवित्रता की अभिव्यक्ति आचरण के नियमों में होती है, जैसे शाकाहार, मदिरापान से परहेज और स्त्रियों पर नियंत्रण। सांस्कारिक या धर्मविधि क्रमपरंपरा में जाति का स्थान जितना ऊंचा होगा, उसमें मद्यत्याग और शाकाहार के नियम उतने ही कठोर होंगे। ऊंची जातियों ने अपनी स्त्रियों पर नियंत्रण आवश्यक रूप से बढ़ाया। सामाजिक और आर्थिक परिभाषा में इन नियंत्रणों का मतलब था महिलाओं का संपत्ति जैसे भूमि आदि के उत्तराधिकार से वंचित होना और सार्वजनिक जीवन व उत्पादन अर्थ व्यवस्था से उनका निष्कासन। इसके फलस्वरूप वे पारिवारिक या और घरेलू बनीं, उन्हें इसी दायरे में रखने के लिए पार्थक्य या 'परदा' जैसे कठोर नियम उन पर थोपे गए।

रोचक बात यहां यह है कि जो जातियां ऊपर की ओर गतिशील थीं और जो जाति क्रमपरंपरा में अपनी सांस्कारिक स्थिति को उन्नत बनाना चाहती थीं उन्होंने इन नियमों के पालन में ऊंची जातियों की नकल की और खासकर अपनी स्त्रियों पर अंकुश को बढ़ाया। इसका यही मतलब है कि जातिगत पहचान के चलते यह अंकुश छोटी जातियों की स्त्रियों के बनिस्बत ऊंची जाति की स्त्रियों पर अधिक कठोर था। छोटी जाति की स्त्रियों और उनके पुरुष शाकाहार और मद्यत्याग के नियमों का इतनी कठोरता से पालन नहीं करते थे। फिर ये स्त्रियां उत्पादन अर्थव्यवस्था और सार्वजनिक जीवन दोनों

में सक्रिय हिस्सेदारी करती थीं। मगर ऊंची जातियां उनके श्रम के साथ-साथ उनका यौन शोषण भी करती थीं। जैसा कि हमने पीछे बताया है ऊंची जाति की स्त्रियों की लैंगिकता अपने समाज के लिए खतरा थी और अगर उस पर नियंत्रण न रखा जाता तो ऊंची जाति की स्त्रियों और निम्न जाति के पुरुषों के बीच यौन संपर्क हो जाने से ऊंची जाति अपवित्र हो सकती थी। जिस सामाजिक अनन्यता और जैविक पवित्रता का दंभ ऊंची जातियां करती थीं, वह उच्च जाति की स्त्रियों के छोटी जातियों के पुरुषों के संपर्क में आ जाने से नष्ट हो जाती। इस सांस्कारिक पवित्रता के अलावा हर जाति समूह की भौतिक संपत्तियां और अधिकार भी दांव पर लगे थे, जिन्हें वे अपनी जाति या जाति समूह में समेटे रखने और पुनर्वितरित करने के जतन में लगे रहते थे। अब चूंकि बेटियों को दहेज या स्त्रीधन के रूप में परिवार की चल संपत्ति का एक हिस्सा दिया जाता था इसलिए इसके पीछे यह सुनिश्चित करने के भौतिक कारण थे कि संपत्ति का विवाह के जरिए पुनर्वितरण यथासंभव जाति समूह के भीतर हो और उससे बाहर ज्यादा न जा पाए। ऐतिहासिक दृष्टि से यह भी सिद्ध हो चुका है कि पितृसत्तात्मक ऊंची जातियों ने जैसे-जैसे अपनी आर्थिक उन्नति को सुदृढ़ बनाया और अपने वर्चस्व को मिलने वाली चुनौतियों का सामना किया, जातिगत और सामाजिक लिंग विभाजनों को वे और कठोर बनाती गईं।

2.4.3 वर्ण व्यवस्था और महिलाओं की पराधीनता को बदलना

जातिगत पहचान के कारण महिलाओं पर लगाए जाने वाले ऐसे अंकुशों में आज ढील आ गई है। इधर पूंजीवादी भारत में नए सामाजिक वर्गों का उदय हुआ है। मगर इसका यह मतलब कतई नहीं है कि इससे नारी पराधीनता का भी लोप हो गया है। इन नए वर्गों के उदय का मतलब है स्त्रियों पर एक नया और वर्ण व्यवस्था से अलग किस्म का नियंत्रण, उच्च और मध्यम वर्ग की महिलाओं के लिए पारिवारिक पार्थक्य, उत्पादन अर्थ-व्यवस्था में सहभागिता में अंकुश के जरिए आर्थिक परनिर्भरता, संकुचित वैवाहिक संबंधों के जरिए उनकी लैंगिकता पर लगे व्यापक अंकुश यूं आज बहुत कम हो गए हैं।

बहरहाल नियंत्रण अब भी कई रूपों में विद्यमान हैं। जैसे: महिलाओं को दी जाने वाली शिक्षा की किस्म, गुणवत्ता और प्रयोजन; रोजगार का किस्म जिसे पाने की उन्हें अनुमति दी जाती है, शिक्षा अर्जन या नौकरी करने में उन्हें यौन उत्पीड़न और हिंसा का सामना करना पड़ता है, बढ़ती आर्थिक जिम्मदारियों के कारण रोजगार में लगी महिलाओं को दोहरा बोझ वहन करना पड़ता है। आज समाज के कुछ वर्ग शिक्षा और रोजगार में महिलाओं की उन्नति को प्रतिष्ठा की बात मानते हैं क्योंकि इससे उन्हें भौतिक लाभ मिल रहे हैं तो उनकी स्थिति में भी इजाफा हुआ है। इस तरह नियंत्रण का रूप बदल तो गया है लेकिन पराधीनता अब भी जारी है। इस परिवर्तन का सकारात्मक पहलू यह है कि आर्थिक स्वतंत्रता के चलते कुछ महिलाओं ने अपनी लैंगिकता और स्वाधीनता पर लगे अन्य अंकुशों को खुलकर चुनौती देना शुरू कर दिया है।

आइए अपने अनुभव से सीखें।

अपने पड़ोस में भिन्न जाति-समूहों के परिवारों से उनमें प्रचलित विवाह प्रथाओं और पवित्रता और अपवित्रता के प्रचलन पर इस इकाई में चर्चित विषयों के संदर्भ में जानकारी इकट्ठा कीजिए। यह जानने की कोशिश कीजिए कि ये प्रथाएं क्या लिंग-दमनकारी हैं।

2.5 धर्म में सामाजिक लिंग-सोच रचना

समाज में धर्म संस्था दो व्यापक स्तरों पर काम करती है और नर और नारी को अलग-अलग तरीके से प्रभावित करती है। आइए इनमें से कुछ पहलुओं का विश्लेषण करते हैं।

2.5.1 नीति निर्माण में धर्म की भूमिका

धर्म की सबसे पहले संस्कृति के स्तर पर ही लिंग-सोच रचना में एक व्यापक भूमिका रहती है। इस स्तर पर यह लैंगिकता, विवाह, परिवार और उसके संचालन, व्यक्तियों और समूहों के बीच परस्पर संबंध इत्यादि के मामले में समाज की धारणाओं को प्रभावित करता है और उन्हें ढालता है। समाजीकरण की इस प्रकिया के जरिए ये सभी पहलू हमारे जीवन को इस तरह रंग देते हैं कि वे हमारे स्वभाव, हमारी सोच का अंग बन जाते हैं। फिर हम उन्हें चुनौती देने या इन पर सवाल उठाने का प्रयास नहीं करते। यह प्रक्रिया इसे ऐतिहासिक निरंतरता प्रदान करती है। मगर लोगों के सामाजिक-आर्थिक अस्तित्व की वास्तविकताएं भी ऐसे धार्मिक और सांस्कृतिक रुझानों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं और ये समकालीन आवश्यकताओं के अनुरूप उन्हें ढालती हैं और बदलती हैं। उदाहरण के लिए महिलाओं की शैक्षिक प्रगति तो हुई है मगर वहीं कठोर आर्थिक यथार्थ ने वर्तमान में उन्हें वेतन-भोगी श्रम शक्ति बना डाला। महिलाओं के लिए पूर्व में धर्म द्वारा परिभाषित सांस्कृतिक परिवेश को इसने बदल दिया।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि धर्म भी अपने आप में एक संस्थागत शक्ति है। राष्ट्रीय और सामुदायिक स्तर पर यह नीति निर्माण, उसके प्रसार और कार्यान्वयन को प्रभावित करता है। मगर यहाँ थोड़ा सा अंतर है। एक संस्था के रूप में धर्म यहां वही निरंतरता नहीं दिखाता क्योंकि यहां यह सांस्कृतिक आचरण को प्रभावित करता है। लेकिन दोनों एक दूसरे से अलग भी नहीं हैं। एक शक्तिशाली संस्था होने के कारण राज्य जब पुरातनपंथी और कट्टरपंथी धार्मिक शक्तियों से जा मिलता है, तो वह महिलाओं की स्वतंत्रा के लिए सबसे बड़ा खतरा बन जाता है। इस तरह के गठजोड़ का उदाहरण दमनकारी वैवाहिक कानूनों को मिल रहा राज्य का वरदहस्त और अनुमोदन है। यही कानून पुरुषों के विशेषाधिकारों को बनाए रखने के लिए विवाह, उत्तराधिकार, तलाक इत्यादि मुद्दों को परिभाषित करते हैं।

2.5.2 धर्म से महिलाओं का विरोधाभासी संबंध

धर्म से महिलाओं का नाता विरोधाभासी रहा है। सभी समाजों और संस्कृतियों में महिलाएं पुरुषों से अधिक धार्मिक और आध्यात्मिक पाई जाती हैं। भारतीय हिन्दू परिवार में महिलाएं ही प्रायः पूजा-पाठ, व्रत और धार्मिक कर्मकांडों को करती हैं। हिन्दुत्व अपेक्षतया एक ढीला-ढाला, लचीला धर्म है; जिसमें परिवार धार्मिक क्रिया-कलापों की धुरी बन जाता है। हिन्दू समाज में नारी द्वारा धार्मिक दायित्वों को भी अपनी घरेलू जिम्मेदारियों के हिस्से के रूप में पूरा करने की परिपाटी चली आ रही है। इसका एक कारण यह भी बताया जाता है कि स्त्रियां धर्म में प्रवेश कर उस परमसत्ता में सुख-शांति ढूंढती हैं क्योंकि सामाजिक-राजनीतिक और सामाजिक-धार्मिक सत्ताधिकार के ढांचे उनकी पहुंच से बाहर हैं। ऐसी कठिन, दुःख भरी परिस्थितियों में धर्म ही उनके लिए एक सकारात्मक शक्ति, संबल बन जाता है। यह उन्हें रोजाना के जीवन संघर्षों से जूझने की आंतरिक प्रेरणा देता है। उससे उन्हें शांति, प्रसन्नता, संतुष्टि जैसे भावनात्मक पुरस्कार मिलते हैं। नारी की धर्म परायणता का पहलू जितना सच दिखाई देता है, तो वहीं इसका विरोधाभासी पहलू भी उतना ही सच है।

यह विरोधाभास हमें सभी धर्मों के ग्रंथों, शास्त्रों में मिलता है जो नारीद्वेष वाले विचारों से भरे पड़े हैं। महिलाओं को प्रायः ये दूसरे दर्जे का प्राणी मानते हैं और उनके प्रति धर्म दमनात्मक हैं। यह अपने-आप में आश्चर्यजनक है कि गर्भ निरोध, गर्भपात, परदे का प्रयोग, नारी का शुद्धीकरण इत्यादि मुद्दों पर सभी महान धर्म एक ही लीक पर चलते हैं। इसके अलावा धार्मिक ग्रंथ भी नारी दमन और शोषण की बात करते हैं। इस सिलसिले में हमें देवदासी की प्रथा याद हो आती है; जिसमें जवान लड़कियों को बचपन में ही 'देवी' को समर्पित कर दिया जाता है और जब वे यौवन की दहलीज पर कदम रखती हैं तो उन्हें वेश्यावृत्ति में धकेल दिया जाता है। विधवा दाह, जिसे सती कहकर महिमामंडित किया जाता है और सांप्रदायिक हिंसा के दौरान दूसरे धर्म के लोगों को सजा देने के लिए

उनकी मां-बहिनों के साथ यौनाचार और बलात्कार जैसे शर्मनाक कृत्य भी इसके उदाहरण हैं। इस तरह धर्म द्वारा सामाजिक-लिंग की संस्थागत रचना दमनात्मक, प्रतिगामी और शोषणात्मक तत्वों और नैतिकता, दया, आध्यात्म और सांत्वना जैसे मानवतावादी तत्वों का मिला-जुला रूप है।

जरा सोचिए 3

सामाजिक-लिंग रचना में धर्म की क्या भूमिका है? धर्म से जुड़ी हुई कुछ विचारधारा के कुछ विरोधाभासी पहलुओं पर सोचिए। इसके बाद नीचे दिए गए आधार पर इस अभ्यास का उत्तर दीजिए।

2.6 मीडिया में सामाजिक-लिंग रचना

सूचना प्रौद्योगिक क्रांति के इस युग में मीडिया समाज पर भारी प्रभाव डालता है। इसीलिए सामाजिक-लिंग सोच की रचना के संस्थागत आधारों पर चर्चा करते हुए यह जरूरी हो जाता है कि हम इस बेहद प्रभावशाली और व्यापक संस्था पर भी ध्यान दें।

2.6.1 मीडिया सामग्री: महिलाओं का गलत चित्रण

आइए पहले हम मीडिया सामग्री के मुद्दे पर ध्यान दें क्योंकि यहीं हमें पुरुषों और महिलाओं के चित्रण के अलग-अलग मानदंडों को लागू करने का संस्थागत रुझान देखने को मिलता है। चाहे वह साहित्य हों या फोटोग्राफी, विज्ञापन फिल्म, टेलीविजन, पत्रिका, पोस्टर जैसे दृश्यात्मक माध्यम हों, मीडिया में महिलाओं का चित्रण इस तरह से किया जाता है जिससे यह पता चले कि हमारे समाज में नारी होने का मतलब क्या है। इस तरह मीडिया छवियां बारबार यही दोहराती हैं कि "स्वभावत:" महिलाएं किस तरह होती हैं या वे क्या कर सकती हैं क्या नहीं। इसकी बुनियादी थीम हमेशा यही बताना रहता है कि वे पुरुषों से किस तरह भिन्न हैं। फिर चूंकि संदर्भ बिंदु हमेशा पुरुष ही रहते हैं, इसलिए महिलाओं को बारबार पत्नी, मां या बहिन के रूप में परिभाषित किया जाता है। उन्हें अक्सर या तो पुरुषों की वासना और हिंसा के बेबस शिकार के रूप में या फिर मूढ़, बुद्धिहीन, सजावटी गुड़ियों के रूप में दिखाया जाता है। इस तरह मानव के रूप में महिलाओं की वास्तविक क्षमताओं, संभावनाओं को ही योजनाबद्ध तरीके से छिपा दिया जाता है। महिलाओं के नैतिक या बौद्धिक गुणों को अनदेखा कर हमेशा उनके यौन आकर्षण पर ज्यादा जोर दिया जाता है और इसीलिए उन्हें उनके यौन आकर्षण के आधार पर ही आंका जाता है। इसके फलस्वरूप सभी संस्कृतियों में महिलाओं की छवि पुरुषों से हेय बना दी जाती है। इससे संस्कृतियां जो उचित ठहराती हैं या जिसे मूल्य समझती हैं और महिलाओं की जो छवि पेश की जाती है, उन दोनों के बीच अंतर स्पष्ट हो जाता है।

इस प्रकार मीडिया में जहां महिलाओं को समुचित प्रतिनिधित्व नहीं मिलता है, वहीं यह उनसे जुड़ी सभी मौजूदा रूढ़ियों को और मजबूत बनाता है। मीडिया किस तरह से काम करता है इसका एक रोचक उदाहरण यह है कि हमारा संविधान और कानून समानता और नौकरी के समान अवसरों की बात करते हैं लेकिन मीडिया जिस विचारधारा को लेकर चलता हैं और उसे प्रतिष्ठित करता है वही विचारधारा महिलाओं को इन अवसरों का लाभ उठाने से वंचित रखती है। विचारधारा असमानता का एक शक्तिशाली स्त्रोत ही नहीं है बल्कि उसे यह तर्कसंगत भी ठहराती है और आज मीडिया ही तमाम महिला-विरोधी विचारधाराओं का वाहक बन गया है।

2.6.2 दर्शकों के रूप में महिलाएं

आइए इससे जुड़े एक और प्रसंग पर नजर डालते हैं। यह है मीडिया का प्रयोग करने वालों के रूप में महिलाएं। यनेस्को ने हाल के एक अध्ययन में नौ देशों में टेलीविजन दर्शन में कुछ रोचक और

समरूप पैटर्न पाए हैं। ये देश हैं आस्ट्रेलिया, बुल्गारिया, हंगरी, भारत, इटली, कोरिया, नीदरलैंड, फिलिपीन और स्वीडन। इन देशों में महिलाएं मीडिया का उपयोग बड़े उत्साह से करती हैं और उनकी पसंद पुरुषों से अलग हैं। औसतन वे पुरुषों से 12 गुना अधिक समय टेलीविजन देखने में बिताती हैं। पुरुषों की रुचि खेल कूद और एक्शन प्रधान कार्यक्रमों और समाचार आदि जैसे सूचना प्रधान कार्यक्रमों में अधिक रहती है तो इसके विपरीत महिलाएं लोकप्रिय ड्रामा, संगीत, नृत्य और अन्य मनोरंजक कार्यक्रम देखना पसंद करती हैं। इसमें रोचक बात यह है कि मीडिया अभिरुचि के ये पैटर्न दरअसल विभिन्न कार्यक्रमों में पुरुषों और महिलाओं के चित्रण के अनुरूप हैं। इसका यही मतलब निकलता है कि प्रत्येक स्त्री पुरुष उसी प्रकार की मीडिया सामग्री को पसंद करते हैं जो उनके लिंग की उपस्थिति को दर्ज करता है। यह उपस्थिति या तो पात्रों के चित्रण के रूप में हो सकती है या उन मुद्दों के रूप में जिन पर कार्यक्रम का फोकस रहा हो। इस संदर्भ में यह बताना जरूरी है कि महिलाएं महसूस करती हैं कि मीडिया में महिलाओं के मुद्दों को कोई प्राथमिकता नहीं दी जाती और उनके सरोकारों को टेलीविजन चैनलों के गंभीर कार्यक्रमों में पर्याप्त स्थान नहीं मिलता।

मीडिया उपयोगकर्ताओं के रूप में महिलाओं से एक और मुद्दा जुड़ा है। आज विज्ञापनदाता महिलाओं को एक विशिष्ट ग्राहक की नजर से देखने लगे हैं और अपने उत्पादों को महिलाओं पर साधने और उन्हें उपभोक्ता वस्तुएं बेचने का जरिया बनाने की उनमें आपस में बड़ी जबर्दस्त होड़ लगी हुई है। इसका मतलब है बढ़ता उपभोक्तावाद और महिलाओं की कुशल गृह-प्रबंधक के रूप में छवि पर जोर, जिन्हें अपने घर परिवार की जरूरतों के अनुसार सही चुनाव करना है। मगर इसी के साथ एक विक्रय केन्द्र के रूप में नारी देह को उपभोग की वस्तु बनाना और उसे जिस्म के रूप में पेश करने का काम भी बदस्तूर जारी है।

2.6.3 मीडिया में महिलाओं को रोजगार

जब हम मीडिया जैसी सामाजिक संस्था की बात कर रहे हों तो हमारे लिए यह जरूरी हो जाता है कि हम मीडिया में रोजगार के मुद्दे पर भी ध्यान दें क्यों कि समस्या के मूल में तो संख्या की राजनीति ही है। भारत में मीडिया में रोजगार के पैटर्न में बदलाव के दावों के बावजूद यूनेस्को की ओर से दिल्ली के मीडिया एडवोकेसी ग्रुप द्वारा किए गए एक अध्ययन से पता चलता है कि दूरदर्शन और आल इंडिया रेडियो के कुल पूर्णकालिक कर्मचारियों में महिलाओं की संख्या सिर्फ 12-15 प्रतिशत है। यहां भी महिलाएं कार्यक्रम सृजन और संपादन के दायित्व वाले पदों के बजाए निचले प्रशासनिक स्तर पर अधिक संख्या में नियुक्त हैं। तकनीकी पदों में तो वे बिल्कुल ही नदारद हैं जहां काम अति कुशलता वाला है और वेतन भी अधिक है।

यूनेस्को द्वारा जुटाए गए आंकड़ों से यह रोचक जानकारी मिलती है कि पिछले 15 वर्षों से अधिक से अधिक महिलाएं जनसंचार की उच्च शिक्षा लेने लगी हैं। कोई 81 देशों से जुटाए गए आंकड़े बताते हैं कि इनमें से 50 देशों में पत्रकारिता और संचार शिक्षा में विद्यार्थियों में 50 प्रतिशत से अधिक लड़कियां हैं। मगर मास मीडिया में रोजगार पाने वाली महिलाओं के अनुपात में एक बड़ा फासला है। वास्तव में इस पेशे में उन्हें जितना रोजगार मिल रहा है वह प्रशिक्षित महिलाओं की संख्या के तुल्य कतई नहीं हैं। इसीलिए मीडिया में वास्तविक सत्ताधिकार के मायनों में पुरुषों का एकाधिकार अभी भी कायम है।

आइए अनुभव से सीखें 2

दो दिन लगातार दो घंटे तक किसी खास टेलीविजन चैनल के कार्यक्रम देखिए और उसके आधार पर मीडिया में महिलाओं के चित्रण पर नोट तैयार कीजिए। यह जानने की कोशिश कीजिए कि क्या सामाजिक लिंग भूमिका को रूढ़िगत बनाने वाली विचारधारा टी.वी. पर कोई आकार ले रही है।

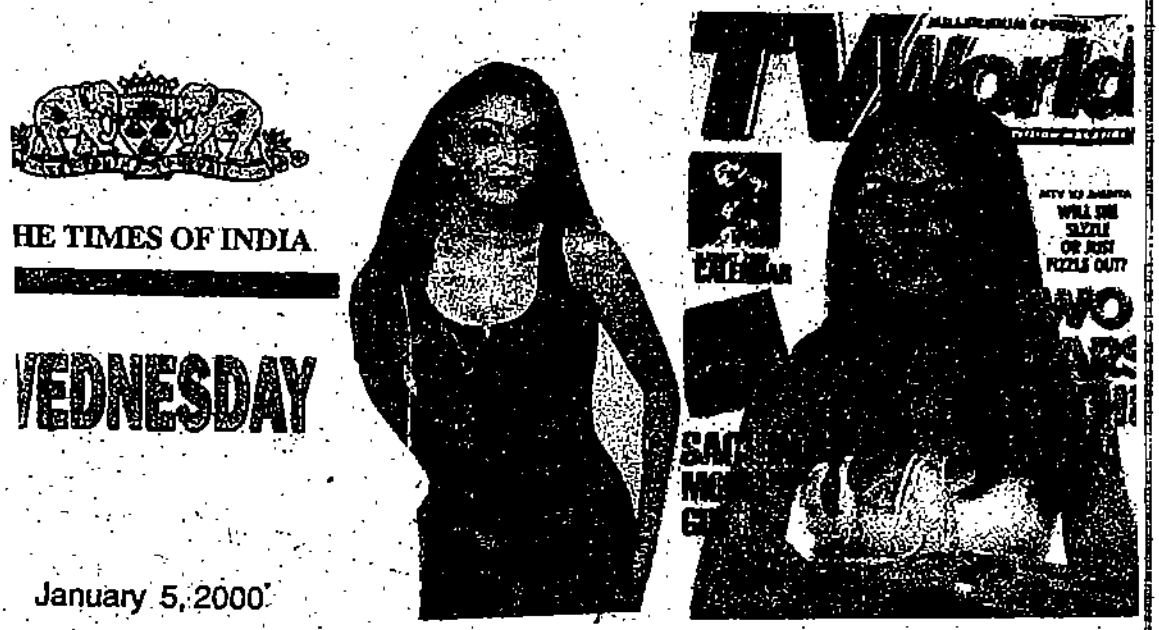

माध्यम में महिलाएं : संतुलित प्रक्षेपण की आवश्यकता

2.7 श्रम बाजार में सामाजिक-लिंग सोच रचना

आम तौर पर यह माना जाता है कि श्रम बाज़ार तटस्थ होकर काम करता है। लाभ का लक्ष्य और मुनाफे को अधिक से अधिक बढ़ाना, ये दो बुनियादी नियम ही उसकी सारी गतिविधियों का संचालन करते हैं। मगर भारत में सामाजिक-लिंग के आधार पर रोज़गार के व्यापक पैटर्न का अगर हम विश्लेषण करें तो श्रम बाज़ार में इस की घोषित तटस्थता की कलई खुल जाती है।

2.7.1 महिला रोजगार के पैटर्न

मोटे तौर पर हम पाते हैं कि:

क) भारत में महिला श्रम शक्ति का बहुसंख्य हिस्सा अभी भी कृषि-आधारित निर्वाह गतिविधियों में लगा हुआ हैं। वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार कृषि में श्रमिक आबादी का 70 प्रतिशत और आर्थिक रूप से सक्रिय महिलाओं का 84 प्रतिशत कार्यरत है।

ख) पुरुषों की तुलना में ज्यादातर महिलाओं के लिए रोजगार की शर्तें प्रतिकूल हैं, जैसे: कम मजदूरी, कार्य-स्थल पर अस्वस्थकर और तनावपूर्ण परिस्थितियां और सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा का अभाव। यहां यह बताना जरूरी है कि 1991 की जनगणना के अनुसार कुल सीमांत श्रमिकों का 90 प्रतिशत महिलाएं ही हैं।

ग) गैर-कृषि क्षेत्रों में महिलाओं का प्रवेश सीमित और मुख्यत: निम्न दक्षता और वेतन वाले कार्यों में है। वर्ष 1991 जनगणना के आंकड़े बताते हैं कि ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में विनिर्माण

उद्योग में मुख्य महिला श्रमिकों की संख्या में कमी आई है तो वहीं दूसरी सेवाओं में महिलाओं की संख्या में 2 से 3 प्रतिशत बढ़त हुई है। संगठित क्षेत्र में महिला रोजगार की निरपेक्ष संख्या में 1971 से हालांकि भारी वृद्धि हुई है मगर महिलाओं की तुलना में पुरुषों का संगठित क्षेत्रों में प्रतिनिधित्व छः गुना अधिक है। महिलाओं के कुल रोजगार का सिर्फ 4 प्रतिशत संगठित क्षेत्र में है। संगठित क्षेत्र में कार्यरत महिलाओं का एक बहुत बड़ा हिस्सा सामुदायिक, सामाजिक और निजी सेवाओं से जुड़ा है जहां वे अपेक्षतया कम वेतन और निम्न दक्षता वाले काम-धंधों में लगी हुई हैं। दूसरी ओर परिवहन, भंडारण, संचार, फाइनेंस, बीमा, रियल एस्टेट (ज़मीन-जायदाद के कारोबार) और बैंकिंग सेवाओं में सिर्फ 15 प्रतिशत महिलाएं ही लगी हुई हैं, जिनमें वेतन अधिक मिलता है और दक्षता की जरूरत भी पड़ती है।

घ) महिलाओं में बेरोजगारी की दर पुरुषों से काफी ज्यादा है और देहाती महिलाओं की अपेक्षा शहरी महिलाओं में बेरोजगारी अधिक है। वर्ष 1994 के अंत में देश के रोज़गार दफ्तरों में दर्ज बेरोजगार महिलाओं की संख्या 80-90 लाख थी।

इन आंकड़ों को श्रम बाजार में विभेदी लिंग प्रतिनिधित्व के संदर्भ में समझे जाने की जरूरत है। हम इसके कुछ संस्थागत आधारों को जानने का प्रयास करेंगे।

2.7.2 लिंग विभेद: सामाजिक-लिंग सोच रचना की उपज

श्रम बाजार में महिलाओं और पुरुषों के प्रतिनिधित्व और उनके वेतन, मजदूरी में विभेदों की व्याख्या महिलाओं की निम्न उत्पादकता, समुचित दक्षता और प्रशिक्षण के रूप में उनकी निम्न मानव पूंजी और खासकर उनकी पारिवारिक जिम्मेदारियों के आधार पर किए जाने की परंपरा रही है, जो श्रम बाजार में उनकी सक्रिय हिस्सेदारी में बाधक हैं। मगर सिक्के का यह एक पहलू है। दूसरा पहलू ऐसे कई कारण हैं जिनके बारे में नीचे बताया जा रहा है:

क) पुरुषों का काम क्या हो और स्त्रियों का दायित्व क्या हो, इसकी सांस्कृतिक व्याख्या ही सबसे महत्वपूर्ण कारकों में एक है जो यह तय करता है कि घर-परिवार का निजी कार्यक्षेत्र ही महिलाओं के लिए एकमात्र और सबसे उचित कार्यस्थल है और सार्वजनिक कार्यक्षेत्र पुरुषों के लिए सबसे उचित है। कार्यस्थलों का यह सामाजिक-लिंगीकरण पुरुषों और स्त्रियों के जैविक भेदों और अभिरुचियों की गलत धारणा से उपजा है। महिलाओं की अभिरुचियों को श्रम के मौजूदा लैंगिक विभाजन के आधार पर जांचा-परखा जाता है। उन्हें बच्चों, बूढ़ों और बीमारों की देखभाल करने वाला, बच्चों को नसीहत देने वाला, भोजन बनाने वाला और गृह-कार्यकर्ता माना जाता है। उनकी लैंगिकता को उनके सौंदर्य, सहनशीलता और सम्मोहन से जोड़कर देखा जाता है। जब वे श्रम बाजार में अपने कदम रखती हैं तो उनके सामाजिक-लिंग के ये पहलू ही उनके कार्यस्थल को तय करते हैं। खाद्यान्य उत्पादन, नर्सिंग, रिसेप्शन, क्लर्की, और टेलीफोन ऑपरेटरों जैसी नौकरियों में महिलाओं के आधिक्य की यही वजह है।

ख) श्रम बाजार में महिलाओं के प्रतिनिधित्व को प्रभावित करने वाला एक और महत्वपूर्ण कारण वे परिस्थितियां हैं, जिनमें महिलाएं श्रम बाजार में कदम रखती हैं। भारत में अक्सर यह तब होता है जब परिवार में कोई पुरुष कमाने वाला न हो, पुरुष की कमाई पूरी नहीं पड़ रही हो, या पुरुष जब अपनी कमाई परिवार को नहीं देते हों। ये संकट की परिस्थितियां हैं। इसीलिए ऐसे परिवार लड़कियों और स्त्रियों की शिक्षा और उनमें व्यावसायिक दक्षता के विकास पर कोई निवेश नहीं करते। महिलाओं को आरक्षी श्रम या उन्हें अतिरिक्त आमदनी के उपार्जक के रूप में देखा जाना महिलाओं की रूढ़िगत छवि को बढ़ावा देता है। इसके फलस्वरूप उनमें व्यावसायिक दक्षता विकसित नहीं हो पाती है जो महिलाओं को निम्न श्रेणियों की नौकरियों के दायरे में ले आती है जिनमें न तो वेतन अच्छा मिलता है और न ही कोई सामाजिक सुरक्षा ही है। बदले में यह पितृसत्तात्मक परिवारों में महिलाओं को गौण स्थिति में बनाए रखता है।

इस तरह हम देखते हैं कि श्रम बाजार में महिलाओं के अल्प प्रतिनिधित्व का सबसे महत्वपूर्ण कारक घरेलू संबंधों के वे विशेष पहलू हैं जो महिलाओं के लिए योजनाबद्ध तरीके से अलाभकर स्थितियां पैदा करते हैं।

ग) अंतत: यह बताया जाना जरूरी है कि पिछले दो दशकों से विशेषकर 1980 के दशक से महिला श्रमशक्ति की सहभागिता में बढ़ोतरी हुई है जबकि पुरुष सहभागिता दर में गिरावट आई है या वह स्थिर रही है। इसे विश्वव्यापी स्त्रीकरण की परिघटना के रूप में देखा जा रहा है। कुछ लोग यह मानते हैं कि इस प्रक्रिया ने आखिरकार श्रम बाजार में महिलाओं की कठिनाइयों का समाधान तलाश लिया है। मगर यह विचार अभी अपरिपक्व है। क्योंकि एक ओर लिंग के आधार पर नौकरी का विभाजन अभी भी जारी है और यौनलिंग रूढ़िकरण की प्रक्रिया थमने का नाम नहीं ले रही है। दूसरी ओर महिलाओं के लिए जिन क्षेत्रों में रोजगार के द्वार खुले हैं वे कम मजदूरी, उन्नति के सीमित अवसर और स्वास्थ्य के पेशागत जोखिमों जैसी अलाभकर स्थितियों से भरे हैं। फिर आर्थिक उदारीकरण के दौर में ढांचागत समायोजन के चलते और राज्य के समाज कल्याण क्षेत्र से पल्ला झाड़ लेने के कारण महिलाओं को समय और ऊर्जा और अधिक खर्च करने पड़ रहे हैं और जो दोहरा बोझ वे उठाती हैं उसमें भी भारी वृद्धि हो गई है।

जरा सोचिए 4

भारत में महिलाओं के रोजगार के पैटर्न क्या हैं? श्रम बाजार में उनकी अलाभकर स्थिति के लिए क्या सांस्कृतिक कारण भी दोषी हैं? इस इकाई के पिछले भागों को सावधानी से पढ़कर उत्तर दीजिए।

2.8 राज्य और सामाजिक-लिंग सोच रचना

कुछ बुनियादी संस्थाओं और महिलाओं के लिए अलाभकारी सामाजिक-लिंग रचनाओं पर चर्चा कर लेने के बाद अब हम अंतत: समकालीन समाज की सबसे शक्तिशाली संस्था यानी राज्य पर आते हैं। राज्य का काम है कि वह निष्पक्षता और समानता के आधार पर प्रशासनिक और कानूनी ढांचे खड़ा करता है। इस तरह वह राष्ट्र के कल्याण के लिए परस्पर स्पर्धी गुटों और हितों को आपस में जोड़े रखता है। इसमें उसका उद्देश्य प्रभावशाली वर्गों के हितों के बजाए समाज के सभी सदस्यों की भलाई करना होता है। सो राज्य से यह आशा की जा सकती है कि वह सुनिश्चित करे कि समाज की अन्य संस्थाएं महिलाओं की जरूरतों और अपेक्षाओं को पूरा करें और लिंग के आधार पर संसाधनों का वितरण समान हो। मगर अन्य संस्थाओं की तरह राज्य के मामले में भी समानता और निष्पक्षता के सिद्धांत महज कागजी साबित हुए हैं, वास्तविकता में जिन पर कोई अमल नहीं होता। इन कागजी सिद्धांतों के विपरीत राज्य के अनौपचारिक कार्य विशेष वर्गों और पितृसत्तात्मक शक्तियों के हित में रहे हैं और असल में उसने इन शक्तियों के अप्रत्यक्ष उद्देश्यों की पूर्ति की है। फिर ये सभी संस्थाएं आपसी तालमेल से ही बनी हैं और एक दूसरे के परिणामों को प्रभावित करती हैं।

राज्य की नीतियां घर-परिवार के भीतर परिणामों को प्रभावित करती हैं। मगर वहीं घर-परिवार अपनी प्रथाओं और निजी नियमों से राज्य के कार्यों को पलट भी सकते हैं या उन पर अंकुश लगा सकते हैं। उदाहरण के लिए पिता की संपत्ति पर भाइयों के बराबर का जो अधिकार कानून ने लड़कियों को दिया है वह राज्य की नीति है जो संपत्ति के वितरण के परिणामों को प्रभावित करती है। मगर इसके बावजूद भी यह प्रथा अभी जारी है जिसमें लड़कियां अपने उत्तराधिकार को भाइयों के पक्ष में त्याग देती हैं। इस तरह परिवार राज्य के आंतर-पारिवारिक स्तर पर धन-संपदा के समान वितरण के प्रयासों को नाकाम कर देते हैं। ठीक इसी तरह सामुदायिक नियम और संगठन निजी

परिस्थितियों में सुधार लाने की राज्य की क्षमता में आड़े आ जाते हैं। शाहबानो के मामले में यही हुआ था। बाजार-आधारित प्रक्रियाएं भी परिवार में संबंधों को प्रभावित और उन्हें निर्धारित करती हैं। दूसरे शब्दों में पुरुषों और महिलाओं के वेतन में विषमता ही परिवार में महिलाओं को पुरुषों पर आर्थिक और सामाजिक रूप से निर्भर बनाती है। इस प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने के लिए राज्य कोई पहल नहीं करता।

मगर इसका मतलब राज्य द्वारा सकारात्मक हस्तक्षेप को नकारना कतई नहीं है। उदाहरण के लिए भारत के संविधान में महिलाओं को समानता की गारंटी दी गई है। पिछले कुछ दशकों में महिलाओं के विकास और उत्थान के लिए कई नीतियां और कार्यक्रम चलाए गए हैं। इसमें संदेह नहीं है कि महिलाओं की उन्नति के लिए संस्थागत प्रणालियां विकसित करने में भारतीय राज्य महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। मगर यहां भी एक विरोधाभास है। विकास संबंधी नीतियों का निर्माण और कार्यान्वयन करते समय भारत समेत कई देशों में राज्य प्रभावी पितृसत्तात्मक विचारधारा के दायरे में ही काम करता है और लोगों की प्रजनन अभिरुचियों, धार्मिक विश्वासों, परस्पर निजी संबंधों और वेशभूषा व आचरण पैटर्न के कार्यक्षेत्रों में अतिक्रमण करता है। राज्य खुद खुलकर कुछ खास विचारधारा जातीय साम्प्रदायिक, भाषयी, वर्गीय और पितृसत्तात्मक हितों की पैरवी कर रहा है और उनको समर्थन सरक्षण दे रहा है। राज्य ने वस्तुत: परिवार, धर्म, मीडिया और बाजार जैसी संस्थाओं के माध्यम से एक पितृसत्तात्मक विचारधारा, विशेषकर यह विचार कि महिलाएं मुख्यत: गृहिणियां, और माताएं हैं, को आगे बढ़ाने के लिए ही काम किया है। विकास अध्ययन के क्षेत्र में किए गए अनुसंधान कार्यों से पता चलता है कि राज्य की नीतियों ने उसके घोषित लक्ष्यों के विपरीत भूमि अधिकार, कृषि में श्रम के उपयोग, रोजगार के पैटर्न और क्षेत्रगत प्रतिनिधित्व, शिक्षा और सुविधाओं की सुलभता और पारिवारिक मुद्दों से जुड़े कानूनों में लिंग-असमानताओं को ही जन्म दिया है।

समाज में महिलाओं की गौण स्थिति की उत्पत्ति और उसकी पुनर्रचना में राज्य की भूमिका को जान लेने के बाद हमें समाज और वंचितों, उपेक्षितों के संरक्षक के रूप में राज्य की अधिकार-शक्ति और उसके महत्व को भी स्वीकार करना होगा। राज्य में अन्य संस्थाओं के बनिस्बत जनहितों के कहीं ज्यादा व्यापक फलक को प्रतिनिधित्व देने का अधिकार है और अगर महिलाओं के हित में काम करने की राजनीतिक इच्छा हो तो यह दूसरी संस्थाओं द्वारा खड़े किए जाने वाले ढांचागत अवरोधों को सफलतापूर्वक पार कर एक लिंग-समतावादी समाज की रचना कर सकता है।

जरा सोचिए 5

राज्य क्या सामाजिक-लिंग रचना में योगदान करता है? क्या राज्य में सामाजिक-लिंग असमानता की बाधाओं को दूर करने की क्षमता है? एक विकास कार्यकर्ता के रूप में अपने अनुभवों के आधार पर इस पर विस्तार से चर्चा करें।

2.9 सारांश

समाज के संस्थागत बंदोबस्तों ने सामाजिक लिंग रूढ़िकरण को जन्म दिया है और महिलाओं को पुरुषों के अधीन बना कर इसे स्थायी भी बनाया है। सामाजिक-लिंग रचना परिवार में समाजीकरण और वर्ण-व्यवस्था में श्रम के लैंगिक विभाजन की प्रक्रिया, पवित्रता और अपवित्रता की प्रथाओं और अनुलोम विवाह और धार्मिक विश्वासों और मूल्यों के जरिए शाश्वत रूप धारण कर लेती है। सामाजिक-लिंग रचना की प्रक्रिया को समाज की पंथनिरपेक्ष संस्थाएं जैसे मीडिया, श्रम-बाजार और राज्य भी जारी रखते हैं। यहां ध्यान देने की बात यह है कि इन बंदोबस्तों ने महिलाओं को उपेक्षित और अलाभकारी स्थिति में ला रखा है।

2.10 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

बंधुता	:	विवाह के जरिए संबंध
रक्त संबंध	:	रक्त और समान पूर्वजों के जरिए संबंध
दोहरा बोझ	:	घर के कामकाज के अलावा घर के बाहर वैतनिक रोजगार करने का बोझ साथ-साथ ढोना।
विकासीय	:	एक चरण से दूसरे चरण में परिवर्तन की क्रमबद्ध प्रक्रिया। जैसे मानव सभ्यता का एक चरण से दूसरे चरण में विकास।
सगोत्र विवाह	:	अपने समूह में ही विवाह की प्रथा जैसे जातिगत सगोत्र विवाह।
गृहिणीकरण	:	वह प्रक्रिया जिसमें महिलाओं को सार्वजनिक कार्यक्षेत्र से अलग कर उन्हें घरेलू काम-काज के दायरे में समेट दिया जाता है।

2.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अग्रवाल, बीना (1991) *पैट्रियार्की एंड द माडर्नाइजिंग स्टेट: एन इंट्रोडक्शन.* नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन

माइस, मारिया (1988) मारिया माइस संपादित वीमेन द लास्ट कॉलोनी में *"सोशल ओरिजिन्स ऑफ द सेक्सुअल डिवीजन ऑफ लेबर"* नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

थार्न, बैरी (1982), बैरी थॉर्न और मैरिलिन यालोम संपादित *रिथिंकिंग द फैमिली* में "फेमिनिस्ट रिथिंकिंग ऑफ द फेमिली" न्यूयार्क : ओरिएंट लांगमैन.

इकाई 3 समाजीकरण और सामाजिक-लिंग रचना की विचारधाराएं

रूपरेखा

3.0 लक्ष्य और उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 समाजीकरण और विचारधारा क्या हैं?

3.3 बचपन और बड़ा होना

- 3.3.1 मुहावरे, समाजीकरण और विचारधारा
- 3.3.2 सामाजिक-लिंग विभेदक; भूमिका का रूढ़िकरण और विचारधारा

3.4 विवाह और उसकी वैचारिक रचनाओं के जरिए वयस्क जीवन

- 3.4.1 विवाह को मिला विशेष सांस्कृतिक महत्व
- 3.4.2 विवाह के बाद कठोर आचार संहिता
- 3.4.3 मातृत्व और नारी के रूप में उभरना

3.5 समाजीकरण और विचारधाराएं: नए रुझान

- 3.5.1 विवाह और शिक्षा में बदलाव
- 3.5.2 कामकाजी महिलाओं के लिए बदलता श्रम-विभाजन
- 3.5.3 सामाजिक लिंग सोच की विचारधारा: नए रुझान और कुछ प्रश्न

3.6 समकालीन भारत में नारी: विरोधाभासी पहचान

- 3.6.1 प्रचलित धारणाएं और विरोधाभास
- 3.6.2 वैकल्पिक विचारधाराएं
- 3.6.3 परिवार प्रणाली: बिसरे की पुनर्रचना हो
- 3.6.4 धर्म: बिसरे की पुनर्रचना हो

3.7 सारांश

3.8 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

3.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.0 लक्ष्य और उद्देश्य

पिछली इकाईयों में हमने आपको सामाजिक-लिंग (जेंडर) रचना-की प्रक्रियाओं और उसके संस्थागत आधारों के बारे में जानकारी दी थी। इस इकाई में हम सामाजिक-लिंग (जेंडर) रचना के वैचारिक आधार के बारे में बताएंगे। असल में समाजीकरण के जरिए समाज कुछ खास किस्म की विचारधाराओं को हमारे मन में बिठाता है, और उन्हीं के अनुसार हमारा सोच और आचरण ढल जाता है। ये विचारधाराएं इसी तरह पीढ़ी दर पीढ़ी निरंतर चलती रहती हैं। यहां पर अब आपके मन में कुछ बुनियादी सवाल पैदा हो सकते हैं। जैसे: ऐसी कौन-कौन प्रमुख विचारधाराएं हैं जो

महिलाओं को पराधीन बनाती हैं? क्या समाजीकरण के पैटर्न भारत में सदियों से वही चले आ रहे हैं? महिलाओं के लिए समाजीकरण के पैटर्नों के क्या मायने हैं? इस इकाई का लक्ष्य इन प्रश्नों को गहराई से टटोलना है। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप :

- समाजीकरण और विचारधारा की संकल्पनाओं की व्याख्या कर सकेंगे और उन्हें सामाजिक-लिंग सोच की रचना से जोड़ सकेंगे;
- जीवन के विभिन्न चरणों में, जैसे: बचपन, यौवनावस्था और मातृत्व, समाजीकरण के जरिए सामाजिक-लिंग रचना की प्रक्रिया का विश्लेषण कर पाएंगे;
- समाजीकरण के नए रुझानों और महिलाओं के लिए उनके मायनों पर चर्चा कर सकेंगे;
- एक ओर धर्मशास्त्र और वैचारिक धारणाओं और दूसरी ओर भारतीय समाज में अनुभवजनित यथार्थ से उत्पन्न महिलाओं की विरोधाभासी स्थिति का विश्लेषण कर सकेंगे; तथा
- सामाजिक लिंग पुर्नरचना और विशेषकर परिवार और समाज में महिलाओं की स्थिति की पुनर्रचना के लिए वैकल्पिक प्रगतिशील विचारधाराओं का पता लगा पाएंगे।

3.1 प्रस्तावना

समाजीकरण का आधार सामाजिक मूल्य हैं क्योंकि यह समाज के नए सदस्यों में उसके खास आदर्शों और मानदंडों का विकास करता है। सामाजिक-लिंग आधारित समाजीकरण स्पष्टतया एक मूल्य-आधारित प्रक्रिया है, जिसके जरिए स्त्रियों का बचपन से समाजीकरण करने के लिए चुनिंदा सामाजिक आदर्श प्रयोग किए जाते हैं ताकि वह विनम्र, पराधीन, अदृश्य, सहनशील और पददलित रहें। सामाजिक मिथक, आदर्श, नियम, रीति-रिवाज, विश्वास, रूढ़ियां इस प्रकार के समाजीकरण के लिए एक मिला-जुला आधार प्रदान करती हैं। यह इकाई विस्तार से इसी प्रक्रिया पर चर्चा करती है। हमने यह चर्चा समाजीकरण और विचारधारा की संकल्पनाओं से शुरू की है। बचपन से यौवनावस्था में विकसित होने की प्रक्रिया में मानव जीवन में समाजीकरण के महत्व की इस इकाई में गहराई से चर्चा की गई है। सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) में विभिन्न कहावतों की भूमिका, विभेदकों और भूमिका के रूढ़िकरण पर भी हमने चर्चा की है। यौवनावस्था और मातृत्व के दौरान समाजीकरण की भूमिका और विवाह संस्था और आचार संहिता से उनके संबंध के बारे में आपको यहां विस्तार से जानने को मिलेगा।

बहरहाल समाजीकरण एक गतिशील, परिवर्तनात्मक प्रक्रिया है। समाजीकरण के आदर्श आधुनिकीकरण की विभिन्न शक्तियों के प्रभाव में बदल जाते हैं, जैसे: शिक्षा, जन संचार, शहरीकरण, आधुनिक कामधंधे या कारोबार। ये सभी सामाजिक-लिंग सोच रचना की प्रक्रियाओं में सहायक हैं, जिसके लिए ये या तो वैकल्पिक विचारधाराओं का विकास करती हैं या फिर प्रचलित विचारधाराओं को ही मजबूत बनाती हैं। हमने इन पहलुओं पर भी यहां चर्चा की है। आखिर में हमने भारतीय नारी की विरोधाभासी पहचान के बारे में बताया है कि किस तरह वह धर्मशास्त्रों और संकल्पनात्मक द्वैतता से उपजी हैं। यह इकाई भारतीय नारी के लिए एक प्रगतिशील, वैकल्पिक छवि ढूंढती है, जिसे हमारा समाज, परिवार और धर्म के भीतर उसकी रचना करके हासिल करने का प्रयास कर सकता है।

सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) रचना के मूल में निहित सामाजिक संस्थाओं और ढांचों का विवेचन करने के बाद हम अब यह समझने का प्रयास करेंगे कि सामाजिक अपेक्षाओं के आंतरिकीकरण (उन्हें हमारी सोच और आचरण का हिस्सा बनाने) की प्रक्रिया के रूप में समाजीकरण सामाजिक-लिंग भेदों को किस तरह तर्कसंगत और हमारे समाज में उन्हें सतत और चिरस्थायी बनाता है।

3.2 समाजीकरण और विचारधारा क्या हैं?

आप अवश्य ही समाजीकरण और विचारधारा का मतलब जानना चाहते होंगे। आइए हम अपनी बात इन्हीं संकल्पनाओं से शुरू करते हैं।

क) समाजीकरण

समाजीकरण की प्रक्रिया दो तरह से काम करती है। पहला, यह निजी स्तर पर सामाजिक मूल्यों और नियमों का इस तरह से आंतरिकीकरण करती है कि वे मनुष्य के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाते हैं। इसके चलते आत्म-नियमन या अनुशासन का जन्म होता है और बाहरी नियमन की जरूरत नहीं पड़ती, क्योंकि व्यक्ति को तब खुद-ब-खुद समाज के नियमों को मानने की जरूरत महसूस होती है। दूसरा, समाजीकरण समाज में लोगों के बीच पारस्परिक व्यवहार का एक अभिन्न घटक है। इसके सांस्कृतिक संदेशों को व्यक्ति समाज में अन्य के साथ अपने परस्पर-व्यवहार में बराबर संचारित करते हैं और उनका आदान-प्रदान, लेन-देन करते हैं। असल में दूसरों की अपेक्षाओं के अनुरूप अपने पारस्परिक -व्यवहार को संचालित करते-करते ही व्यक्ति का समाजीकरण हो जाता है।

समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के पूरे जीवनकाल में चलती है और यह नर-नारी को जीवन के विभिन्न चरणों पर उनकी भूमिकाओं के अनुसार तैयार करती है। इसीलिए छोटे बच्चे के समाजीकरण को समाजीकरण का आरंभिक चरण कहा जाता है। द्वितीय चरण में मुख्यत: स्कूली बच्चे का समाजीकरण होता है। तीसरा चरण वयस्क समाजीकरण का है जो युवा पात्रों को पति-पत्नी, मां-बाप, कर्मचारी, नियोक्ता जैसी भूमिकाओं के लिए तैयार करने की प्रक्रिया है।

ख) विचारधारा

यह एक ऐसी संकल्पना है जिसे अलग-अलग तरीके से समझा जाता है। समाजशास्त्रीय वार्ताओं में इस पर खूब बहस होती है। अपने प्रयोजन के लिए हम इसकी सरल सी व्याख्या यहां दे रहे हैं। विचारधारा असल में परस्पर जुड़े विचारों, विश्वासों, मनोवृत्तियों और धारणाओं का समूह है जो एक खास प्रभाववादी विचार शैली की आधारशिला रखते हैं। यह समाज के प्रभावशाली जनसमूहों और वर्गों के हितों की पूर्ति करती है और एक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में समाजीकरण और रीतिरिवाजों का स्वरूप तय करती है।

इस इकाई में यह बताने का प्रयास किया गया है कि विचारधारा किस तरह से एक प्रभुत्ववादी और भेदभाव भरे पितृसत्तात्मक ढांचे को तार्किक आधार प्रदान करती है और विशेष वर्ग, जाति और पितृसत्तात्मक हितों की पूर्ति के लिए यह किस तरह से वास्तविकता को तोड़ती-मरोड़ती है।

3.3 बचपन और बड़ा होना

भारत के औसत परिवारों में लड़की का जन्म लेना ही दु:ख भरी घटना होती है। कई हिंदू परिवारों में पहली बेटी जन्म लेती है तो मां-बाप और संबंधी उसे 'लक्ष्मी' कह कर अपने दिल को तसल्ली देते हैं। लक्ष्मी को धन और वैभव की देवी माना जाता है। सो उन्हें यही आशा रहती है कि वह अपने साथ धन और वैभव तो लाएगी ही साथ ही उसके गद नर संतानें उत्पन्न होंगी। मगर इसके बाद अगर आगे की संतानें लड़कियां ही हों तो पूरा परिवार निराशा में डूब जाता है। इधर मां खुद को परिवार पर बोझ बढ़ाने के लिए दोषी मानने लगती है तो उधर उसकी बेटियां ऐसी स्थिति में जीने के लिए विवश हो जाती हैं, जिसमें वे अवांछित रहती हैं और उनसे प्रत्यक्ष रूप से घृणा की जाती है।

3.3.1 मुहावरे, समाजीकरण और विचारधारा

लड़की पैदा होने के कारण वे कितनी अवांछित हैं, इन आभागी लड़कियों को यह बार-बार बताया जाता है। जैसे: उन्हें कहा जाता है कि उनके विवाह पर कितना भारी खर्च आएगा, उन पर निवेश (पढ़ाई आदि पर खर्च) करना बालू में पानी डालने जैसा है, मां-बाप की तो किस्मत ही फूटी है, जो उन्हें ऐसे फूल को पालना-सींचना है जो खिलेगा तो दूसरे के आंगन में, बुढ़ापे में मां-बाप को कोई सहारा नहीं। इस तरह के कई दुखड़े हैं जो मां-बाप लड़कियों के लिए रोते हैं। लेकिन इनका यही आशय रहता है कि बेटी पराया धन (पराई अमानत) है तो बेटा बुढ़ापे का सहारा। यह वैचारिक समझ नर संतान को उलटे आदर्श की ओर ले जाती है। नव-विवाहिताओं को हमारे यहां यह आशीष देने की परंपरा रही है, "सौ पुत्रों की मां बनो।" हालांकि सौ पुत्रों के इस मुहावरे को आज के छोटे परिवार के युग में दर-किनार कर दिया गया है, मगर यह आशीर्वाद अब भी बेटों को जन्म देने के लिए ही दिया जाता है। किसी भी दंपती को बेटी का मां-बाप बनने का आशीर्वाद नहीं दिया जाता है। भारत में लोगों के जीवन में धार्मिक कर्मकांड और रस्में एक महत्वपूर्ण पहलू हैं। विशेषकर स्त्रियां बेटों के जन्म या उनकी लम्बी उम्र के लिए विशेष प्रकार के व्रत और पूजा-पाठ करती हैं। गणेश चतुर्थी एक ऐसा त्योहार है जिस दिन उत्तर भारत की महिलाएं अपने बेटों की दीर्घायु की कामना करती हैं। कुछ धार्मिक कर्मकांडों या रिवाजों में लड़कियों को भी थोड़ा-बहुत महत्व मिल जाता है। 'कंजक' या कन्या पूजा एक ऐसा ही रिवाज है जिसमें छोटी बच्चियों की पूजा और आवभगत की जाती है क्योंकि नारी के कुंवारे शरीर को देवी का वास माना जाता है।

रूढ़ियों को तोड़ कर, रसोई के काम में मां की मदद करता हुआ लड़का

सौजन्य : शेखर, नई दिल्ली

कन्या के बाद अगर बेटा जन्म ले तो बेटी भी सम्मान और स्नेह की दावेदार बन सकती है क्योंकि तब उसे शुभ माना जाता है, जिसके दुनिया में पैर रखने से परिवार का भाग्य उदय होता है। मगर घर का चिराग या कुलदीपक सिर्फ बेटा ही होता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि पितृसत्तात्मक, पतिस्थानिक ढांचे में बेटा ही अपने कुल के लिए वैध वारिसों को जन्म दे सकता है और वंश को आगे बढ़ा सकता है। अपने माता-पिता की चिता को अग्नि देने का सांस्कृतिक अधिकार बेटे को ही प्राप्त है ताकि माता-पिता को मोक्ष और उनकी आत्मा को शांति मिले।

3.3.2 सामाजिक-लिंग विभेदक, भूमिका का रूढ़िकरण और विचारधारा

इस प्रकार कौन अपना और कौन पराया है, इसका वैचारिक आधार ही सामाजिक-लिंग विभेदकों के साथ पारिवारिक संसाधनों जैसे भोजन, शिक्षा, स्वास्थ्य सुरक्षा, निज-स्थान और अवकाश, के भेदभावपूर्ण वितरण को उचित ठहराता है। इसका चरम विकृत रूप हमें मादा शिशु हत्या, और उल्ब परीक्षण (एम्नियोसिंटेसिस) जैसी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी के जरिए मादा भ्रूणहत्या जैसे प्रचलनों में दिखाई पड़ता है। 'पराई अमानत' की धारणा समाज में लड़कियों की गतिशीलता और उनकी लैंगिकता पर पितृसत्ता की आवश्यकताओं के अनुरूप अंकुश लगाने की ओर जाती है। इसीलिए लड़कियों की हंसी, उनके चाल-चलन, खान-पान की आदतों और खेल-कूद और मनोरंजन के क्रिया-कलापों पर नजर रखी जाती है। ये नियंत्रण उन पर छोटी उम्र से शुरू हो जाते हैं जो उनके किशोरावस्था में कदम रखते ही कठोर हो जाते हैं। मां-बाप और घर के बड़े जन इसका बड़ा ध्यान रखते हैं कि उनसे कहीं कोई चूक या ढील न हो जिससे लड़की भटक जाए और उसके चरित्र पर अंगुलियां उठें।

मां-बाप के अलावा लड़कियों को उनके पुरुष सहोदर (भाइयों), जो उम्र में उनसे छोटे हों तो भी, अनुशासन में रखते हैं। लड़कियों को अक्सर कहा जाता है कि वे शादी होने और अपनी ससुराल जाने तक इन्तजार करें, उसके बाद जो मन में आए करें। इससे लड़कियों को दो टूक शब्दों में एहसास करा दिया जाता है कि उन्हें अपने मां-बाप को अपना घर कभी नहीं समझना चाहिए क्योंकि औरत का घर वहीं है, जहां उसका पति है। मां-बाप यही चाहते हैं कि बेटी का अपने पति के घर में प्रवेश अच्छा, शुभ हो, जिसके लिए मां उसे बहु और पत्नी की भूमिका के सभी दायित्वों और धर्म का पालन करने की सीख देती है और उसे इन सबके लिए तैयार करती है। इस तरह औसत भारतीय परिवारों में लड़कियों पर अक्सर खाना बनाने, साफ-सफाई करने, परिचर्या या सेवा सश्रुवा करने जैसे तमाम काम थोप दिए जाते हैं ताकि वे अपने भावी वैवाहिक जीवन की जिम्मेदारियों को अच्छी तरह निबाहने के लिए तैयार हो सकें। इस प्रक्रिया में लड़कियों में अपने आपको तुच्छ समझने और आत्म-बलिदान के गुण आ जाते हैं। इन्हीं गुणों को स्त्रियोचित भूमिका में उनके समुचित समाजीकरण की अनिवार्य शर्त माना जाता है।

नर शिशुओं की स्थिति इसके एकदम उलट है। लड़कों के जन्म लेने भर से मां-बाप और समूचा कुनबा अपने आपको गौरवान्वित महसूस करता है। मां-बाप के लाड़-प्यार और आर्कषण का केन्द्र वे ही रहते हैं। गरीब घरों में भी लड़कों को विशेष दर्जा हासिल रहता है, जिसके चलते उन्हें अच्छा और अधिक भोजन मिलता है, मां-बाप उनकी देखभाल पर अधिक ध्यान देते हैं, उन्हें आत्म-विकास के लिए अधिक अवसर मिलते हैं जैसे; शिक्षा और इधर उधर आने जाने या घर से बाहर यात्रा करने की छूट, उन्हें घर और बाहर की जिम्मेदारियों से मुक्त रखा जाता है और उन्हें ज्यादा निजी स्वतंत्रता दी जाती है। उन पर अनुशासनात्मक नियंत्रण कम रहता है और घर में उन्हें अक्सर एक ही व्यक्ति नियंत्रण में रख सकता है और वह है उनका पिता। हिन्दू पितृसत्तात्मक परिवारों में तो मां का अपने छोटे-छोटे बेटों पर इतना भी अधिकार नहीं चलता कि वह उन्हें अनुशासित कर सके।

जैसे धार्मिक अनुष्ठानों के जरिए इसे प्रतिष्ठित किया जाता है। शब्दशः पतिव्रता का अर्थ ऐसी स्त्री से है जो अपने पति को समर्पित हो। इस धारणा के अनुसार जो पत्नी अपने पति के प्रति समर्पण, उसकी सेवा और उसकी इच्छा की पूर्ति करना अपना धर्म, अपना कर्तव्य माने और मन और कर्म से अपने पति के कल्याण के लिए जीवित रहे और मरे, वही आदर्श पत्नी है। यह आदर्श, जिसकी शर्तें पूर्ण रूप से सर्वस्व न्यौछावर करना और खुद को तुच्छ समझना है, कुछ इस तरह से रचा गया है कि इसके अनुसार उन स्त्रियों पर भाग्य की सबसे बड़ी कृपा होती है जो सौभाग्यवती या सुहागिन हैं। यानी जिनके पति जीवित हैं। वैचारिक रूप से सिर्फ ऐसी महिलाएं ही शुभ और भाग्यशाली हैं और उन्हें अपने इस सौभाग्य को पतिव्रता रहकर बनाए रखना चाहिए। धार्मिक विधान भी यही है कि धार्मिक रस्मों और शुभ अवसरों में सिर्फ ये स्त्रियां ही भाग ले सकती हैं। इस धारणा के नकारात्मक अभिप्राय भारत में विधवाओं के साथ परंपरागत रूप से चले आ रहे दुर्व्यवहार में नजर आ जाते हैं, जिन्हें अशुभ, मनहूस और इसलिए सामाजिक रूप से अछूत माना जाता है। शुभ और अशुभ नारी के बीच का वैचारिक विभाजन हमें सुहागिन और विधवा के मामले में अपने चरम रूप में नजर आ जाता है जहां नारी की लैंगिकता को नियंत्रित करने के लिए पितृसत्तात्मक समाज खान-पान, वेशभूषा और आचरण के लिए विस्तृत संहिताएं उन पर थोपता है। ये सभी स्त्री के लिए वैवाहिक विचारधाराओं की कैद से निकलना असंभव बना देते हैं।

3.4.3 मातृत्व और नारी के रूप में उभरना

भारतीय संस्कृति और परंपरा में जननी और मातृत्व को सदा से महिमामंडित किया जाता रहा है। यह नारी को एक विशेष दर्जा देता है। अन्यथा उसे कोई महत्वपूर्ण सांस्कृतिक स्थान हासिल नहीं है। ब्राहमणवादी शास्त्रों में हालांकि श्रेष्ठ मातृत्व के लिए स्पष्ट आदर्श तय नहीं हैं, मगर एक महत्वपूर्ण भूमिका के रूप में मातृत्व की सांस्कृतिक और वैचारिक व्याख्या मौजूद अवश्य है। मां को बलिदान और ममता की मूरत के रूप में दिखाया जाता है जो पत्नी के विपरीत अपने वंश में होती हैं और बच्चे जिसके नियंत्रण में होते हैं। इसका परिणाम है मौखिक परंपरा और साहित्य का भंडार जो मातृत्व का महिमामंडन कर उसे नारी के लिए अनिवार्य बना देता है और इस तरह एक साधारण सी भूमिका को अलौकिक भूमिका में रूपांतरित कर डालता है।

जहां तक सच्चे अनुभव की बात है, यह सच है कि भारी गरीबी, बेरोजगारी और बच्चे पालने के कष्टसाध्य श्रम के बावजूद मातृत्व भारतीय नारी को एक प्रयोजन और पहचान देता है, जो संस्कृति ने उसे नहीं दिया है। हमने पीछे यह बताया है कि भारत में दुल्हन अपने पति के परिवार में पत्नी के रूप में नहीं बल्कि बहू के रूप में प्रवेश करती है। पति के साथ उसकी अंतरंगता को यह विस्तृत परिवार सायास बढ़ने नहीं देता। इसलिए परायों के बीच मां को अक्सर अपने बच्चों से ही लगाव रहता है। इस तरह भारत में महिलाओं से यही अपेक्षा की जाने की परंपरा रही है कि वह भावनात्मक जरूरतों की पूर्ति मुख्यतः बच्चों के साथ अपने रिश्ते के जरिए ही करें। यही अक्सर होता है।

असल में पति से अंतरंगता या आत्मीय संबंध तो बाद में ही विकसित होते हैं जब दोनों को अपनी संतान की देखभाल की जिम्मेदारियों को मिल-जुलकर उठाना पड़ता है। इस तरह मातृत्व ही भारतीय वधू के लिए एक ऐसा परंपरागत जरिया रहा है, जिससे वह नारी के रूप में उभरती है। एकमात्र यही भूमिका है जिससे उसे अपने कुनबे, समुदाय और जीवन में कोई सम्मान मिल पाता है।

इससे जुड़ी एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि मां को परंपरागत रूप से अलिंगी (कामवासनारहित) माना जाता है। माताओं के लिए सांस्कृतिक आदरभाव हमें अन्य पुरुषों के साथ उनके परस्पर-व्यवहार में नजर आता है, जिसमें माताएं अधिक सुरक्षित महसूस करती हैं। इसके फलस्वरूप उन पर रखे जाने वाले नियंत्रणों में ढील दे दी जाती है और वे स्वतंत्रता और सत्ताधिकार का प्रयोग कर लेती हैं जो उन्हें पहले कभी हासिल नहीं होता। यह और पत्नी व मां के रूप में नारीत्व के दोहरे आदर्शों के लिए उनकी पूर्व की तैयारी ये दोनों भारतीय माताओं को भावुक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन सबके फलस्वरूप मातृत्व ऐसा कोई नकारात्मक विचार प्रकट नहीं करता कि उसे

एक भूमिका के दायरे में कैद कर दिया गया है जो उससे कठोर और नीरस काम की मांग करती है। मगर यहां बताए जाने की जरूरत है कि भारत के संदर्भ में मातृत्व के स्तुतिगान ने असल में नारी पर एक रचित भूमिका थोप दी है। इससे अनिवार्यतः पितृसत्तात्मक या पुरुष प्रधान समाज की तुष्टि होती है जो माताओं को यथार्थ में कोई सत्ताधिकार तो नहीं देता बल्कि मातृत्व को शोषित लिंग (स्त्रीजाति) के लिए एक भावनात्मक और मानसिक संबल बना देता है।

अपने साथियों के साथ चर्चा कीजिए

- मातृत्व की स्तुति किस तरह से नारी पर ढांचागत भूमिका थोपने में सहायक होती है? क्या आप स्पष्ट कर सकते हैं?
- पतिव्रता की संकल्पना वैवाहिक जीवन के पितृसत्तात्मक मूल्यों को महिलाओं पर किस तरह से थोपती है?

इन पर मनन कीजिए और फिर पिछले भाग में की गई चर्चा व अपने दैनिक अनुभव के आधार पर उत्तर दीजिए।

3.5 समाजीकरण और विचारधाराएं: नए रुझान

संयुक्त परिवार के घरेलू चरित्र की अखंडता प्रभावित हुई है और आज के परिवारों में छोटे नाभिक कुनबों की ओर रुझान बढ़ रहा है। शैक्षिक प्रभाव और शहरीकरण व औद्योगीकरण से उपजे अनुभवों के फलस्वरूप परिवार के अंदर योग्यता में विविधता और उनमें परिपक्वता आई है, जो अब तक घर के नर मुखिया के अधिकार में थे और जिससे अधिकारों का विकेन्द्रीकरण हुआ है। इन सबका एक तुल्य प्रभाव यह रहा है कि परस्पर-निजी संबंधों में लचीलापन आया है। जैसा कि पहले बच्चों के प्रति पिता की संरक्षक की भूमिका को या पति के पत्नी के साथ संबंध को सिर्फ बाध्यकारी दायित्व माना जाता था। मगर अब इस अधिकार में अक्सर प्रगट घनिष्ठता, आत्मीयता और स्नेह का पुट भी शामिल किया जाने लगा है। जहां तक कन्याओं का सवाल है, यह परिवर्तन ऊंची जातियों के परिवारों के रूढ़िवादी दृष्टिकोण में भी नजर आने लगा है। बेटी के जन्म लेने का मलाल तो अमूमन नजर आता है और कन्याओं के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार अभी भी किया जाता है। मगर जो तटस्थता, अरुचि और औपचारिकता पिता के बेटी के साथ संबंधों में नजर आती थी उसे शिक्षित और समझदार अभिभावकों ने त्याग दिया है। लड़की की शिक्षा को सिर्फ शहरी मध्यम वर्ग ही नहीं बल्कि निम्न वर्ग के माता-पिता भी बढ़-चढ़कर समर्थन दे रहे हैं जो भाइयों की तुलना में अपने से बरते जाने वाले भेदभावों पर खुलकर प्रश्न उठा सकती है। फिर अगर वह वैतनिक रोजगार में लगी हो तो उसके साथ कोई भेदभाव नहीं किया जाता।

3.5.1 विवाह और शिक्षा में बदलाव

इन सभी परिवर्तनों के बावजूद विवाह अमूमन मां-बाप और घर के बड़े-बुजुर्ग ही तय करते हैं। मगर विवाह की उम्र में निश्चित वृद्धि के साथ आधुनिक युवक और युवतियां विवाह के मामले में अपनी रुचि के अनुसार निर्णय ले रहे हैं। सो प्रेम विवाह अगर आज भी उतने अधिक प्रचलित नहीं हुए हैं तो उन पर प्रतिबंध भी कुछ दशकों पहले जितने कठोर नहीं रहे।

विवाह के लिए रिश्ते तय करने में दुल्हन की शैक्षिक उपलब्धियां अब महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं और अपनी बेटियों व बहुओं की शिक्षा और नौकरी से विशेष रूप से मध्यम-वर्गीय परिवार अपनी हैसियत में इजाफा कर रहे हैं।

समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं में वैवाहिक विज्ञापन स्तंभ एक नए रुझान को दर्शाते हैं जो वैवाहिक नियमों की लीक से हटकर जाने का संकेत है, खासकर महानगरों में। मगर यह परिवर्तन गुणात्मक न हो कर परिमाणात्मक हैं, क्योंकि बहुसंख्य विज्ञापनों में वर-वधू के चयन के वही परंपरागत मानदंड ढूंढे जाते हैं।

3.5.2 कामकाजी महिलाओं के लिए बदलता श्रम विभाजन

कामकाजी महिलाएं और नई पढ़ी लिखी लड़कियां दब्बू, खुद को भुला देने वाली पत्नी की परंपरागत भूमिका को स्वीकार नहीं कर रही हैं। वे अब अधिकाधिक एक सहचरी, संगी की भूमिका निभाना पसंद कर रही हैं जो अपने छोटे से घर में पति के साथ-साथ अपना भी अधिकार, सीमित मात्रा में ही सही, चला रही हैं। अध्ययन बताते हैं कि आज कुछ पति घर के कामकाज में अपनी पत्नी का हाथ बटाने लगे हैं। घर में श्रम विभाजन में यह अपने आप में एक महत्वपूर्ण बदलाव है, हालांकि यह अभी बच्चे की देख-रेख से जुड़े कामों तक ही सीमित है। बाकी के सभी काम महिलाओं के हिस्से में ही आते हैं। परिवार में महिलाओं का परंपरागत पार्थक्य यूं तो अभी पूरी तरह से दूर नहीं हुआ है, लेकिन आज वे अधिक स्वतंत्र, आत्मविश्वास से भरपूर हैं। पूर्ववर्ती पीढ़ियों की तुलना में अपनी जरूरतों और आकांक्षाओं को लेकर वे अब ज्यादा मुखर हैं। आज महिलाएं अपने पति के साथ उनके काम में हाथ बंटाती हैं। बुजुर्गों की सोच में भी पुरानी पीढ़ियों की तुलना में काफी बदलाव आ गया है। अपने बेटे के उसकी पत्नी के साथ संबंधों को लेकर वे कम शंकालु रहते हैं और उन्हें यह भय भी कम रहता है कि पति-पत्नी के बीच संबंध परिवार में माता-पिता के अधिकार और भाइयों के बीच बंधुत्व को खतरे में डालेंगे। खुद पति-पत्नी के बीच संबंध अब ज्यादा मुक्त और खुले हैं तो साथ ही पुरुष और स्त्री के कार्यक्षेत्रों के बीच पार्थक्य की खाई उतनी चौड़ी नहीं रही। कमाऊ बीवी घर के महत्वपूर्ण और बड़े निर्णयों में भागीदारी करती है। बच्चों का पालन-पोषण, उनकी शिक्षा और पाठ्येतर क्रिया-कलाप माता-पिता दोनों के लिए दायित्व और अधिकार का क्षेत्र बनते जा रहे हैं। इससे पहले यह भूमिका संयुक्त परिवार के बुजुर्ग और महत्वपूर्ण सदस्यों की थी और मां की भूमिका बच्चे की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने तक सीमित थी। खुद मातृत्व को आज महिलाओं की वास्तविकताओं के बदलते परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया जा रहा है। इन नए रुझानों का क्या तात्पर्य है?

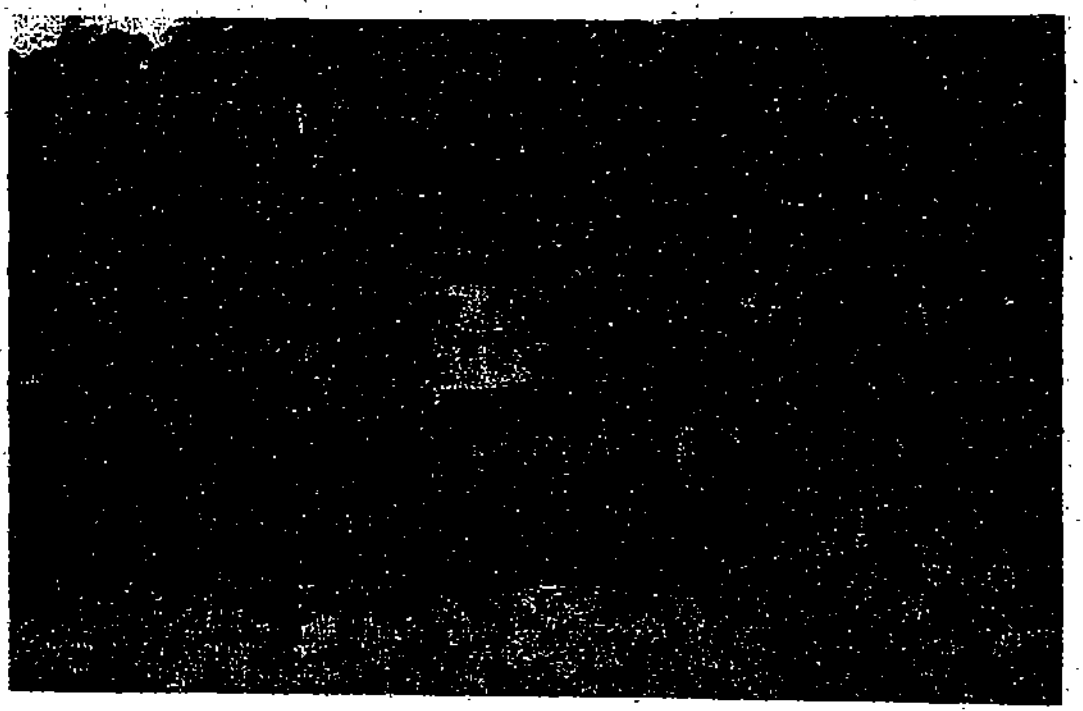

नई भूमिकाएँ, नई परम्पराएँ

साजन्य : देबल के. सिंहराय, इग्नू, नई दिल्ली

3.5.3 सामाजिक लिंग सोच और विचारधारा: नए रुझान और कुछ प्रश्न

समकालीन पारिवारिक ढांचे में सीता और सावित्री जैसी पौराणिक नायिकाओं का वैचारिक महत्व और मनु स्मृति जैसी आचार संहिताएं यूं तो असामयिक और अर्थहीन सी दिखाई देती हैं मगर प्राचीन संस्कृत शास्त्रों और बाद के संस्कृत और देशीभाषी ग्रंथों सहित मौखिक लोक परंपराओं ने उच्च जाति की स्त्रियों के लिए भूमिका के जो आदर्श स्थापित किए वे हमारी सामूहिक चेतना का अंग बन गए। यही आज भी महिलाओं के उचित आचरण के बारे में हमारे विश्वासों और दृष्टिकोणों की रचना करते हैं। दूसरे शब्दों में कहें, तो इसे हम एक उदाहरण देकर स्पष्ट कर सकते हैं कि जब मौजूदा परिप्रेक्ष्य में सामाजिक लिंग सोच की विचारधारा और सामाजिक लिंग संबंधों में हुए बदलावों पर चर्चा करते हैं तो हम खुद से कुछ गहरे सवाल करने की जरूरत महसूस नहीं करते। इन में से कुछ सवाल इस प्रकार हैं:

पति के 'घर की निस्वार्थ देवी और उसकी सुसंस्कृत अर्धांगिनी' के रूप में नारी की अवधारणा और समाजीकरण से हम वास्तव में कितनी दूर तक आ पहुंचे हैं? नर और नारी आज इस अवधारणा की मानसिक दासता से किस हद तक मुक्त हैं कि नारी घर में अपरिहार्य है?

महिलाओं की शिक्षा को जो महत्व मिल रहा है उसके संदर्भ में हमें यह जानना जरूरी है कि महिलाओं और उनके परिवारों के लिए इसकी दृष्टिगत उपयोगिता कितनी है। एक शिक्षित बेटी, पत्नी और बहू परिवार के लिए किस सीमा तक आकर्षण का केन्द्र है? जितना महत्व लड़कियों की शिक्षा को दिया जा रहा है क्या उतना ही स्थान या महत्व उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से मिल रहा है ताकि वे शिक्षा से उपजी अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकें? या क्या यह सिर्फ उन्हें विवाह के योग्य बनाती है? क्या यह महिलाओं के लिए असंतोष लेकर आती है जिन्हें बच्चे और उनके पालन-पोषण के अलावा कोई और उपलब्धि नजर नहीं आती? दूसरे शब्दों में पूछें तो शिक्षित महिलाओं के लिए सांस्कृतिक संभावनाएं क्या हैं?

इसी तरह रोजगार में मध्यमवर्गीय महिलाओं की बढ़ती भागीदारी को लें। महिलाओं के लिए रोजगार की दृष्टिगत भूमिका क्या है? क्या यह शालीन जीवन स्तर के लिए कुछ और सुख-सुविधाएं जुटाने, आर्थिक तंगहाली से उबरने और घर की जरूरतों को पूरा करने के लिए है? या यह उसकी निजी और मानसिक तुष्टि और विकास संबंधी जरूरतों के लिए है? यह सच है कि रोजगार के सहारे उन्होंने वर्ण व्यवस्था द्वारा अपने पर थोपे गए सामाजिक पार्थक्य और आर्थिक पराधीनता की बेड़ियों को तोड़ा है। मगर वहीं यह भी देखने में आता है कि हमारे बीच वर्गीय ढांचा वर्ण व्यवस्था में विद्यमान सामाजिक-लिंग विभाजन की नींव पर ही टिका है। इसलिए जाति की तरह वर्ग भी नारी की शिक्षा, विवाह और रोजगार संबंधी अभिरुचियों को तय करता है और जाहिर है यह कार्य वह पुरुषों से अलग हटकर करता है। रोचक बात यह है कि आज-कामकाजी महिलाओं के कर्तव्य, लक्ष्य और पहचान को पति का वर्ग ही तय करता है

इस संदर्भ में महिलाओं की पहचान के कुछ दूसरे पहलू जैसे किसी महिला की प्रतिष्ठा के बदलते मानदंड अपने आप में बड़े रोचक हैं। आज की तथाकथित स्वतंत्र, शिक्षित और आधुनिक महिलाएं किस सीमा तक पुरुषों के बराबर अपनी पहचान बना रही हैं और इस संकल्पना में अंतर्निहित स्पर्धा में कहां तक आगे बढ़ रही हैं? समाजीकरण की समकालीन प्रक्रियाओं का अति-आशावादी मूल्यांकन करने से पहले यह जरूरी है कि ऐसे खोजी प्रश्न उठाए जाएं। इन प्रश्नों के कुछ समाधान पर आगे के भाग में चर्चा की गई है।

अनुभव से सीखें 1

एक ऐसे घर में जाइए जिसमें पति-पत्नी दोनों ही कामकाजी हों और फिर एक ऐसे घर में जाइए जिसमें सिर्फ पति ही रोजी-रोटी कमाने वाला हो। इनसे पता लगाइए कि क्या इनमें घर के काम काज पति-पत्नी बराबर मिल जुलकर करते हैं? परिवार में बड़े फैसले कौन करता है? क्या इसमें महिलाएं भी भाग लेती हैं? अगर इन मामलों में दोनों परिवारों में कोई अंतर आपको नजर आता है तो उसे बताइए और यह पता लगाइए कि इस अंतर के मुख्य कारण क्या हैं।

3.6 समकालीन भारत में नारी: विरोधाभासी पहचान

पत्नी के रूप में भारतीय नारी की भूमिका के लिए निर्दिष्ट कठोर नियम और मां के रूप में उससे की जाने वाली मानवेतर अपेक्षाओं को दुनिया एक ओर इस बात का प्रमाण मानती है कि भारतीय नारी शोषित और उत्पीड़ित है। तो दूसरी ओर ऊंचे पेशों, राजनीति और सामाजिक क्षेत्रों में समकालीन नारी की उपस्थिति को इस बात का प्रमाण माना जाता है कि उन्हें दक्षिण एशियाई समाजों की तुलना में ज्यादा सांस्कृतिक महत्व उपलब्ध है। स्यूजन वैडली ने इस अंतर्विरोध को ऊंची जाति की महिलाओं के उदाहरण से समझाने का प्रयास किया है, जिसके लिए उन्होंने शास्त्रों में मौजूद कुछ संकल्पनात्मक द्वैतता को उठाया है।

3.6.1 प्रचलित धारणाएं और अंतर्विरोध

स्त्रियों को चाहे वे स्वर्ग में रहने वाली देवियां हों या धरती पर रहने वाली नश्वर मानुषी उन्हें जहां जननी और परोपकारी माना जाता है तो वहीं उन्हें चंडी और अपकारी भी कहा जाता है। परोपकारी और विध्वंसक का यह दोहरा रूप उन्हें सुख और वैभव या विनाश लाने की शक्ति देता है। एक ही व्यक्ति के इन दो विरोधीभासी पहलुओं के पीछे यही सांस्कृतिक तर्क दिया जाता है कि स्त्री 'शक्ति' और प्रकृति दोनों है। शक्ति ब्रह्मण्ड की ऊर्जा या जीवनदायी मूल प्राण है तो प्रकृति उसका अविच्छिन्न, अभिन्न भौतिक तत्व है।

अविच्छिन्न तत्व के रूप में प्रकृति का यहां आशय निम्न कोटि के गुणों से है जिनकी कोई संरचना, रूपाकार नहीं है। सो जिसका सिर्फ संस्कृति ही विकास कर सकती है। प्रकृति-संस्कृति की क्रमपरंपरा के बीच इस द्विभाजन का प्रयोग नारी को एक उच्छृंखल अनियंत्रित शक्ति के रूप में तो पुरुष को विभेदित और सुरचित प्राणी के रूप में चित्रित करने के लिए किया जाता है। नारी मूलप्राण, शक्ति और अधिकार की स्वामिनी तो है मगर वैचारिक रूप से यही माना जाता है कि श्रेयस्कर संहिता के प्रचलन से उसकी इस शक्ति और अधिकार को दिशा देने की क्षमता का वरदान नर मूलप्राण को ही प्राप्त है। संस्कृति के लिए जरूरी है कि वह प्रकृति को अपने नियंत्रण में रखे, सो उससे प्रेरणा लेकर पुरुषों के लिए भी यह जरूरी हो जाता है कि वह नारी को अपने नियंत्रण में रखे। तो क्या प्रकृति-संस्कृति के इस द्विभाजन को सृष्टिशास्त्र में पक्षांतरित किया गया है जहां से सामाजिक प्रथाओं का जन्म हुआ? यह अभी बहस का मुद्दा है।

वैडली ने हिन्दू देवगणों में देवी का बड़ा ही महत्वपूर्ण विश्लेषण किया है। जो देवियां अपनी लैंगिकता की स्वामी खुद हैं और जो देवताओं को शक्तियां प्रदान करती हैं उन्हें बेहद विध्वंसक और अपकारी के रूप में चित्रित किया गया है। इसका उदाहरण मां काली है। इसके विपरीत जो देवियां वैवाहिक अवस्था के जरिए अपनी लैंगिकता पुरुषों को सौंप देती हैं और परिवारीकरण का प्रतीक हैं, उन्हें जननी और परोपकारी के रूप में दर्शाया जाता है। लक्ष्मी और पार्वती इसका उदाहरण हैं। उन सभी नियमों और आचार संहिताओं के पीछे वैडली इसी को मुख्य कारण मानती हैं, जो नारी से यह आशा रखते हैं कि वह अपने पर और अधिक नियंत्रण-अधिकार को स्वीकार करे। वैडली आगे कहती हैं कि इन घरेलू पतिव्रता देवियों की छवि की रचना करके ही पितृसत्तात्मक संस्कृति में नारी की

शक्तिशाली और खतरनाक छवि पर विजय पाई है। वैडली के अनुसार नारी जाति की शक्ति, सामर्थ्य के इसी सांस्कृतिक बोध के भीतर से ही कुछ महिलाओं ने अपनी दासता से मुक्ति पाने की राह निकाली है।

3.6.2 वैकल्पिक विचारधाराएं

वैडली ने प्रभावी हिन्दू सामाजिक-लिंग सोच की विचारधारा के दायरे में व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अन्य समाजशास्त्री मानते हैं कि इस विचारधारा ने भारत में कुछ लोगों का समाजीकरण अवश्य किया होगा, मगर यह बात सभी लोगों पर लागू नहीं हो सकती। इस विचारधारा का आधार अनिवार्यत: जाति है और यह बिना चुनौती के कभी नहीं रही है। नारी अधिकारवादियों का कहना है कि हमारे समाज में वैकल्पिक विचारधाराएं भी अस्तित्व में थी, जिन्हें प्रभावी हिन्दू विचारधारा ने हाशिए में धकेल दिया था। उनका मत है कि हमें इन वैकल्पिक विचारधाराओं को पुनर्जीवित करने की जरूरत है। हमारी उदार सांस्कृतिक और धार्मिक विरासत को एक योजनाबद्ध प्रक्रिया के तहत हाशिए में धकेला गया था, जिससे एक ब्राहमणवादी वर्ण व्यवस्था का विस्तार हुआ। मगर इस विरासत को पुनर्जीवित करना, उसे बहाल करना अपने आप में बड़ी कठिन प्रक्रिया है क्योंकि लिखित इतिहास की रचना प्रभावी शक्तियां ही करती हैं जिन्होंने कथानक का सिर्फ एक पक्ष ही इसमें दिया है। जो कुछ भी उपेक्षित और भुला दिया गया है उसे फिर से खड़ा करने के लिए वैकल्पिक स्रोत्रों को ढूंढना, खोजना जरूरी है जैसे: मौखिक इतिहास, पुरातत्व विज्ञान के प्रमाण, जीवित प्रथाएं और संस्थाएं जिन्हें हम सांस्कृतिक अवशेष कहते हैं। इन पर अभी तक जो भी अध्ययन, अनुसंधान हुए हैं वे नर और नारी मूलप्राणों के बीच मुख्यत: दो क्षेत्रों में संघर्ष को दर्शाते हैं: पहला पारिवारिक ढांचे में और दूसरा धार्मिक प्रतीकों के क्षेत्र में।

3.6.3 परिवार प्रणाली: बिसरे हुए की पुनर्रचना हो

परिवार के स्वरूपों के भीतर मातृवंशी और पत्नीस्थानिक परिवार प्रणाली का आर्यों के लगभग 1500 ई.पूर्व आगमन के बाद उनसे संघर्ष हुआ होगा। देशज मातृवंशी परिवार-रूपों के विपरीत आर्यों की परिवार प्रणाली पितृसत्तात्मक या पुरुष प्रधान थी आर्यों के सांस्कृतिक सजाति-केन्द्रवाद ने उनसे अलग सिंधु घाटी के देशज लोगों के वंशक्रम और निवास-स्थान के पैटर्नों को उनके लिए असह्य बना दिया क्योंकि ये लोग नारी मूलप्राण को प्राथमिकता देते थे। सो इन मूल-बाशिंदों पर अपनी सत्ता स्थापित करने के प्रयास में आर्यों ने उनकी इन-प्रणालियों को भी तहस-नहस कर डाला। भारतीय उपमहाद्वीप में ऐसे समुदाय आज भी मौजूद हैं जो मातृसत्तात्मक सिद्धांतों पर चल रहे हैं जो यही साबित करते हैं कि इन्होंने परस्पर- विरोधी और पराई पितृसत्तात्मक प्रणाली को ठुकरा दिया था, जिसमें नर मूल-प्राण को ही महत्ता दी गई थी और जिसमें पितृसत्तात्मक उत्तराधिकार, निवास-स्थान और अधिकार का प्रचलन हुआ। फिर इन समुदायों ने अपना अस्तित्व समाज के हाशिए पर भी कायम रखा है जो विस्थापन और प्रतिस्थापन की प्रक्रिया में एक त्रिविम आयाम जोड़ता है। मालाबार केरलवासी नायर, मेघालय के खासी और गारो और बलूचिस्तान के ब्रहुई इसके उदाहरण हैं।

मातृसत्तात्मक परिवार से जुड़ी धार्मिक परंपराएं ब्राहमणवादी पितृसत्तात्मक परंपरा द्वारा किए गए विनाश के बावजूद भी आंशिक रूप से जीवित रहीं। अपनी पौराणिक कथाओं, विश्वासों, किंवदन्तियों और मौखिक इतिहास में इन वैकल्पिक परंपराओं की झलकी के जरिए ही हम यह समझ पाते हैं कि अतीत में विचारों, उनके अभिप्रायों और व्याख्याओं को लेकर बड़ा संघर्ष था और इनका समूल नाश आखिर क्यों नहीं हो सका।

3.6.4 धर्म: बिसरे की पुनर्रचना हो

आर्यों के आगमन से पहले देशज लोग एक ऐसे धर्म के अनुयायी थे जो प्रकृति पूजा का मिला-जुला रूप था। धरती मां सभी रूपों में जीवन का प्रतीक थी, नारी मूलप्राण की पवित्रता का सूचक थी।

जनन क्षमता को पवित्र माना जाता था, सो वे लोग जनन क्षमता के अन्य प्रतीकों के साथ-साथ कई देवी माताओं की पूजा किया करते थे। मां काली और भगवान शिव की उत्पत्ति के चिन्ह इस युग में ढूंढे जा सकते हैं और ये दोनों आर्यों के भगवान इंद्र से कहीं ज्यादा लंबे समय से मौजूद हैं यह हमें प्रभुत्व के लिए संघर्ष का एक महत्वपूर्ण प्रमाण देता है कि यह संघर्ष हमेशा आर्यों के पक्ष में नहीं गया।

भारत के कई हिस्सों में आज भी देवी माताओं की पूजा होती है। जैसे दक्षिण में देवीमाता की पूजा करने वाले सर्पपंथी समुदाय हैं तो उत्तर में हिमालय की पहाड़ियों में बसे लोग कई तरह की देवी-माताओं की पूजा करते हैं। फिर हिन्दुओं के होली और दशहरा जैसे लोकप्रिय त्योहारों से भी देवियों के नाम जुड़े हैं। बल्कि ऐसी देवी-माताएं भी मिलेंगी जो चेचक और खसरे जैसी बीमारियों से जुड़ी हैं। शीतला माता ऐसी ही एक स्थानीय गैर-ब्राहमण देवी का नाम है।

मगर प्रभुत्ववादी हिंदू ब्राह्मणवादी परंपरा में हम जिन देवियों को जानते हैं उन्हें गैर-ब्राहमणवादी परंपरा की देवियों से हटकर देखने की जरूरत है। गैर-ब्राहममण देवी में हमें ज्यादातर विशेष गुण देखने को मिलते हैं। जैसे वह स्वतंत्र होती है, वह विवाहित नहीं रहती, उसे अपनी लैंगिकता पर पूरा नियंत्रण हासिल रहता है। वह शक्तिशाली और अपकारी दोनों हो सकती है और अगर रुष्ट हो जाए तो विध्वंस और विनाश का कारण बन सकती है। उसके विपरीत ब्राहमण देवियां परोपकारी, सहनशील होती हैं और समृद्धि, संतान और सुख का वरदान देती हैं। अध्ययनों से एक रोचक समझौते की हमें जानकारी मिलती है, जो ब्राहमणवादी परंपरा ने नारी मूलप्राण की देशज महत्ता और नर मूल-प्राण की महत्ता पर खुद अपने विश्वासों के बीच के द्वन्द्व के समाधान के लिए निकाला है। यह समझौता विवाह की धारणा से जुड़ा है जिसे नारी मूल-प्राण को अपदस्थ करने के लिए प्रयोग किया गया। गैर-ब्राहमण देवियों का ब्याह ब्राहमणवादी परंपरा के नर देवताओं से रचा कर इन देवी-माताओं को पुरुष के नियंत्रण में ले आया गया, उनकी लैंगिकता पर अंकुश लगा दिया गया और इस तरह शक्तिशाली देवियों को प्रभावशाली ढंग से परास्त कर उन्हें घरेलू बना दिया गया। यहां हम विचारधारा का यह कार्य देखते हैं कि पुरुष के नियंत्रण से बाहर महिलाएं खतरनाक हैं और उन पर पुरुष नियंत्रण स्थापित करके ही उनकी शक्तियों को कल्याण की ओर मोड़ा जा सकता है।

अपने अध्ययन के निष्कर्ष में लिंडल और जोशी बताते हैं कि जनसाधारण का धर्म जिसे हम लघु परंपरा का नाम देते हैं, में नारी-मूल प्राण की आरंभिक महत्ता के तत्व विद्यमान हैं। शीतला देवी में विवाह और गर्भ धारण के प्रति घृणा बोध को नारी की लैंगिकता को नियंत्रित करने के पितृसत्तात्मक प्रयासों को ठुकराने का प्रतीक माना जा सकता है।

- ऐसा विश्वास प्रचलित है कि चेचक की देवी शीतला गर्भवती स्त्री या विवाहित जोड़े को देखते ही क्रोधित हो जाती है, जिन्हें चेचक के रोगी के पास फटकना तक नहीं चाहिए। विवाहित जोड़े में, पत्नी या पति कोई एक ही उसके पास जा सकता है

पितृसत्तात्मक पक्ष

एक बार देवताओं और असुरों के बीच घमासान युद्ध हो गया। देवता असुरों को रोक नहीं पाए और जब उन्हें लगा कि उनकी पराजय निश्चित है तो मां काली की शरण में चले गए और उससे रक्षा की पुकार करने लगे। मां काली ने असुरों को मार भगाया। अपनी इस विजय से उसमें ऐसा हर्षोन्माद छा गया कि वह खुद मौत का तांडव नृत्य करने लगी। उसके इस नृत्य से धरती भी कांप उठी और उसका नाश निश्चित दिखाई देने लगा। उसे रोकने में नाकाम भयाक्रांत देवता अब उसके पति भगवान शिव के पास पहुंचे। शिव के बहलाने मनाने के बावजूद काली ने नरसंहार और मौत का तांडव नृत्य जारी रखा। अंततः शिव खुद उसके चरणों में लोट हो गए और काली जैसे ही उन पर पैर रखने को थी कि वह अपने होश में आ गई क्योंकि एक हिन्दू पत्नी के लिए अपने ही पति को अपने पैरों तले रौंदना महापाप होता। काली ने अपना विध्वंसक कृत्य वहीं रोक दिया और इस तरह पृथ्वी विनाश से बच गई।

लक्ष्मी की तस्वीर

काली की तस्वीर

नैतिक पाठ: खतरनाक नारी शक्ति पर पुरुष का नियंत्रण जरूरी है। इस नियंत्रण से नारी शक्ति सकारात्मक और कल्याणकारी बन जाती है।

नारी अधिकारवादी पक्ष

प्राचीन युग की प्रतिमाओं और ग्रंथों के अध्ययन और विश्लेषण के आधार पर नारी अधिकारवादी पक्ष शिव और पार्वती के वैवाहिक संबंध पर इस कथानक को केन्द्रित करता है और नारी शक्ति का आह्वान करता है। एक बार पार्वती अपने पति शिव को अपनी कामुक मुद्राओं, भाव भंगिमाओं से आकर्षित नहीं कर पाई। शिव के इस तिरस्कार से क्रोधित हो मां पार्वती ने 'दशहाविद्या काली' का रौद्र रूप धारण कर लिया। काली के इस रौद्र रूप को देख शिव भय से जड़ हो गए। यहां पर ही भगवान के सदाशिव रूप का आह्वान होता है। सिर्फ अचल या जड़ रह कर ही शिव सृष्टि की गतिमान ऊर्जा को शांत कर सकते थे।

नैतिक पाठ: सृष्टि की प्रचंड गतिमान ऊर्जा नारी ही है जिसके प्रचंड वेग के सामने देवता तक नहीं टिक सकते।

यह तो हिंदू धर्म से लिया गया एक उदाहरण मात्र है। दूसरे सभी धर्मों में इस तरह के सूत्र मौजूद हैं। यहां हमने हिंदुत्व से एक मिसाल देकर इस धारणा को समझाने का प्रयास किया है।

अनुभव से सीखें 2

पता लगाइए कि आपके आस-पड़ोस में किस देवी की पूजा होती है। इस देवी की उत्पत्ति और महिमा के बारे में प्रचलित कथाओं को जानने का प्रयास कीजिए। इकाई के इस भाग में दिए गए उदाहरणों के आधार पर इन कथाओं का विश्लेषण कीजिए।

3.7 सारांश

इस तरह हमने जाना कि भारतीय संस्कृति और वैचारिक विरासत में नारी मुक्ति और स्वाधीनता की संभावनाएं विद्यमान हैं। हालांकि प्रभावी विचारधारा ने घरेलूकरण के आदर्शों के जरिए हमेशा ही नारी के पर काटने का प्रयास किया है, लेकिन नारी की बुनियादी शक्ति और अधिकार के शक्तिशाली विचार भी मौजूद हैं जिनसे प्रेरणा लेकर महिलाएं रूढ़िगत सीमित भूमिका रचना के विरुद्ध संघर्ष कर सकती हैं।

इस इकाई ने आपको समाजीकरण की प्रक्रिया और विचारधारा से इसके संबंध के बारे में मोटी जानकारी दी। इस इकाई में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि समाज में प्रचलित विभिन्न मुहावरे किस तरह समाजीकरण की प्रक्रिया और विचारधारा को निरंतर बनाए रखने में योगदान करते हैं, जिसके फलस्वरूप सामाजिक-लिंग भूमिका के रूढ़िकरण और सामाजिक-लिंग विभेदकों की प्रक्रिया चलती है। विवाह, मातृत्व, श्रम विभाजन इत्यादि संस्थाएं भी सामाजिक-लिंग भूमिका को रूढ़िगत बनाने की दिशा में काम करतीं हैं। मगर इस सूत्र में कई अंतर्विरोध मौजूद हैं। इस इकाई में इन अंतर्विरोधों पर भी रोशनी डाली गई।

3.8 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

सजाति केन्द्रवाद : यह दृष्टिकोण कि हमारी संस्कृति दूसरों की संस्कृति से श्रेष्ठ है और अपनी संस्कृति के चश्मे से दूसरी संस्कृति का मूल्यांकन।

समाजीकरण : समाज में वांछित, मान्य बंदोबस्तों के अनुसार समाज के सदस्यों में आचरण, मूल्य, दृष्टिकोण, आदर्श, परंपराओं के विकास की प्रक्रिया।

3.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

लिडल, जे. और आर. जोशी, (1986) *डाटर्स ऑफ इनडिपेन्डेंस: जेंडर कास्ट एंड क्लास इन इंडिया.* नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

इकाई 4 समकालीन भारत में नारी

रूपरेखा

4.0 लक्ष्य और उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 भारत में नारी: सामान्यीकरण की समस्या

- 4.2.1 विविधता के तत्त्व
- 4.2.2 समानता के तत्त्व

4.3 भारतीय नारी और अर्थव्यवस्था

- 4.3.1 महिलाओं के काम को आर्थिक क्रिया-कलाप नहीं मानना
- 4.3.2 कृषि और असंगठित क्षेत्र में महिलाएं
- 4.3.3 ग्रामीण महिलाओं के रोज़गार की समस्याएं
- 4.3.4 संगठित क्षेत्र में महिलाएं

4.4 महिला और शिक्षा

- 4.4.1 महिलाओं की शैक्षिक स्थिति
- 4.4.2 महिलाओं की शिक्षा को दुष्प्रभावित करने वाले कारक

4.5 महिला और स्वास्थ्य

- 4.5.1 स्त्री-पुंजाति अनुपात और आयु संभाविता
- 4.5.2 नाबालिग-विवाह और महिलाओं का स्वास्थ्य

4.6 महिला और राजनीति में उनकी भागीदारी

- 4.6.1 राजनीतिक सहभागिता: अभिप्राय और आयाम
- 4.6.2 राजनीतिक सहभागिता: एक सिंहावलोकन

4.7 भारत में मानव विकास और सामाजिक-लिंग सोच के मुद्दे

- 4.7.1 सामाजिक-लिंग सोच जनित विषमताएं: एक तुलना
- 4.7.2 सामाजिक लिंग का सशक्तिकरण: एक तुलना
- 4.7.3 सामाजिक-लिंग सोच जनित विषमताएं और गरीबी उन्मूलन की प्राथमिकताएं

4.8 सारांश

4.9 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

4.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.0 लक्ष्य और उद्देश्य

यह इस खंड की अंतिम इकाई है। इसमें हमने भारत में महिलाओं की स्थिति पर चर्चा की है जो हमारे समाज में हुई सामाजिक-लिंग रचना की प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। इसे पढ़ लेने के बाद आप:

- भारतीय महिलाओं में पाई जाने वाली विविधता और समानता के तत्त्वों के बारे में बता सकेंगे,
- उनकी आर्थिक स्थिति का विश्लेषण कर सकेंगे,
- समाज में उनकी राजनीतिक सहभागिता के स्वरूप और व्यापकता के बारे में बता सकेंगे; और
- भारत में मानव विकास और सामाजिक-लिंग सोच के मुद्दों के विभिन्न तथ्यों पर एक तुलनात्मक धरातल में रोशनी डाल सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

भारतीय महिलाएं जाति, वर्ग, ग्रामीण, शहर, शैक्षिक, व्यावसायिक, भाषायी इत्यादि के आधार पर बंटी हैं। मगर इन तमाम विविधताओं के बावजूद भारतीय महिलाओं में एक समानता नजर आती है। वह है उनकी उपेक्षा और उन्हें हाशिए में धकेला जाना। उनकी उपेक्षा आर्थिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य, कानूनी, राजनीति इत्यादि क्षेत्रों में उनकी स्थिति में प्रतिबिंबित हो जाती है। इस इकाई में हमने भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति के कुछ सूचकों पर प्रकाश डाला है। उनकी आर्थिक स्थिति पर चर्चा करते हुए हमने उनके काम की अमान्यता, अदृश्यमानता और दोहरे बोझ के मुद्दों को उठाया है। कृषि और असंगठित क्षेत्रों में महिलाओं की कठिनाइयों के बारे में भी चर्चा की है। महिलाओं की शैक्षिक और स्वास्थ्य की स्थिति पर कई कारक प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। इनमें से कुछ की चर्चा हमने इस इकाई में की है। महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता के अभिप्रायों और आयामों के साथ-साथ हमने इस सहभागिता के विभिन्न स्वरूपों जैसे वयस्क मताधिकार, चुनाव, और सामाजिक आंदोलनों में हिस्सेदारी इत्यादि के बारे में भी जानकारी दी है। इस इकाई के अंत में हमने भारत में सामाजिक लिंग विषमताओं के स्वरूपों और उनकी व्यापकता का विश्लेषण तुलनात्मक धरातल पर किया है। भारतीय महिलाओं की स्थिति की तुलना हमने दक्षेस और विकसित देशों की महिलाओं से की है।

4.2 भारत में नारी: सामान्यीकरण की समस्या

भारत में महिलाओं की सामाजिक स्थिति का जहां तक प्रश्न है उसमें हमें अनेक विविधताएं और समानताएं देखने को मिलती हैं। ये विविधताएं और समानताएं क्या हैं? आइए इनमें से कुछेक के बारे में जानें।

4.2.1 विविधता के तत्व

भारत में महिलाएं एक समरूप समूह नहीं हैं। भौगोलिक स्थिति, भाषायी और सांस्कृतिक पहचान, जाति, धार्मिक और जातीय पृष्ठभूमि, भिन्न वर्गीय, राजनीतिक और धार्मिक स्थिति, पेशों और शैक्षिक लक्ष्यों के अनुसार उनमें भारी भिन्नताएं हैं उदाहरण के लिए उत्तर-पूर्व में महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति राजस्थान या उत्तरी भारत की महिलाओं से बिलकुल भिन्न है। इसी तरह उत्तरी भारत में स्वर्ण जाति की महिलाओं की सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक पहचान वहां की निम्न जाति की महिलाओं से भिन्न है। उधर शिक्षित, व्यवसायी और नौकरी-पेशा वाली महिलाएं अपने दृष्टिकोण और सांस्कृतिक पहचान में कृषि या असंगठित क्षेत्र में कार्यरत अनपढ़ और अर्ध-शिक्षित महिलाओं से बिल्कुल अलग हैं। फिर महिलाएं धार्मिक पहचान के आधार पर, अपने-अपने धर्म के अनुयायियों के लिए बनी आचार संहिताओं या धर्म के राजनीतिकरण के माध्यम से बंटी हुई हैं। इसी तरह ग्रामीण महिलाओं को शहरी महिलाओं से एकदम अलग किस्म की समस्याओं और कठोर जीवन का सामना करना पड़ता है। इस समस्या को आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों, नई प्रौद्योगिकी के हस्तक्षेप, शैक्षिक विस्तार, राज्य के विकास क्रियाकलापों, जन-संचार माध्यमों

के प्रचार ने और गहराया है। क्योंकि इन्हीं कारकों का बढ़ते क्षेत्रीय-असंतुलन, देहात और शहर के बीच विभाजन, वर्गीय और जाति-ध्रुवीकरण में काफी बड़ा हाथ रहा है। इस पृष्ठभूमि में भारतीय समाज में नारी की स्थिति का सामान्यीकरण करना बड़ा कठिन हो जाता है।

भारतीय नारी विविध सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने की धुरी ही नहीं है बल्कि वह निरंतरता और परिवर्तन के अंतर्विरोध को भी दर्शाती है। भारतीय नारी ने सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास की खतरों भरी राह पर चलकर एक लंबा सफर तय किया है। आज वह एक नए युग की देहली पर दस्तक दे रही है, जिसमें उसे पूर्ण नागरिक का दर्जा हासिल होगा, वह सभी मानवाधिकारों और गरिमा की हकदार होगी। भारत में आज की नारी इस प्रयास में जुटी है कि विकास में बराबर की साझीदार बनकर वह राष्ट्र की मुख्यधारा में शामिल हो (NIPCCD, 1998:11)। मगर क्या भारतीय नारी अपने आपको पारंपरिक अतीत और दूसरे दमनकारी बंधनों से मुक्त कर चुकी है? हमारे परंपरागत सामाजिक ढांचे में अंतर्निहित असमानताएं ही महिला की सामाजिक स्थिति को सबसे अधिक प्रभावित करती हैं (CSWI, 1971:391)।

4.2.2 समानता के तत्त्व

इन सब भिन्नताओं के बावजूद भारतीय महिलाओं के बीच कुछ महत्वपूर्ण समानताएं हैं। चाहे वह जाति, वर्ग, भाषा, धर्म या जातीयता हो, प्रत्येक समूह या सामाजिक सामूहिकता के अंदर सबसे उपेक्षित वर्ग अगर कोई है तो वे महिलाएं हैं। उनकी उपेक्षा कितनी व्यापक है इसका ज्ञान हमें समाज में उनकी आर्थिक, जनसांख्यिक, शैक्षिक, राजनीतिक स्थिति से हो जाता है। उत्पादन के संसाधनों, संपत्ति, स्वास्थ्य सेवाओं तक उनकी पहुंच, निर्णय प्रक्रिया में उनकी हिस्सेदारी इत्यादि भी समाज में उनकी निम्न स्थिति का प्रमाण देते हैं। इन सामूहिकताओं में महिलाए प्राय: लिंग-आधारित सामाजिक भेदभाव के कारण उपेक्षित हैं जो उनके जीवन के हर पहलू में व्याप्त है। संस्थागत और वैचारिक व्यवस्थाओं की समाज में महिलाओं के प्रति भेदभाव और उनकी उपेक्षा में महत्वपूर्ण भूमिका रही है, जैसा कि पिछली इकाईयों में आपने जाना है। ये हैं श्रम का प्रागस्तित्व (पहले से विद्यमान) सामाजिक लिंग विभाजन, परिवार का पितृसत्तात्मक ढांचा, विवाह के प्रधानत: पतिस्थानिक स्वरूप, नातेदारी का पितृपक्षीय ढांचा, श्रम-बाजार पार्थक्य, इत्यादि। इस खंड की पिछली इकाईयों में हमने इन पहलुओं के बारे में विस्तार से बताया है। इस इकाई में आगे हम भारत में महिलाओं की उपेक्षित स्थिति के कुछ महत्वपूर्ण रूपों के बारे में आपको जानकारी देंगे। इसमें हम भारतीय नारी की जनसांख्यिक, आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक, स्वास्थ्य और राजनीतिक स्थिति पर विशेष ध्यान देंगे।

4.3 भारतीय नारी और अर्थव्यवस्था

भारतीय अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रों में महिलाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। उनकी उपस्थिति मुख्यत: कृषि और असंगठित क्षेत्रों में अधिक है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में उन्हें विशिष्ट समस्याओं का सामना करना पड़ता हैं इनके अलावा काम में भागीदारी को लेकर भी उन्हें कुछ आम समस्याओं का सामना पड़ता है। कुछ समस्याओं के बारे में हम आपको यहां बता रहे हैं।

4.3.1 महिलाओं के काम को आर्थिक क्रियाकलाप नहीं मानना

महिलाओं की काम में भागीदारी की एक समाजशास्त्रीय सचाई यह है कि घरेलू कामकाज का मुख्य बोझ महिलाओं को ही उठाना पड़ता है, जिसमें जैव-निर्धारित भूमिकाएं और जनन के दायित्व शामिल हैं। शिशु जनन, शिशु का लालन-पालन, घरेलू कामकाज जैसे तमाम क्रियाकलापों को "आर्थिक क्रियाकलापों" का दर्जा नहीं दिया जाता है। इनके अलावा अपने घर की चारदीवारी से भी महिलाएं कई आर्थिक क्रियाकलापों को अंजाम देती हैं। जैसे वे भोज्य पदार्थों का भंडारण करती हैं, नाना प्रकार के अचार, पापड़, बड़ियां, मुरब्बे व पेय बनाती हैं औद्योगिक शब्दावली में हम इसें फूड प्रौसेसिंग कहते

हैं। ऐसे क्रियाकलाप न तो हमें दिखाई देते हैं और न ही हम उन्हें सम्मान देते हैं। फिर तमाम तरह के घरेलू कामकाज में उलझी रहने के कारण आर्थिक दृष्टि से जीवन-क्षम उन तमाम क्रियाकलापों में हिस्सा नहीं ले पाती है। "काम" में भागीदारी अनियमित होने के कारण यहां भी उनके योगदान को प्राय: अनदेखा कर दिया जाता है। वस्तुत: श्रम बाजार में उनकी हाशिए की स्थिति है।

भारत की जनगणना में "काम" की परिभाषा आर्थिक रूप से उत्पादक किसी भी क्रियाकलाप के रूप में की गई है। वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार अखिल भारतीय स्तर पर कुल आबादी में कामगारों का प्रतिशत (स्त्री-पुरुष) 37.64 था। इसमें पुरुष कामगारों का प्रतिशत 51.52 था तो महिला कामगारों का प्रतिशत सिर्फ 22.69 था, जो काफी बड़ा अंतर है। इसी तरह पुरुष कामगारों में "मुख्य" कामगारों की संख्या 50.54 प्रतिशत और सीमांत कामगारों की संख्या 0.98 प्रतिशत थी। मगर महिला कामगारों में "मुख्य" कामगारों की संख्या 16.43 प्रतिशत और सीमांत कामगारों की संख्या 6.26 प्रतिशत थी। कामकाजी महिलाओं में सीमांत कामगारों की संख्या अधिक होने के मुख्यत: दो कारण हैं: महिलाओं द्वारा किए जाने वाले कामकाज को आर्थिक क्रियाकलाप का दर्जा हासिल नहीं होना और तथा-कथित आर्थिक क्रियाकलापों में उनकी अनियमित भागीदारी। भारत की लगभग 77.31 प्रतिशत महिलाओं को तो जनगणना अनुत्पादक गैर-कामगारों की श्रेणी में रखती है।

तालिका 1: जनसंख्या में कुल कामगारों, मुख्य कामगारों और सीमांत कामगारों का अनुपात

	कुल कामगार	मुख्य कामगार	सीमांत कामगार
व्यक्ति	37.64	34.12	3.12
पुरुष	51.52	50.54	0.98
महिला	22.69	16.43	6.26

4.3.2 कृषि और असंगठित क्षेत्र में महिलाएं

महिलाएं नाना प्रकार के उद्योग धंधों में कार्यरत हैं विशेषकर ग्रामीण और शहरी दोनों असंगठित क्षेत्रों में। पालतू पशुओं की देखभाल, फसलों की बोआई, रोपाई और कटाई, कताई जैसे काम करने के साथ-साथ महिलाएं हथकरघों में भी काम करती हैं और हस्तशिल्प वस्तुओं को निर्माण करती हैं। लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में चलने वाले ये सब काम धंधे या तो वे अवैतनिक पारिवारिक कामगारों या दिहाड़ी मजदूरों के रूप में करती हैं, जिसकी उन्हें बहुत कम मजदूरी मिलती है। शहरी अनौपचारिक क्षेत्र में वे छोटे दुकानदारों और निर्माताओं के रूप में काम करती हैं और नानाप्रकार की वस्तुएं बनाती हैं और उन्हें बेचती हैं, जैसे सब्जियां, फल, फूल पका भोजन, पंसारी का सामान इत्यादि। या वे घरेलू नौकरों के रूप में काम करती हैं। महिलाएं भवन निर्माण उद्योग में भी मजदूरी कर रही हैं।

स्वरोजगार प्राप्त महिलाओं पर गठित राष्ट्रीय आयोग के अनुमान के अनुसार कुल महिला कामगारों का 94 प्रतिशत हिस्सा अत्यधिक शोषणकारी क्षेत्र में कार्यरत है। कम वेतन, काम के घंटे अधिक, अल्प-उत्पादकता, अल्प-दक्षता और नौकरी की सुरक्षा का अभाव से सब महिलाओं को मिलने वाले रोजगार की विशेषताएं है। देश में ऐसी ट्रेड यूनियनों का अभाव है जो महिला कामगारों को संगठित करें, उन्हें एक जागरूक श्रमशक्ति बनाएं (NPPWD, 1988)।

एक नवीनतम अनुमान के अनुसार भारत में समूची महिला श्रमशक्ति का 90 प्रतिशत हिस्सा कृषि समेत असंगठित क्षेत्र में कार्यरत है। हमारे देश में महिला श्रमशक्ति प्रधानत: कृषि में लगी हुई है। कुल महिला श्रमशक्ति (मुख्य कामगारों) का 78.11 प्रतिशत कृषि में, 4.63 प्रतिशत घरेलू उद्योग और शेष 17 प्रतिशत अन्य औद्योगिक श्रेणियों में लगा हुआ हैं, जैसे खनन, खदान, पशुपालन, मछली पालन, शिकार, बागवानी, निर्माण, व्यापार, वाणिज्य, परिवहन, संचार इत्यादि उद्योगों में हैं। उधर कृषि में कार्यरत अधिकांश महिला कामगार "खेतीहर मजदूर" हैं। कृषि में कार्यरत कुल (78.11) प्रतिशत महिला कामगारों में 34.55 प्रतिशत किसान हैं तो 43.56 प्रतिशत खेतिहर मजदूर।

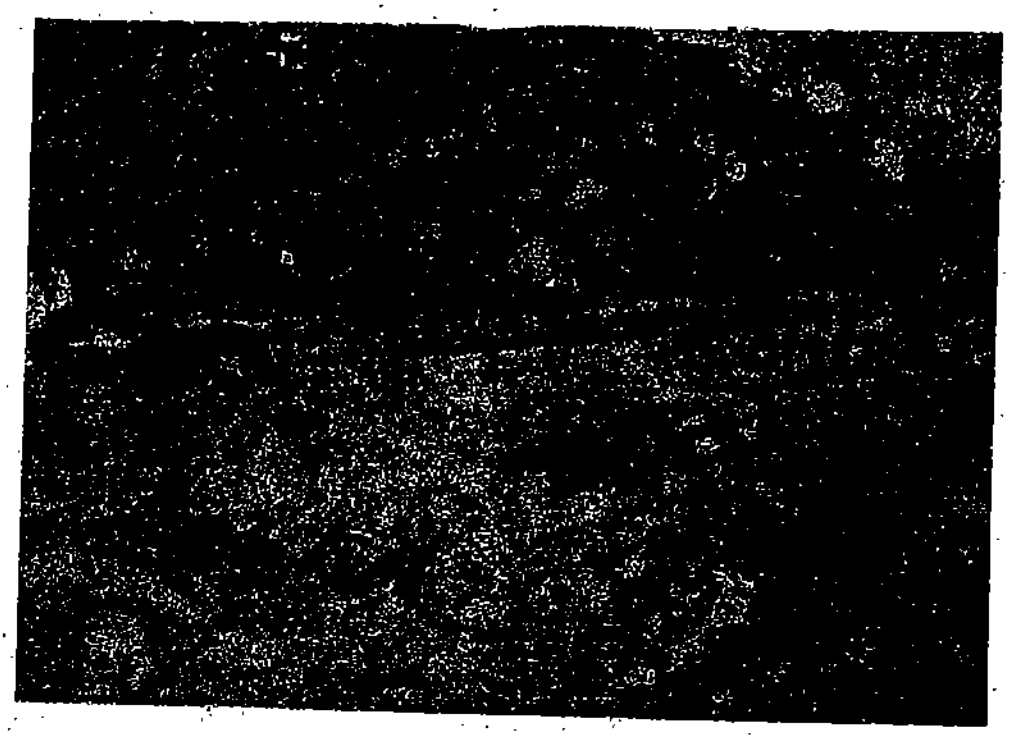

असंगठित क्षेत्र में महिलाएँ चोझा ढोने के लिए और बच्चों की देखभाल करने के लिए

सौजन्य : अतुल यादव, नई दिल्ली

यहां एक महत्वपूर्ण बात यह है कि महिला खेतिहर मजदूर जाति क्रम में पूर्णत: सबसे निचले वर्ग की यानी अनुसूचित जातियों, जनजातियों और अन्य पिछड़ी जातियों की हैं। आपको शायद मालूम होगा के कार्य समय की अनिश्चितता, कम मजदूरी, मजदूरी में लिंग के आधार पर भिन्नता यानी भेदभाव, मौसमी रोजगार, काम की अनिश्चितता, पारंपरिक दासता और स्वामिभक्ति और कर्ज का बोझ कृषि में रोजगार की यही सब विशेषताएं हैं। महिलाओं के काम करने का कोई निश्चित समय नहीं होता और उन्हें अक्सर सुबह से लेकर सूरज डूबने तक खेतों में काम करना पड़ता है। पुरुष मजदूरों को उन्हें सिर्फ आधी मजदूरी मिलती है। कृषि में पिछड़े इलाकों में उन्हें पूरे वर्ष भर काम नहीं मिल पाता है। इसलिए मौसम के अनुसार उन्हें रोजगार की तलाश में अपने घरों और गांवों से पलायन करना पड़ता है। कई बार वे भूस्वामियों के साथ एक करार में बंधी रहती हैं, जिसे हम "बुलावा बंध" कहते हैं जिसके तहत मजदूर को भूस्वामी के बुलावे पर उसके खेतों में काम करने के लिए जाना पड़ता है। कुछ अपवादों को छोड़कर ये महिलाएं अधिकतर अनपढ़ हैं जिन्हें कोई राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है। अज्ञान, पराधीनता, कमजोर स्वास्थ्य और कष्ट-साध्य श्रम ही उनकी जीवन शैली है।

3.3 ग्रामीण महिलाओं के रोजगार की समस्याएं

रोजगार को महिलाओं के विकास की मुख्यधारा में शामिल होने का "मुख्य प्रवेश-द्वार" माना जाता है। देहाती महिलाओं की तुच्छ और गिरती जा रही स्थिति का मुख्य कारण है उनकी घटती जा रही आर्थिक सहभागिता। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि विकास का लाभ महिलाओं तक पहुंचाने का सबसे कारगर तरीका यह होगा कि विकास संबंधी तमाम गतिविधियों में महिलाओं की खुद की भागीदारी हो।

छठी पंचवर्षीय योजना ने स्वीकार किया है कि ग्रामीण विकास कार्य-नीतियां गरीब देहाती महिलाओं को लक्ष्य मानकर बनाई जाएं। देहाती महिलाओं की कुछ समस्याएं इस प्रकार हैं:

क) ग्रामीण और कृषि विकास में देहाती महिलाओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाना और उन्हें सेवाओं से वंचित रखा जाना।

ख) उनमें सूचना और "सौदाकारी की क्षमता" का अभाव तो है ही साथ ही उन्हें जागरूक और उनकी दक्षता को उन्नत बनाने के लिए समुचित प्रशिक्षण और प्रेरणा का अभाव भी है।

ग) उनके पास काम-धंधे के विकल्प बहुत सीमित हैं, इसलिए वे कम उत्पादकता वाले कामों में लगी हैं।

घ) निर्णय-प्रकिया में उनकी भागीदारी कम होना।

ङ) देहाती महिलाओं में सामाजिक-आर्थिक क्रियाकलापों को बढ़ावा देने और उनकी भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए वित्तीय मामलों में समुचित विशेषज्ञ मार्ग-दर्शन का अभाव।

च) विभिन्न क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी की अपर्याप्त निगरानी।

छ) मजदूरी में भेदभाव।

ज) कष्टसाध्य श्रम से उन्हें मुक्त करने के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी का अपर्याप्त अनुप्रयोग।

झ) कमजोर स्वास्थ्य और कुपोषण।

कृषि और संबंधित सेवाओं में, अभी तक जितनी भी कार्यनीतियों को अंजाम दिया गया है, उनमें महिलाओं पर इन क्षेत्रों में उनकी सक्रिय हिस्सेदारी होते हुए भी बहुत कम ध्यान दिया गया है। पूंजी प्रधान कृषि और हरित-क्रांति ने कृषि संबंधी आर्थिक क्रियाकलापों में महिलाओं की भागीदारी को कम कर दिया है। लेकिन साथ में घरवास-आधारित कृषि क्रियाकलापों से जुड़ा कार्यभार बढ़ चुका है। इसने उन्हें श्रमजीवी से गैर-श्रमजीवी की स्थिति में ला खड़ा किया है (NPPWD, 1998-6)

यह भी देखने में आया है कि प्रौद्योगिकी ने रोजगार के जिन सीमित अवसरों को जन्म दिया है, उनके चलते उत्पादन के साधन चंद हाथों में सिमट कर रह गए हैं। इधर गरीबों में बढ़ती भूमिहीनता के चलते पुरुषों ने महिलाओं को परंपरागत काम-धंधों से ही वंचित कर दिया है, जिनमें अभी तक उन्हें रोजगार मिल जाया करता था। मगर जीवित रहने के लिए महिलाओं को काम तो करना ही होगा। सो रोजगार पाने के लिए वे भी अपने कदम धीरे-धीरे गैर-परंपरागत क्षेत्रों की ओर बढ़ा रही हैं।

क्या आप जानते हैं? 1

ग्रामीण महिलाओं के लिए योजनाएं

ग्रामीण महिलाओं को रोजगार देने के लिए भारत में कई किस्म की योजनाएं चलाई जा रही हैं। इनमें से कुछ योजनाएं इस प्रकार हैं: समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आई आर डी पी) को 1976-79 में शुरू किया गया था और 1980-81 में इस कार्यक्रम में देश के सभी विकास खंडों को शामिल कर दिया गया। आई आर डी पी के एक अंग के रूप में गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहे परिवारों की महिलाओं के सामाजिक और आर्थिक उत्थान के लिए एक विशेष योजना, ग्रामीण महिला और बाल विकास (DWCRA), 1982 में आरंभ की गई। आई आर डी पी के एक घटक के रूप में चलाए गए ग्रामीण युवा स्वरोजगार प्रशिक्षण (ट्राइसेम-TRYSEM) कार्यक्रम में उन परिवारों को प्राथमिकता दी गई, जिन्हें महिलाएं चला रही थीं। फिर 1980 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (NREP) और 1983 में ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (LREGP) आरंभ किए गए, जिनमें दिहाड़ी रोजगार में महिलाओं की भागीदारी को बढ़ाने और महिलाओं का विकास करने के निर्देश दिए गए थे। इन तमाम महत्वाकांक्षी योजनाओं के बावजूद भी ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं की स्थिति में उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है।

महिला कामगारों का एक बड़ा हिस्सा भवन और निर्माण उद्योग में कार्यरत है। हालाकि उन्हें अनियत श्रमिकों के रूप में लिया जाता है, लेकिन प्राय: उन्हें इस क्षेत्र में काम का गहरा अनुभव रहता है। इस क्षेत्र में मजदूर जुटाने का काम ठेकेदारों को सौंपा जाता है, जो सदियों से चली आ रही "ऋण-बंधन" और ऋण दासता की प्रथा के जरिए प्रवासी मजदूरों को आज भी विभिन्न मौसमी कामों के लिए जुटाते हैं।

अक्सर श्रमिकों को काम पाने के लिए विभिन्न छोटे ठेकेदारों के हाथों से गुजरना पड़ता है। इन मजदूरों की दिहाड़ी को कम से कम रखने के लिए ये बिचौलिए, तरह तरह के हथकंडे अपनाते हैं। (NPPWD, 1988:7)

4.3.4 संगठित क्षेत्र में महिलाएं

दक्षेस महिला विकास संदर्शिका (सार्क गाईड बुक ऑन वीमेन इन डेवलपमेंट) के अनुसार संगठित क्षेत्र में कुल महिला श्रम शक्ति का लगभग 10 प्रतिशत हिस्सा कार्यरत है। संगठित क्षेत्र में काम में महिलाओं की भागीदारी कई कारकों से प्रभावित होती है। इनमें से कुछ के बारे में हम यहाँ बता रहें है:

क) शिक्षा और प्रशिक्षण का अभाव

महिलाओं को औपचारिक शिक्षा और प्रशिक्षण की सुविधाएं बहुत कम सुलभ हो पाती हैं। दरअसल भारतीय समाज में यह अपेक्षा की जाती है कि महिलाओं को अपनी परंपरागत भूमिका निभानी है। इसी के चलते मां-बाप अपनी बेटियों को ऊंची शिक्षा नहीं देते। उधर गरीबी या आर्थिक मजबूरियों के कारण भी मां-बाप अपनी बेटियों को स्कूलों से हटा लेते हैं क्योंकि बेटियों को भारतीय समाज में "पराया धन" समझा जाता है।

इसी तरह उन्हें अक्सर व्यावसायिक शिक्षा या प्रशिक्षण से वंचित रखा जाता है। समाज की यही परंपरा रही है कि जहां कहीं कोई विकल्प हो तो उसके लिए पुरुषों को ही प्रायमिकता दी जाती है। इस तरह श्रम-बाजार में वे पुरुषों से पिछड़ जाती हैं। विद्वानों का मानना है कि इस किस्म के सामाजिक लिंग "बाजार-पूर्व भेदभाव" नौकरी के बाजार में महिलाओं की भागीदारी को दुष्प्रभावित करते हैं।

ख) महिला कर्मचारियों के प्रति नियोक्ताओं का नकारात्मक रवैया

देश के अनेक भागों में किए गए अध्ययन यही बताते हैं कि नियोक्ताओं का रवैया अपने महिला कर्मचारियों के प्रति नकारात्मक रहता है, जिसके कई कारण हैं।

क) इसका पहला कारण है सरकार द्वारा महिलाओं की सुरक्षा के लिए बनाए गए कानून, मातृत्व अवकाश जैसे लाभ। नियोक्ता इन कानूनों को अतिरिक्त बोझ मानते हैं। महिलाओं को नौकरी में रखने के बाद उनके लिए मातृत्व अवकाश, शिशु सदन (क्रीश) और अन्य सुविधाएं जुटाने के लिए अतिरिक्त खर्च वहन करना पड़ता है। इसीलिए नियोक्ता पुरुष कामगारों को नौकरी पर रखना अधिक पसंद करते हैं। दिल्ली के ओखला इंडस्ट्रीयल एस्टेट में किए गए एक अध्ययन के अनुसार महिला सुरक्षा कानूनों से बचने के लिए इलेक्ट्रॉनिक और रेडीमेड वस्त्र उद्योगों के मालिक अपने यहां महिलाओं को अनियत या अनुबंध पर नौकरी देते है। इसके अलावा वे अविवाहित और तरुण युवतियों को ही काम पर लेते हैं, जिन्हें महिला सुरक्षा कानूनों से मिलने वाले लाभों की जरूरत नहीं पड़ती। यहां यह उल्लेख करना जरूरी है कि इलेक्ट्रॉनिक उद्योगों को अपनी निर्माणशाला और गारमेंट उद्योग को सिलाई-बुनाई के लिए महिलाओं की उनके विशेष गुणों के लिए जरूरत पड़ती है। ये गुण हैं– दक्षता से चलने वाले उनके हाथ और नीरस काम करने का धीरज।

ख) महिलाओं पर दोहरे काम का बोझ: कई नियोक्ता महिला कामगारों को अपने कार्य के प्रति समर्पित नहीं समझते हैं क्योंकि महिलाओं को प्रजनन और कई घरेलू दायित्वों का निर्वाह करना पड़ता है। लेकिन जब कभी महिलाओं को रखा भी जाता है, तो उन्हें अकुशल, कम वेतन वाला काम दिया जाता है। प्रोन्नति (प्रमोशन) के समय महिलाओं की अक्सर उपेक्षा की जाती है।

ग) काम की खराब परिस्थितियां

कई बार खराब कार्य परिस्थितियां जैसे यातायात की सुविधा का अभाव, घर से अधिक दूरी, महिलाओं के लिए निजी सुविधाओं का अभाव आदि कारणों से महिलाएं औद्योगिक क्षेत्र में रोजगार लेने से कतराती हैं। इनके अलावा शोषण, यौन उत्पीड़न का भय, अपने वैधानिक अधिकारों के प्रति उनमें अज्ञानता की भी उनकी गैर-भागीदारी में निर्णायक भूमिका है। अपनी शारीरिक सुरक्षा के बारे में भी उन्हें हमेशा चिंतित रहना पड़ता है।

घ) महिलाओं से सामाजिक-लिंग आधारित भूमिका की अपेक्षाएं और महिलाओं की आत्म-छवि

भारत में महिलाओं का समाजीकरण इस अपेक्षा के साथ किया जाता है कि वे सामाजिक लिंग पर आधारित भूमिकाओं को अंजाम देंगी। उन्हें समाज में इस तरह से ढाला जाता है कि वे सुशील और अच्छी गृहिणियां बनें। उनका समाजीकरण कुछ इस तरह से किया जाता है कि वे गृहनिर्वाहक के संस्कारों को अपने भीतर विकसित कर लें। ऐसा कर लेने के पश्चात गृहिणी की भूमिका ही उनके मन मस्तिष्क पर हावी रहती है ओर इसी के चलते कार्यस्थल पर वे गैर-स्पर्धी, तटस्थ और गौण भूमिका में रहना पसंद करती हैं। वह उन मूल्यों के प्रति समर्पित रहती है, जो उससे यही मांग करते हैं कि उसे अपनी ऊर्जा और प्रेरणा को अपने दांपत्य जीवन को सफल और सुखी बनाने में लगाना है न कि अपने रोजगार पर। रोचक बात तो यह है कि अत्यधिक कुशलता वाले रोजगार में लगी महिलाओं पर भी यही बात लागू होती है। महिला वैज्ञानिकों के अपने अध्ययन में मैत्रेयी कृष्णराज (1978) ने पाया कि वे महिलाएं यूं तो अपनी नौकरी के बारे में चिंतित थी लेकिन न तो उन्हें बेहतर संभावनाओं की तलाश थी और न ही उन्होंने दीर्घकालीन योजना के तहत अपने कैरियर या आजीविका की शुरुआत की थी (इ.गा.रा.मु.वि., 1992)।

अनुभव से सीखें 1

संगठित क्षेत्र में काम करने वाली कई महिलाओं को आप देखते होंगे। इस श्रेणी की कम से कम पांच महिलाओं से भेंटवार्ता कर यह जानने का प्रयत्न कीजिए कि अपने दायित्वों का निर्वाह करने में उन्हें किन मुख्य समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

4.4 महिला और शिक्षा

सामाजिक परिवर्तन और विकास की धारा को निश्चित वांछित लक्ष्यों की ओर मोड़ने की जरूरत महसूस की जा रही है, जिसके मद्देनजर शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण हथियार माना जाने लगा है (CSWI, 1974:734)। अब यह स्वीकार किया जा रहा है कि "विकास के लक्ष्य और साक्षरता एक दूसरे पर आश्रित हैं और विज्ञान व प्रौद्योगिकी पर आधारित एक आधुनिक समाज के लिए देश के शैक्षिक आधार में उसके तुल्य वृद्धि आवश्यक है" (सार्क गाइड बुक, 1986:287)।

4.4.1 महिलाओं की शैक्षिक स्थिति

भारतीय संविधान में देश के सभी नागरिकों को समान अवसर पाने का अधिकार दिया गया है चाहे वे किसी भी नस्ल, लिंग, जाति या धर्म के हों। संविधान में राज्य को महिलाओं और समाज के

कमजोर तबकों की शैक्षिक उन्नति के लिए विशेष प्रावधान करने का अधिकार दिया गया है। मगर संविधान में तमाम प्रशंसनीय प्रावधानों और राज्य द्वारा तरह-तरह की पहल, अब यह अलग बात है कि वे कितने गंभीर थे, किए जाने के बावजूद स्वतंत्रता के 50 वर्ष के बाद भी भारत में महिलाओं का एक बड़ा हिस्सा अशिक्षित, अनपढ़ है। देश में महिलाओं में साक्षरता निस्संदेह बढ़ी है। उदाहरण के लिए 1961 में साक्षर महिलाओं की संख्या 25.34 प्रतिशत थी जो 1991 में 39.42 प्रतिशत थी। लेकिन इसी अवधि में निरक्षर महिलाओं की निरपेक्ष संख्या में भारी उछाल आया है। भारत में महिलाओं की शैक्षिक उन्नति में कई कारक बाधक हैं। इन में से कुछ महत्वपूर्ण कारकों के बारे में यहां बताया जाएगा।

भारत में महिला साक्षरता की दर 1961-1991

साक्षरता की दर				
वर्ष	महिलाएं	दशकीय अंतर	कुल	दशकीय पुरुष-स्त्री अंतर
1961	15.34	–	28.31	–
1971	21.97	+6.63	34.45	+6.14
1981	29.75	+7.78	43.56	+9.11
1991	39.42	+9.69	52.11	+9.55

नोट: वर्ष 1961-1971 के लिए साक्षरता दर 5+ वर्ष और जनसंख्या के लिए है।
वर्ष 1981-1991 के लिए साक्षरता दर 7+ वर्ष और जनसंख्या के लिए है।

स्रोत: भारत की जनगणना 1961, 1971, 1981, 1991

4.4.2 महिलाओं की शिक्षा को दुष्प्रभावित करने वाले कारक

महिलाओं की शैक्षिक स्थिति पर अनेक कारक प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। आइए इनमें से कुछ का विश्लेषण करते हैं।

क) बाल विवाह, परदा-प्रथा, परंपरागत सामाजिक-लिंग सोच आधारित भूमिका संबंधी अपेक्षाएं जैसे सामाजिक-सांस्कृति कारक महिला शिक्षा के आदर्शों के विरोध में जा खड़े होते हैं। बाल विवाह अधिनियम को संशोधित कर विवाह की उम्र लड़कियों के लिए 18 वर्ष और लड़कों के लिए 21 वर्ष कर दी गई। मगर देश के विभिन्न देहाती इलाकों में बाल-विवाह के कारण बालिकाओं को तत्काल स्कूल छोड़ना पड़ता है। बल्कि इससे कच्ची उम्र में गर्भधारण, कमजोर स्वास्थ्य, निरक्षरता, अज्ञानता, रूढ़िवादिता, गरीबी जैसे कई अन्य सामाजिक समस्याओं का जन्म होता है। इसी तरह परदा प्रथा बालिकाओं को स्कूल में दाखिल लेने और उन्नति करने से ही वंचित नहीं करती है, बल्कि यह उनमें हीन भावना को भी जन्म देती है, जो उनके अपने मन-मस्तिष्क पर बैठ जाती है। सामाजिक-लिंग सोच जनित भूमिका संबंधी अपेक्षाएं, जो बालिकाओं को तटस्थ गृहिणियों के रूप में देखती हैं, निर्णय-प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी के सिद्धांतों के विरोध में जाती हैं। समाज की परंपरागत आदर्शमूलक व्यवस्थाएं, उनके मूल्य, विश्वास, संस्कृति, संस्थाए और समाजीकरण की प्रक्रिया, से सभी बालिकाओं के स्कूलों में प्रवेश और उनमें बने रहने में बाधक का काम करती है।

क्या आप जानते हैं? 2

- राजस्थान में "अक्खा तीज" के दिन हर वर्ष लगभग 50,000 बच्चों का विवाह कर दिया जाता है। इनमें से कई दूध पीते बच्चे होते हैं।

• एक नवीनतम अध्ययन से पता चला है कि शिवकाशी के माचिस उद्योग में काम कर रहे 45,000 बाल मजदूरों में 90 प्रतिशत 14 वर्ष से कम उम्र की लड़कियां हैं। जाहिर है इन बालिकाओं को शिक्षा से वंचित रखा गया है।

ख) शिक्षा की ढांचागत समस्याएं भारत में महिला शिक्षा के मार्ग में बड़ी बाधक हैं: स्कूलों की कमी, स्कूलों के कार्य समय में लचीलापन नहीं होना, प्रवेश के कठोर नियम, महिला शिक्षकों की कमी, बालिका विद्यालयों का अभाव, इत्यादि।

ग) पाठ्य पुस्तकों और शिक्षकों में प्रचलित सामाजिक लिंग-पूर्वाग्रह भी महिला शिक्षा को भारी क्षति पहुंचाते हैं। परंपरागत पाठ्य-पुस्तकें महिलाओं का चित्रण पराधीन और हीन प्राणी के रूप में करते हैं। बालिकाओं के प्रति ये पुस्तकें रूढ़िवादी पारिवारिक प्रवृत्तियों को और मजबूती देती हैं। कई बार शिक्षको में भी सामाजिक लिंग-संवेदनशीलता नहीं होती।

जरा सोचिए (1)

उन सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों का बताइए जिनसे महिलाओं की शिक्षा पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

4.5 महिला और स्वास्थ्य

भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने में महिलाओं को चिकित्सा सुविधा बहुत कम सुलभ हो पाती है। परिवार की आमदनी का स्तर, शैक्षिक पृष्ठभूमि, विवाह के प्रति दृष्टिकोण, महिलाओं की प्रजननशक्ति और शिशु के लिंग से जुड़ा महत्व, सामाजिक परंपराओं की महिलाओं से आदर्श नारी की भूमिका निभाने की मांग, जैसे कुछ कारक महिलाओं के स्वास्थ्य को दुष्प्रभावित करते हैं। महिलाओं के स्वास्थ्य से जुड़े कुछ मुद्दों पर हम यहां चर्चा करेंगे।

4.5.1 स्त्री-पुंजाति अनुपात और आयु-संभाविता

भारत में महिलाओं की निरपेक्ष संख्या पिछले वर्षों में बढ़ी तो है, मगर वास्तविकता में स्त्री-पुंजाति अनुपात में बराबर कमी आई है। वर्ष 1901 में 1000 पुरुषों के मुकाबले महिलाओं की संख्या 972 थी। यह संख्या घटकर 1971 में 930 और 1991 में 928 रह गई है। भारत में स्त्री-पुंजाति अनुपात में उत्तरोत्तर कमी के कुछ कारण इस प्रकार हैं: आरंभिक अवस्था में कन्याओं की उपेक्षा के फलस्वरूप मादा शिशु मृत्यु-दर में अतिवृद्धि, जनन के समय मृत्यु, मादा शिशु हत्या, भ्रूणहत्या, महिलाओं की हत्या, इत्यादि।

भारत में महिला और पुरुष दोनों लिंगों की आयु-संभाविता में वृद्धि हुई है। वर्ष 1921 में दोनों लिंगों की आयु-संभाविता मात्र 26 वर्ष थी और 1994 में पुरुषों और महिलाओं की आयु संभाविता क्रमशः 61.4 और 61.1 वर्ष हो चुकी है।

तालिका: भारत में आयु-विशेष मृत्यु-दर, 1988

आयु	पुरुष	महिला	कुल
0 - 4 वर्ष	31.8	34.9	33.3
5 - 14 वर्ष	2.2	2.5	2.4
15 - 34 वर्ष	2.3	3.0	2.6
35 - 49 वर्ष	6.4	4.6	5.5
50 - वर्ष	36.6	31.1	33.9

स्रोत: ई.पी.डब्ल्यू रिसर्च फाउंडेशन, 1994: 1229

लिंग-आधारित आयु-विशेष मृत्यु दर यही दर्शाती है कि 50 वर्ष से ऊपर के आयु-वर्ग को छोड़कर शेष सभी आयु-वर्ग समूहों में महिलाओं की मृत्यु दर पुरुषों से हमेशा अधिक रही है। असल में शिशु मृत्यु दर ही भारत में गिरते स्त्री-पुंजाति अनुपात का मुख्य कारण है।

4.5.2 नाबालिग विवाह और महिलाओं का स्वास्थ्य

वर्ष 1981 में 10-14 वर्ष के आयु वर्ग में 7 प्रतिशत लड़कियों और 15-19 वर्ष के आयु-वर्ग में 43 प्रतिशत लड़कियों का विवाह हुआ था। इसी प्रकार 50 प्रतिशत कन्याओं को किशोरावस्था में ही जनन-क्रिया में धकेल दिया गया। कुपोषण, काम के अधिक बोझ, निरक्षरता, यौन व्यवहार के प्रति अज्ञानता के कारण जाहिर है कि इन गर्भवती कन्याओं को अपना जीवन भारी जोखिम में डालना पड़ा होगा। भारत में 10.15 प्रतिशत बच्चे इन्हीं किशोर माताओं से जन्म लेते हैं, जिन्हें मौत का जोखिम उठाना पड़ता है और जो न्यून भार जैसी शारीरिक दुर्बलताओं का शिकार बनती हैं।

भारत में महिलाएं औसतन 8.9 गर्भ-धारण करती हैं। अध्ययन से पता चलता है कि निम्न-आय वर्गों में गर्भवती महिलाओं को औसतन 1,100 कैलोरी और स्तनपान कराने वाली महिलाओं को भी लगभग 1,000 कैलोरी ऊर्जा की कमी रहती है। गर्भावस्था के दौरान उनके वजन में 3.5 किलो की वृद्धि होती है, जो जरूरी वजन से काफी कम है। गर्भावस्था के दौरान होने वाली अरक्तता (खून की कमी का रोग जिसे एनीमिया कहा जाता है) के कारण 15.20 प्रतिशत मातृ-मृत्यु होती है। प्रति 1,00,000 जन्मों में मातृ-मृत्युदर 400 से 500 के बीच है। मगर देहाती इलाकों में यह दर 1,000 से 1,200 तक है। फिर शहर में 20 प्रतिशत शिशु-जनन और गांवों में 71 प्रतिशत शिशु-जनन प्रशिक्षित स्वास्थ्य कर्मियों के बिना ही होता है (NPPWD: 1988)।

इस समस्या को यहां इस नजरिए से देखा जाना चाहिए कि नाबालिग विवाह और अधिक संख्या में गर्भधारण महिलाओं की शैक्षिक और आर्थिक प्रगति में बड़ी दुर्गम बाधा है। आगे चलकर ये उनकी सामाजिक और आर्थिक सशक्तीकरण की प्रक्रिया को रोक देते है।

4.6 महिलाएं और राजनीति में उनकी सहभागिता

भारत को विश्व का सबसे लोकतंत्र होने का गौरव प्राप्त है। वयस्क मताधिकार के माध्यम से इसमें देश के प्रत्येक नागरिक को राजनीतिक भागीदारी का समान अधिकार दिया गया है। यहां पर आकर अब आप यह जानने के इच्छुक होंगे कि राजनीतिक भागीदारी से क्या तात्पर्य है और महिलाओं के लिए इसका क्या अर्थ है?

4.6.1 राजनीतिक सहभागिता: अभिप्राय और आयाम

राजनीतिक भागीदारी की अवधारणा का घनिष्ठ संबंध सत्ताधिकार के प्रयोग से है। उदाहरण के लिए सत्ताधिकार का प्रयोग किसी वर्ग विशेष के (सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक इत्यादि) हितों को बचाने के लिए मौजूदा यथास्थिति को बनाए रखने या किसी अन्य वर्ग के पक्ष में मौजूदा स्थिति को उलटने के लिए हो सकता है। यहां सत्ताधिकार के प्रयोग का मतलब निर्णय की प्रक्रिया को कारगर तरीके से प्रभावित करने से हो सकता है। वयस्क मताधिकार में भागीदारी या राज्य के निर्णय की प्रक्रियाओं में भागीदारी, ये निर्णय प्रक्रियाओं में प्रभावी ढंग से भागीदारी करने के कुछ तरीके हैं जिसे हम "राजनीतिक सहभागिता" कहते हैं। अब राजनीतिक सहभागिता की अवधारणा से घनिष्ठ रूप से जुड़ी है राजनीतिक स्थिति। "सत्ताधिकार के निर्माण और उसमें हिस्सेदारी में महिलाओं को कितनी समानता और स्वतंत्रता प्राप्त है और फिर समाज की नजर में महिलाओं की इस भूमिका का कितना महत्व है, यही महिलाओं की राजनीतिक स्थिति की परिभाषा है।" महात्मा गांधी ने यह जान लिया था कि महिलाओं को वैधानिक और राजनीतिक शक्ति वह पहला सोपान है जहां से चलकर

समाज सभी प्रकार के शोषण को समाप्त कर एक नया स्वरूप धारण करेगा और इस प्रक्रिया में प्रेरक शक्ति बनेंगी महिलाएं। (CSWI, 1974:284)।

4.6.2 राजनीतिक सहभागिता: एक सिंहावलोकन

जैसा कि पीछे कहा गया है, राजनीतिक सहभागिता के कई पहलू हैं। यहां हम इनमें से कुछ पहलुओं की चर्चा करेंगे।

क) आजादी की लड़ाई में महिलाओं की भागीदारी

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की एक अनूठी विशेषता यह है कि इसमें शिक्षित और अनपढ़, उच्च और मध्यम वर्ग, किसान और सर्वहारा, जीवन के सभी क्षेत्रों से महिलाओं ने विशाल संख्या में भागीदारी की थी। जिन महिलाओं ने अपना जीवन पर्दे में बिताया था वे भी रूढ़िवादिता और साम्प्रदायिक अलगाववाद से लड़ने सड़कों पर उतर आई थीं। इस तरह के कार्यों को शुरू में समाज से मान्यता नहीं मिली, लेकिन इसके बावजूद भी महिलाएं स्वतंत्रता आंदोलन में पुरुषों के साथ कूद पड़ीं। फिर घटनाचक्र ने यह सिद्ध कर दिया कि महिलाओं के सहयोग, उनकी भागीदारी के बिना स्वतंत्रता की लड़ाई अधूरी रह जाती। (CSWI, 1974:284-5)

आजादी की लड़ाई में महिलाओं ने कई तरह से भाग लिया। उन्होंने राजनीतिक जलूसों में भाग लिया, विदेशी समान बेचने वाली दुकानों के आगे धरना दिया, भूमिगत स्वतंत्रता सेनानियों को भोजन और आश्रय दिया, उन तक संदेश पहुंचाए और उन्हें प्रेरणा दी। वर्ष 1905 में बंगाल विभाजन के विरोध में उठे आंदोलन में बंगाल की महिलाओं ने आक्रामक और स्वत: स्फूर्त सक्रियता दिखाई। महिलाओं ने 1920 के दशक में स्वदेशी, 1930 में नमक सत्याग्रह और 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। महिलाओं ने दूसरी गतिविधियों में भी हिस्सा लिया। एनी बेसंट के गृह शासन (होम रूल) आंदोलन और महिला अधिकारों की पैरवी ने कई महिलाओं को प्रेरित किया, जिन्हें एहसास हुआ कि राजनीति में उन्हें कोई स्थान प्राप्त नहीं है। उत्तरी भारत में सरोजिनी नायडू, राधा बाई, रामेश्वरी नायडू और बी अमान जैसी कई वीरांगनाएं राष्ट्रवाद/स्वराज और महिला अधिकारों की लड़ाई में सबसे पहली पांत में थी। महिलाओं ने बंगाल, पंजाब, उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र में चरमपंथी क्रांतिकारी आंदोलन को भरपूर समर्थन और सहायता दी। भीखाजी कामा, सरला देवी चौधरानी, कल्पना दत्त और कमला दासगुप्ता (बंगाल), सुशीला देवी और दुर्गा देवी (पंजाब), रूपवती जैन (दिल्ली), लक्ष्मी देवी सहगल (आजाद हिंद फौज की महिला रेजीमेंट) और अन्य कई महिलाओं ने क्रांतिकारी गतिविधियों में हिस्सा लिया। इस प्रकार समग्रता में महिलाएं स्वतंत्रता संग्राम की भावना में हिस्सेदार थीं, जिन्होंने इसमें एक नया आयाम जोड़ा और भारत को स्वतंत्रता दिलाने में जिनका बराबर का योगदान था।

क्या आप जानते हैं? 3

सामाजिक क्रांति और पुनर्निर्माण में महिला की भूमिका पर महात्मा गांधी के विचार

"नारी पुरुष की सहचरी है, जिसमें समान मानसिक क्षमताएं हैं। पुरुष के क्रियाकलापों में पूरी तरह से भाग लेने का उसे बराबर का अधिकार है और स्वतंत्रता और स्वच्छंदता की वह भी उतनी ही अधिकारी है, दोषपूर्ण रीति-रिवाजों के बूते निपट अनाड़ी, निकम्मे पुरुष भी नारियों पर श्रेष्ठता का आनंद ले रहे हैं जिसके न तो वे अधिकारी हैं और न ही उन्हें वह मिलना चाहिए।

"चूंकि सत्याग्रह में आत्म-पीड़ा के जरिए विरोध प्रकट किया जाता है, यह हथियार मुख्यत: महिलाओं के लिए है ... वह सत्याग्रह की अगुवाई कर सकती है, जिसमें किताबी ज्ञान की जरूरत नहीं बल्कि दृढ़ हृदय की जरूरत है जो कष्ट और आस्था से मिलता है।"

स्रोत: भारत में महिलाओं की स्थिति पर कमेटी की रिपोर्ट, 1974

ख) चुनाव में भागीदारी

स्वतंत्र भारत में चुनाव और संबंधित गतिविधियों में महिलाएं बढ़-चढ़कर हिस्सा ले रही हैं। चुनावी राजनीति में महिलाओं की सहभागिता के कुछ महत्वपूर्ण रुझानों के बारे में संक्षेप में नीचे बता रहे हैं:

i) उनकी सहभागिता की प्रकृति और व्यापकता अनेक विकसित और विकासशील देशों से कहीं अधिक है।

ii) उनकी यह सहभागिता हर वर्ष बराबर बढ़ रही है।

iii) पुरुषों और महिला मतदान में जो अंतर था वह अब काफी कम होता जा रहा है। इससे पता चलता है कि महिलाओं का राजनीतिकरण बड़े पैमाने पर हो रहा है और उनमें राजनीतिक चेतना बढ़ रही है।

iv) प्रतिनिधि निकायों (विधान सभा, संसद, नगर परिषद इत्यादि) में महिलाएं अधिक संख्या में चुनकर आ रही हैं।

v) महिलाओं की चुनाव में भागीदारी को निम्न रुझान प्रभावित कर रहे हैं:

क) चुनाव लड़ने वाली महिला उम्मीदवारों की संख्या में वृद्धि होने के बावजूद निर्वाचित निकायों में वे अल्प संख्या में ही हैं। मगर संविधान में 73वें संशोधन के बाद से इसमें गुणात्मक परिवर्तन आया है क्योंकि इसके अन्तर्गत स्थानीय प्रतिनिधि निकायों में महिलाओं को अनिवार्य रूप से 33 प्रतिशत आरक्षण दिया जा रहा है।

ख) कई महिलाएं स्वतंत्र उम्मीदवारों के रूप में चुनाव लड़ती हैं, जिसका यही मतलब निकलता है कि राजनीतिक दल महिला उम्मीदवारों को चुनाव में खड़ा करने के इच्छुक नहीं है। भारतीय संविधान में 81वां संशोधन प्रस्तावित है जो स्थिति को बदल डालेगा, क्योंकि इसमें संसद और राज्य विधान सभाओं में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था है।

ग) थोड़ी बहुत संख्या में जो महिलाएं ये चुनाव लड़ती हैं, वे उम्मीदवार बनती हैं तो राजनीतिक दलों में अपने जन्मसिद्ध अधिकार से या स्थापित नेताओं से नजदीकी संबंधों के जरिए।

घ) गिनी-चुनी महिला प्रत्याशी ही मेहनतकश वर्ग से होने या उनसे जुड़े होने का दावा कर सकती हैं। (सार्क गाइड बुक, 1988 : 316-31)

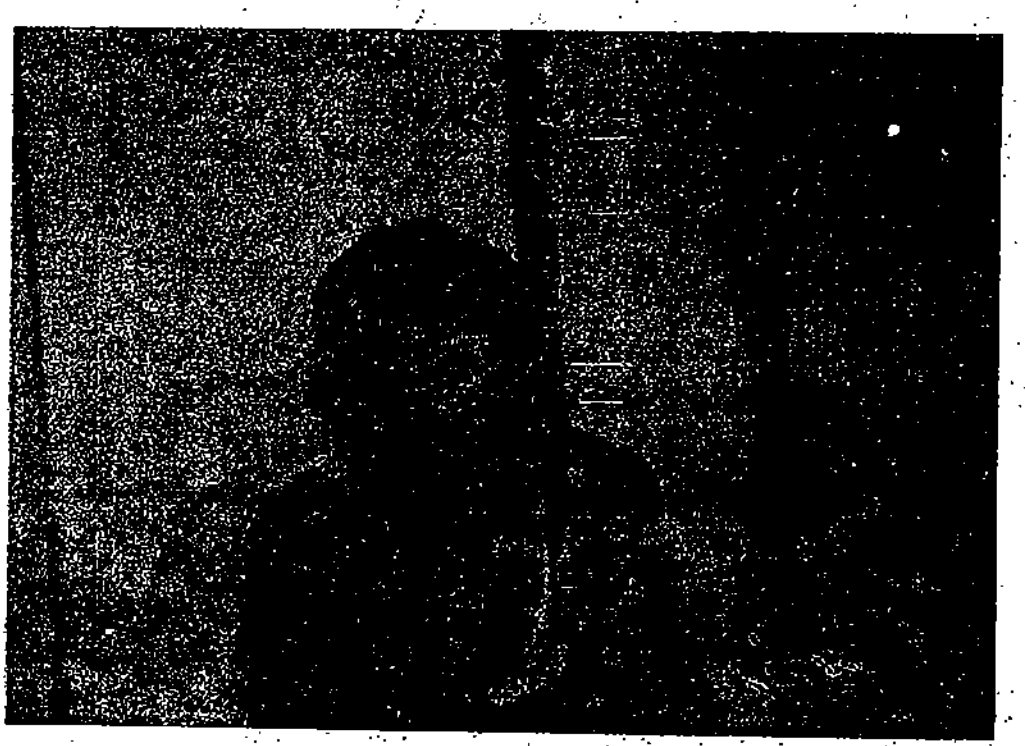

सबमें से एक : सार्वजनिक स्थान विशिष्ठ

सौजन्य : सी.एस.आर., नई दिल्ली

नगर पालिका और प्रशासन

यहां महत्व की बात यह है कि महिला-छात्रों का एक बड़ा हिस्सा कानून (विधिशास्त्र) की पढ़ाई करता तो है मगर उसमें से कुछ ही इसे अपनी आजीविका बनाती हैं। लेकिन अब हाल-फिलहाल से अधिक महिलाएं इसे अपनी आजीविका के रूप में चुन रही हैं। कुछ महिलाओं को केरल, हिमाचल प्रदेश और तमिलनाडू के उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश बनने का गौरव मिला है।

हालांकि भारत को एक विख्यात महिला प्रधानमंत्री और कबीना और राज्य स्तर की कई मंत्री मिली हैं, मगर उनकी सापेक्ष संख्या बहुत कम रही है। उदाहरण के लिए भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री देवेगौड़ा के मंत्रिमंडल में सिर्फ एक महिला मंत्री थी। अपने मंत्रिमंडल को मानवीय रूप देने के लिए उनके बाद प्रधानमंत्री इंद्र कुमार गुजराल ने चार महिलाओं को अपने मंत्रिमंडल में शामिल किया। विभिन्न मंत्रालयों में महिला सचिवों की संख्या भी गिनी-चुनी है। आंकड़ों के अनुसार इन मात्र 10 प्रतिशत अधिकारियों में 5.8 प्रतिशत महिला आई.ए.एस. और सिर्फ एक प्रतिशत आई.पी.एस. हैं। देश में 150 विश्वविद्यालयों में से सिर्फ छः उपकुलपति महिलाएं हैं, जिनमें महिला विश्वविद्यालयों की चार उपकुलपति भी शामिल हैं (सार्क गाइड बुक 1988:322)।

पंचायती राज में महिलाओं की भागीदारी

वर्ष 1952 में सामुदायिक विकास और पंचायती राज का उद्घाटन हुआ था, जिसका "लक्ष्य जन शक्ति को लामबंद करना और उनकी सहभागिता को समाज के निर्माण की दिशा में लगाना" था। बलवंत राज मेहता कमेटी की रिपोर्ट 1957 में आ जाने के बाद पंचायती राज का जन्म 1959 में पहले राजस्थान में और उसके बाद आंध्र प्रदेश व महाराष्ट्र में हुआ। कालांतर में भारत के अन्य राज्यों में भी यह शुरू किया गया।

हाल के वर्षों में पंचायती राज में महिलाओं की सहभागिता का मुद्दा महत्वपूर्ण हो चला है, जिसके दो मुख्य कारण हैं: (क) स्थानीय निर्णय प्रक्रिया में महिलाओं की उपस्थिति में आश्चर्यजनक वृद्धि और (ख) भारतीय संविधान में हुए 72वें और 73वें संशोधन। इन संशोधनों के फलस्वरूप पंचायती राज संस्थाओं को वैधानिक दर्जा मिल गया है और इसके तीनों (गांव, पंचायत समिति और जिला परिषद) स्तर पर महिलाओं के लिए एक तिहाई पद आरक्षित कर दिए गए हैं। भारत की पंचायती राज संस्थाओं में अब 80,00,000 महिला प्रतिनिधि हैं जो निर्णय प्रक्रिया के सभी स्तरों पर हिस्सा ले रही हैं। मगर गांव-स्तर की राजनीति में महिलाओं का प्रवेश इतना सहज नहीं है। देश के कई हिस्सों में उन्हें अपनी एक स्वतंत्र राजनीतिक पहचान बनाने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है।

किसान आंदोलन में महिलाएं

किसान आंदोलन ने शोषित किसानों को हमेशा नई पहचान दी है। क्योंकि इन आंदोलनों ने समाज में पहले से मौजूद सत्ताधिकार के ढ़ांचे की वैधता को चुनौती दी है। सभी उग्र किसान आंदोलनों (जैसे 1946 का तिभागा, 1946-52 का तेलंगाना, 1967-69 का नक्सलबाड़ी आंदोलन) में महिलाओं की महती भूमिका रही है, जिसमें उन्होंने आंदोलनकारियों के संचार नेटवर्क को संभाला, भूमिगत आंदोलनकारियों को शरण दी, उनके लिए संकट-सूचना तंत्र को कायम रखा और जमींदारों व राजसत्ता के गठजोड़ के विरुद्ध संघर्ष में हिरावल दस्ता बन कर लड़ीं कई जगह उन्होंने सशस्त्र संघर्ष और गुरिल्ला युद्ध किया और उनमें अगुवाई की। इन क्रांतिकारी आंदोलनों ने उन्हें दासता के सदियों-पुराने ढांचे को उखाड़ फेंकने का मौका दिया। इसलिए इनमें उनकी सहभागिता स्वतः और पूर्ण रही।

कुछ वर्षों से किसानों को लामबंद करने का काम प्रायः संस्थागत हो गया है। वे अब न्यूनतम मजदूरी, समान काम के लिए समान मजदूरी और अतिरिक्त परती भूमि के वितरण जैसे मुद्दों पर स्थानीय

आंदोलनों में हिस्सा लेते हैं। इसलिए किसान आंदोलनों में उनकी सहभागिता अक्सर छिटपुट और टुकड़ों में विभाजित है। लेकिन महिला आंदोलन जैसे-जैसे दूर-दराज के इलाकों में फैलता जा रहा है, देहाती महिलाएं भी अपने अधिकारों और शोषण के प्रति जागरुक हो रही हैं।

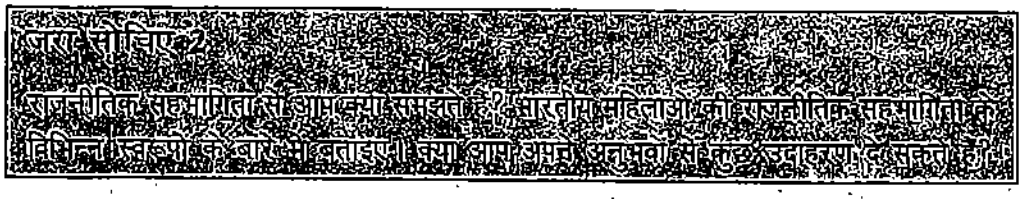

4.7 भारत में मानव विकास और सामाजिक लिंग सोच के मुद्दे

दक्षिण एशिया में मानव विकास पर संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्ट कहती है: "वह क्षेत्र जो कभी सिंधु घाटी सभ्यता की संपन्न विरासत के लिए गौरव करता था, वही दक्षिण एशिया आज मानव विकास में दुनिया के तमाम क्षेत्रों से पीछे है। यह दुनिया का आज सबसे निरक्षर क्षेत्र है... इस धरती पर सबसे दरिद्र क्षेत्र है.... जहां मानव वंचना बड़ी व्यापक है।"

सामाजिक-लिंग सोच जनित विसंगतियों पर रिपोर्ट आगे कहती है: "दक्षिण एशिया में पलना-बढ़ना एक सतत संघर्ष है, लेकिन इस क्षेत्र में महिला होने का मतलब है आपका कोई वजूद नहीं। दक्षिण एशिया की महिलाएं मानव वंचना की सबसे अधिक शिकार हैं.... महिलाओं की नैसर्गिक क्षमताओं को विकसित करने, उन्हें उन्नत बनाने और जीवन के अवसरों का पूरा लाभ उठाने योग्य बनाने के लिए यहां निवेश किया जाता है तो बहुत तुच्छ।"

4.7.1 सामाजिक लिंग सोच जनित विषमताएं: एक तुलना

मानव विकास-सूची में 174 राष्ट्रों में भारत 135वें स्थान पर है। "भारत में मानव वंचना का शिकार सबसे अधिक महिलाएं और बच्चे हैं। पांच वर्ष से कम उम्र के लगभग 6.2 करोड़ बच्चे कुपोषण से ग्रसित हैं। पंद्रह से 49 वर्ष के आयु-वर्ग की 88 प्रतिशत गर्भवती महिलाएं एनीमिया (खून की कमी) के रोग से पीड़ित हैं। प्रौढ़ महिलाओं की आबादी का दो-तिहाई हिस्सा निरक्षर है।

भारत में सामाजिक लिंग-जनित विषमताएं			
समता स्त्री/पुरुष	वर्ष	100	
आयु-संभाविता	1993	100	61/61
प्रौढ़ साक्षरता	1993	56	36/36
श्रमशक्ति	1993	47	32/68
अर्जित आमदनी में हिस्सा	1992	33	25/75
आर्थिक क्रियाकलाप की दर	1994	34	28/82
प्रशासक और प्रबंधक	1992	2	2/98
संसद में संख्या	1996	8	7/93

स्रोत: ह्यूमन डेवलपमेंट इन साउथ एशिया, 1997

भारत में लिंग संबंधी विकास सूची पर आधारित तुलना नीचे दी गई है:

तालिका: दक्षेस और कुछ विकसित देशों का सामाजिक लिंग-संबंधी विकास सूचकांक

मानव आमदनी विकास सूचकांक क्रम पुरुष	देश	आयु संभाविता		प्रौढ़ साक्षरता		सकल नामांकन		अर्जित में हिस्सा
		स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
91 65.5	श्रीलंका	74.6	70.0	86.9	93.2	68.0	65.0	34.5
111 64.6	मालदीव	61.5	64.2	92.9	93.1	70.0	70.0	35.4
138 74.3	भारत	61.4	61.1	36.1	64.5	47.0	63.0	25.7
139 79.2	पाकिस्तान	63.3	61.1	23.3	49.0	25.0	50.0	20.8
144 76.9	बांग्लादेश	56.5	56.3	24.3	48.4	34.0	45.0	23.1
154 67.0	नेपाल	54.9	55.8	12.8	39.7	42.0	68.0	33.0
155 –	भूटान	53.2	49.8	–	–	–	–	–
1 62.2	कनाडा	81.7	76.3	99.0	99.0	100.0	100.0	37.8
औद्योगिक देश 62.4		77.8	70.2	98.5	98.5	83.9	81.5	37.7
विश्व औसत 66.9		65.4	61.8	70.8	83.5	57.1	63.9	33.3

स्रोत: ह्यूमन डेवलपमेंट रिपोर्ट, 1997

जहां तक मानव विकास सूचकांक की बात है, दक्षेस देशों में भारत का स्थान सिर्फ तीसरे पर है। भारतीय महिलाओं की आयु-संभाविता श्रीलंका, पाकिस्तान और मालदीव से भी कम है। हां उनकी आयु-संभाविता बांग्लादेश, नेपाल और भूटान से अधिक जरूर है। जाहिर है कि ऐसी स्थिति में भारतीय महिलाओं की आयु-संभाविता विकसित और औद्योगिक देशों की महिलाओं से तो कम ही होगी।

प्रौढ़ साक्षरता दर और सकल नामांकन (यानी प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा में कुल प्रवेश) का जहां तक संबंध है, तो वे सिर्फ अन्य भारतीयों से ही नहीं बल्कि दक्षेस के श्रीलंका, मालदीव जैसे देशों की महिलाओं से भी पिछड़ी हैं। विकसित और औद्योगिक देशों की महिलाओं से उनकी कोई तुलना ही नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार अर्जित आमदनी में उनका हिस्सा देश के पुरुषों से काफी कम है। यह हिस्सा (25.7 प्रतिशत), श्रीलंका, मालदीव और नेपाल की महिलाओं की अर्जित आमदनी में उनके हिस्से से भी कम है। यहां यह दोहराने की जरूरत नहीं कि लिंग-जनित विषमताओं का सामना करने के बावजूद भी विकसित और औद्योगिक देशों की महिलाओं को अर्जित आमदनी में भारतीय महिलाओं से अधिक हिस्सा मिलता है।

4.7.2 सामाजिक लिंग सशक्तिकरण: एक तुलना

"सामाजिक लिंग सशक्तिकरण क्रम" का जहां तक संबंध है 174 राष्ट्रों में भारत 86वें स्थान पर है। वस्तुत: उसका स्थान मालदीव, श्रीलंका और बांग्लादेश से भी नीचे है। लेकिन भारत में 7.3 प्रतिशत सांसद महिलाएं हैं जो निश्चित ही श्रीलंका, मालदीव और पाकिस्तान में महिलाओं को मिलने वाले राजनीतिक प्रतिनिधित्व से अधिक है। मगर वहीं यह बांग्लादेश से कम है।

दक्षेस देशों में भारत ही ऐसा देश है जहां प्रशासनिक और प्रबंध सेवाओं में महिलाओं का प्रतिनिधित्व सबसे कम है। भारत के प्रशासकों और प्रबंधकों में उनका प्रतिनिधित्व सिर्फ 2.3 प्रतिशत और उच्च-व्यावयासिक और तकनीकी कर्मियों में सिर्फ 20.5 प्रतिशत है। सामाजिक लिंग यानी स्त्री जाति सशक्तिकरण मापक्रम में भारत का स्थान विश्व औसत से काफी नीचे है। नीचे दी गई तालिका में तुलनात्मक तस्वीर दी गई है।

तालिका: दक्षेस और कुछ विकसित देशों में सामाजिक लिंग (स्त्री-जाति) सशक्तिकरण मापक्रम

मानव विकास सूचकांक आमदनी क्रम	देश	सामाजिक-लिंग सशक्तिकरण मापक्रम	संसद में सीट (महिलाओं का %)	प्रशासक/ प्रबंधक (महिलाओं का %)	उच्च-व्यावसायिक तकनीकी/ (महिलाओं का %)	अर्जित में हिस्सा (महिलाओं का %)
91	श्रीलंका	70	5.3	16.9	24.5	34.0
111	मालदीव	67	6.3	14.0	34.6	35.0
138	भारत	86	7.3	2.3	20.5	26.0
139	पाकिस्तान	92	3.4	3.4	20.1	21.0
144	बांग्लादेश	76	9.1	5.1	23.1	23.0
154	नेपाल	–	–	–	–	–
155	भूटान	–	–	–	–	–
औद्योगिक देश		–	13.6	27.4	47.8	40.0
विश्व औसत		–	12.9	14.1	39.3	30.0
3	नार्वे	1	39.4	30.9	57.5	42.0

स्रोत: ह्यूमन डेवलपमेंट रिपोर्ट, 1997

4.7.3 सामाजिक लिंग-सोच जनित विषमताएं और गरीबी उन्मूलन की प्राथमिकताएं

मानव विकास सूची, सामाजिक-लिंग सशक्तिकरण मापक्रम और लिंग संबंधी विकास सूचकांक में भारत का स्थान नीचे होने का सबसे बड़ा कारण गरीबी है। आमदनी के वितरण, स्वास्थ्य सुविधाओं, शैक्षिक उपलब्धि, निर्णायक निकायों में प्रतिनिधित्व और प्रशासन व प्रबंध सेवाओं में सामाजिक-लिंग सोच जनित विषमताओं का अनुपात गरीब देशों में अधिक है। गरीबी महिलाओं का जीवन कष्टसाध्य ही नहीं बनाती बल्कि उनके लिए जीवन के विकल्पों और अवसरों के द्वार भी बंद कर डालती है। यह स्त्री-पुंजाति (स्त्री-पुरुष के बीच) की खाई की ओर बढ़ाती है और महिलाओं को पुरुषों से अधिक दुष्प्रभावित करती है। अंतत: यह गरीबी के स्त्रीकरण का रूप ले लेती है। संयुक्त राष्ट्र संघ की मानव विकास रिपोर्ट, 1997 ने इसके उन्मूलन के लिए छ: महत्वपूर्ण कार्य प्राथमिकताएं

सुझाई हैं। इनमें से पहले दो कार्य-प्राथमिकताएं सामाजिक लिंग-सशक्तिकरण से जुड़ी हैं:

क) "स्त्री और पुरुष को सशक्त (यानी अधिकार संपन्न) बनाने का पहला कदम निर्णयों में उनकी सहभागिता सुनिश्चित करना है, और उनकी क्षमताओं और उपयोगिताओं का निर्माण है।"

ख) "लिंग-समानता महिलाओं के सशक्तिकरण और गरीबी मिटाने के लिए अनिवार्य है।" रिपोर्ट आगे कहती है कि इसका मतलब है:

- स्वास्थ्य, शिक्षा और पालन–पोषण जीवन के सभी पहलुओं में लड़कियों के प्रति भेदभाव को समाप्त करने के लिए ध्यान देना होगा।
- महिलाओं के लिए समान अधिकार सुनिश्चित कर और भूमि, ऋण और नौकरी सुलभ कराके उन्हें सशक्त या अधिकार संपन्न बनाना होगा।
- महिलाओं के प्रति हिंसा को समाप्त करने के लिए और प्रभावी कदम उठाए जाएं।
- लिंग-समानता के प्रति रचनात्मक प्रतिबद्धता, जिससे गरीबी को कम करने के लिए किए जाने वाले प्रत्येक प्रयास को बल मिले। क्योंकि महिलाएं अपने साथ नई ऊर्जा, नई समझ और संगठन का नया आधार लेकर आती हैं।

विकास को अगर आरंभ नहीं किया जाए तो वह समाप्त हो जाएगा और गरीबी कम करने की रणनीतियां महिलाओं को सशक्त नहीं बना सकतीं, तो समाज को भी सशक्त नहीं बना पाएंगी।

4.8 सारांश

यह इकाई भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति का एक झरोखा है। इस इकाई की शुरुआत में हमने भारत में महिलाओं की स्थिति के मुद्दे के सामान्यीकरण की समस्याओं और इस मुद्दे पर मुख्य समानताओं के बारे में बताया। समाज में किसी एक वर्ग विशेष की हैसियत को तय करने में अर्थव्यवस्था का बहुत बड़ा हाथ है। हमने समाज में महिलाओं की आर्थिक स्थिति पर विस्तार से रोशनी डाली। इसके बाद हमने भारतीय समाज में महिलाओं की शैक्षिक हैसियत के बारे में बताया, जिसमें हमने महिलाओं की शिक्षा को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों पर भी चर्चा की। फिर हमने इस इकाई में महिलाओं के स्वास्थ्य से जुड़े मुद्दों और उनकी राजनीतिक स्थिति पर चर्चा की। आखिर में हमने भारत में मानव विकास और सामाजिक लिंग सोच जनित विषमताओं के मुद्दों की एक व्यापक प्रसंग में चर्चा की। यह इकाई हमको भारत में महिला सशक्तिकरण की समस्याओं और संभावनाओं को समझने और उन पर आगे की चर्चा के लिए पृष्ठभूमि तैयार करती है।

4.9 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

सामाजिक-लिंग सशक्तिकरण मापन : यह इस बात का सूचक है कि क्या महिलाएं आर्थिक और राजनीतिक जीवन में सक्रियता से भागीदारी में सक्षम हैं। इसका मुख्य केन्द्र सहभागिता है, जिसमें आर्थिक और राजनीतिक सहभागिता और निर्णय प्रक्रिया जैसे मुख्य क्षेत्रों में व्याप्त लिंग-जनित असमानता की माप की जाती है (मानव विकास रिपोर्ट, 1997:14)।

सामाजिक-लिंग विकास सूचकांक (जी.डी.आई.) : मानव विकास के तीन बुनियादी आयामों में प्रगति में किसी देश के स्त्री-पुरुषों के बीच असमानता को बताता है। ये आयाम हैं–दीर्घायु, ज्ञान और रहन-सहन का एक

बेहतर स्तर। बुनियादी मानव विकास में विषमता जितनी अधिक होगी उस देश का जी.डी.आई. उसके मानव विकास सूचकांक की तुलना में उतने ही नीचे होगा (मानव विकास रिपोर्ट, 1997:14)।

मानव विकास सूचकांक (एच.डी.आई.) : मानव विकास के तीन बुनियादी आयामों में किसी देश की औसत उपलब्धियों को दर्ज करता है। एच.डी.आई. एक मिला-जुला सूचकांक है, जिसमें तीन परिवर्ती हैं– आयु-संभविता, शैक्षिक उपलब्धि (प्रौढ़-साक्षरता और संयुक्त प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा में नामांकन) और प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.)। (मानव विकास रिपोर्ट, 1997:14)

4.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भारत सरकार, (1988) राष्ट्रीय महिला विकास परिप्रेक्ष्य योजना-1988-2000. (एन.एच.आर.डी., नई दिल्ली).

संदर्भ

अग्रवाल, बीना (1991) "पैटियार्की एंड मॉडर्नाइजिंग स्टेट : एन इंट्रोडक्शन'' बीना अग्रवाल (संपा.)..... में, नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

चैम्बर्जर, जोर (1974) "द मिथ ऑफ मैट्रियार्की'', एम.जेड. रोजाल्डो और एल लैम्फियर (संपादित) *वीमेन, कल्चर एंड सोसायटी*, स्टैनफॉर्ड : स्टैनफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

बसैट, मिशेल (1988) *वीमेंस आप्रेशन टुडे : द मार्क्सिस्ट/फैमिनिस्ट एनकाउंटर*, संशोधित, संस्करण लंदन : वर्सो.

बेनेडिक्ट, रूथ (1934) *पैटर्न्स ऑफ कल्चर*. न्यूयार्क : मेंटर बुक्स.

बेटिले, ए. (1992) *सोसायटी एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया*. नई दिल्ली : ऑक्सफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

भसीन, कमला (1994) *व्हट इज पैट्रियार्की*. नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

भट्टी, जरीना (1988) "सोशियलाइजेशन ऑफ फीमेल चाइल्ड इन उत्तर प्रेदश'' करूणा चानना (संपा.) *सोशियलाइजेशन, एजुकेशन एंड वीमेन*. नई दिल्ली : ओरिएंट लांगमैन.

चेटवाइंड और हार्टनेट (संपा.) (1982) *द सेक्स रोल सिस्टम : साइकॉलॉजिकल एंड सोशियोलॉजिकल पर्सपेक्टिव्स*. लंदन : राउटलेज एंड केगन पॉल.

चिटनिस, सुमा (1988) "फेमिनिज्म : इंडियन अर्थस एंड इंडियन कनविक्शंस'', रेहाना और चैडअल्ली (संपा.) *वीमेन इन इंडियन सोसायटी*, नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशंस.

चोडोरो, नैंसी (1995) "जेंडर एज पर्सनल एंड कल्चरल कंस्ट्रशन'' साइंज खंड 20, अंक 3.

कोलियर, जेन ई. और सिल्विया जे. यानागिसाको (1987) कोलियर और यानागिसाको (सपा.) *जेंडर एंड किनशिप : एसेज टुवार्ड ए यूनिफाइड एनालिसिस*. स्टैनफॉर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

कमेटी ऑन स्टैटस ऑफ वीमेन इन इंडिया (1974) *टुवार्ड्स इक्वेलिटी*. भारत सरकार, नई दिल्ली.

दास, वीणा (1988) "फेमिनिटी एंड द ओरिएंटेशन टू द बॉडी'' करूणा चानना (संपादित) *सोशियलाइजेशन, एजुकेशन एंड वीमेन* में, नई दिल्ली : ओरिएंट लांगमैन्.

डिपार्टमेंट ऑफ वीमेन एंड चाइल्ड डेवेलपमेंट (महिला एवं बाल विकास विभाग) (1996) "फोर्थ वर्ल्ड कान्फ्रेंस ऑन वीमेन, बेइजिंग 1995, कंट्री रिपोर्ट'', भारत सरकार, नई दिल्ली.

ध्रुवराजन, वनजा (1989) हिंदू वीमेन एंड द पावर ऑफ आइडियोलॉजी. नई दिल्ली : विस्तार पब्लिकेशंस.

दुबे, लीला (1993) "किनशिप एंड फैमिली इन साउथ एंड साउथ-ईस्ट एशिया : ए कम्पैरेटिव व्यू,'' यूनाटेड नेशंस यूनिवर्सिटी के "वीमेंस वर्क एंड फैमिली स्ट्रेटजीज'' प्रोजेक्ट के लिए लिखा गया पेपर.

दुबे, लीला (1988) "सोशियलाइजेशन ऑफ हिंदू गर्ल्स इन पैट्रिलीनियल इंडिया'', करूणा चानन संपादित, *सोशियलाइजेशन, एजुकेशन एंड वीमेन*. में, नई दिल्ली : ओरिएंट लांगमैन.

एडहॉल्म, फलिसिटी, ओलीविया हैरिस, केट यंग (1977) "कंसेप्चुएलाइजिंग वीमेन'' क्रिटीक ऑफ एंथ्रोपॉलॉजी, खंड 3, अंक 9 और 10.

एंजेल्स, एफ. (1972) *द ओरिजिन ऑफ द फैमिली, प्राइवेट प्रॉपर्टी एंड स्टेट*. मोस्को : प्रोग्रैस पब्लिकेशंस.

गैलैंघर, माइगरेट (1995) *वीमेन एंड द मीडिया*, इंटरनेशनल ऑथर्स सिरीज, एक्शन फॉर इक्वैलिटी, डेवलेपमेंट एंड पीस.

गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया, *नेशनल पर्सपेक्टिव प्लान फॉर वीमेंस डेवेलपमेंट 1988-2000 ए.डी.* नई दिल्ली, मानव संसाधन विकास मंत्रालय.

ग्रे, ई.डी. (1982) पेट्रियार्की एज ए कनसेचुअल ट्रेप, राउंडटेबल प्रेस, मैसाचुसेट्स.

हिलहस्ट्र, टी और एच, ओपेनूर्थ (1992) फाइनैंसिंग वीमेंस एंटरप्राइज बियांड बैरियर्स एंड.....रॉयल ट्रॉपिकल इस्टीट्यूट, एम्स्टरडम''

क़बीर, नैला (1994) ''जेंडर अवेयर पॉलिसी एंड प्लानिंग : ए सोशियल रिलेशंस पर्सपेक्टिव'' एम. मैक्डोनल्ड (संपा.) *जेंडर प्लानिंग इन डेवेलपमेंट एजेंसीज : मीटिंग द चैलेंजेज*, यू.के.: ऑक्सफैम.

कक्कड, सुधीर (1990) ''फैमिनिन आइडेंटी इन इंडिया'' रेहाना गाधियाल्ली (संपा.) *वीमेन इन इंडियन सोसायटी*, में, नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशंस.

कक्कड, सुधीर (1990) द इनर वर्ल्ड. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

कान्हेरे, उषा एस. (1987) *वीमेन एंड सोशियलाइजेशन*. दिल्ली : श्री हरी प्रिंटर्स.

कृष्णाराज, मैत्रैयी (1995) ''मदरहुड : पावर एंड पावरलेसनेस'' जसोधरा बागी (संपा.) *इंडियन वीमेन : मिथ एंड रियैलिटी* में, हैदराबाद : संगम बुक्स.

लिडिल, ओआना और रमा जोशी (1986) *डॉटर ऑव इनडिपेंडेंस : जेंडर, कास्ट एंड क्लास इन इंडिया*. नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

मेसफील्ड, एबी (1994) ''जेंडरिंग डेवेलपमेंट : द ट्रांसलेशन ऑफ थ्योरी इंटू प्रैक्टिस''. अप्रकाशित शोधपत्र.

मीड, मागरिट (1935) ''सेक्स एंड टेम्परामेंट इन थ्री प्रिमिटिव सोसायटीज''. न्यू यार्क : डेल.

माइज, मारिया (1988) ''सोशल ओरिजिंस ऑफ द सेक्सुअल डिविजन ऑफ लेबर'' मारिया माइज और अन्य द्वारा संपादित *वीमेन : द लास्ट कोलोनी*. नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

नंदी, आशीष (1988) ''वीमेन वर्सेस वूमन लाइवस इन इंडिया : एन ऐसे इन सोशल एंड पॉलिटिकल साइकोलॉजी'' रेहाना गाधियाल्ली (संपा.) *वीमेन इन इंडियन सोसायटी*. नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन.

नेशनल सैंपल सर्वे आर्गनाइजेशन (1962) *नेशनल सैंपल सर्वे*, 17वां चक्र, नई दिल्ली : एनएसएसओ. भारत सरकार.

नेशनल सैंपल सर्वे आर्गनाइजेशन (1962) *नेशनल सैंपल सर्वे*, 17वां चक्र, नई दिल्ली : एनएसएसओ. भारत सरकार.

नेशनल सैंपल सर्वे आर्गनाइजेशन (1972) *नेशनल सैंपल सर्वे*, 26वां चक्र, नई दिल्ली : एनएसएसओ. भारत सरकार.

नेशनल सैंपल सर्वे आर्गनाइजेशन (1982) *नेशनल सैंपल सर्वे*, 37वां चक्र, नई दिल्ली : एनएसएसओ. भारत सरकार.

नेशनल सैंपल सर्वे आर्गनाइजेशन (1992) *नेशनल सैंपल सर्वे*, 48वां चक्र, नई दिल्ली : एनएसएसओ. भारत सरकार.

राउज, शहनाज (1988) ''वीमेन, रिलीजन एंड द स्टेट'' *साउथ एशिया बुलेटिन* खंड 8 अंक 1 और 2 में.

स्टीवेंस, एम. (1985), ''द फेट ऑफ वीमेंस लैंड राइट्स : जेंडर, मैट्रिलाइनी एंड कैपीटलिज्म इन रेमबान, नेगेरी सेम्बिलान मलेशिया'' अफसर, एस. संपा. *वीमेन, वर्क एंड आयडियोलॉजी इन द थर्ड वर्ल्ड*. लंदन : टैविस्टॉक.

थार्न, बैरी (1982) ''फेमिनिस्ट रिथिंकिंग ऑफ द फैमिली : ओवरव्यू'' बैरी थॉर्न और मैरिलिन यैलॉम (संपा.) *रिथिंकिंग द फैमिली*. न्यू यार्क : लांगमैन.

यूएनडीपी (1997) *ह्यूमन डेवेलपमेंट रिपोर्ट*. नई दिल्ली : आक्सफोर्ड.

यूएनडीपी (1998) *ह्यूमन डेवेलपमेंट इन साउथ एशिया*. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड.

यूएनडीपी (1998) *ह्यूमन डेवेलपमेंट रिपोर्ट*. नई दिल्ली : आक्सफोर्ड

विलियम्स, रेमंड (1961) पुनर्मुद्रित, 1987 "द एनालिसिस ऑफ कल्चर", बेनेट टी., मार्टिन जी., मर्सर, सी., और वूलैकॉट संपा. *कल्चर, आयडियोलॉजी एंड सोशल प्रौसेस : ए रीडर*.

जाल्ड, एम.एन., (1978) "ट्रेजेक्टरी ऑफ सोशल मूवमेंट इन अमेरिका" क्रीशबर्ग, एल. और बी. मिस्ज्टाल संपा. *रिसर्च इन सोशल मूवमेंट्स कनफ्लिक्ट एंड चेंज*, लंदन, खंड 10, जै प्रेस इंक।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

CWED-01

महिला सशक्तिकरण एवं विकास में आधार पाठ्यक्रम

खंड

2

सामाजिक-लिंग समानता के लिए संघर्ष

खंड प्रस्तावना

इकाई 5
राजनीतिक प्रक्रिया में महिलाओं की सहभागिता 5

इकाई 6
इतिहास पर एक नया नज़रिया 18

इकाई 7
स्वतंत्र भारत में महिला आंदोलन 34

इकाई 8
दक्षिण एशिया में महिला आंदोलन 48

इकाई 9
विश्वस्तरीय बहस: मुद्दे और रुझान 66

खंड प्रस्तावना: सामाजिक-लिंग समानता के लिए संघर्ष

इस खंड में भारत में सामाजिक लिंग समानता के लिए चल रहे संघर्षों के विभिन्न स्वरूपों के बारे में बताया गया है। यहां यह जानना जरूरी है कि सामाजिक-लिंग समानता के लिए हुए सभी संघर्ष प्रकट रूप से दिखाई नहीं देते। फिर कई आंदोलनों का केन्द्र बिन्दु सामाजिक-लिंग सोच से जुड़े मुद्दे नहीं रहे हैं तो फिर ये संघर्ष, ये आंदोलन क्या हैं? इन आंदोलनों का प्रयोजन क्या है? इस खंड में इन तमाम प्रश्नों पर चर्चा की गई है। विभिन्न प्रकार की पराधीनता और दमन के खिलाफ हमेशा आंदोलन हुए हैं। सभी तरह की पराधीनता की जड़ें समाज के "सत्ताधिकार संबंधों" में गहरी समाई हुई हैं। इसीलिए जन संघर्ष या आंदोलन राजनीतिक सहभागिता का वाहन हैं। सशक्तिकरण चूंकि सत्ता पर नियंत्रण पाने की एक प्रक्रिया है, इसलिए ये संघर्ष इस प्रक्रिया में राजनीतिक सहभागिता के माध्यम बन कर योगदान करते हैं। परंतु राजनीतिक सहभागिता पर परंपरागत दृष्टिकोण अपने आप में संकीर्ण है। चूंकि प्रत्येक संबंध में सत्ताधिकार की गतिकी अंतर्निहित होती हैं, इसलिए राजनीतिक सहभागिता की परिधि को फिर से परिभाषित किए जाने की आवश्यकता है।

खंड की पांचवी इकाई राजनीतिक प्रक्रिया में महिलाओं की सहभागिता पर है। यह राजनीतिक सहभागिता के अभिप्राय, आयाम और उस पर नारी अधिकारवादी परिप्रेक्ष्य की व्याख्या प्रस्तुत करती है। वयस्क मताधिकार इत्यादि के माध्यम से प्रतिबिंबित होने वाली औपचारिक राजनीतिक सहभागिता का सिंहावलोकन भी करती है। समूचे इतिहास में महिलाओं ने विभिन्न सामाजिक आंदोलनों में हिस्सेदारी की है। इस इकाई में हमने सामाजिक आंदोलन और महिला सशक्तिकरण की संकल्पनाओं और उनके बीच संबंध पर विस्तार से चर्चा की है।

अपने शीर्षक इतिहास पर एक नया नजरिया के अनुरूप छठी इकाई पारंपरिक इतिहास की कुछ समस्याओं, उसके दोषों के बारे में बताती है। यह इकाई स्वतंत्रतापूर्व भारत में मध्यम वर्ग के उदय और समाज-सुधार आंदोलनों के आविर्भाव के साथ-साथ हो रहे परिवर्तनों को व्यापक सामाजिक संदर्भ में चित्रित करती है। महिलाओं से जुड़े मुद्दों, उनकी शिक्षा इत्यादि पर केन्द्रित समाज सुधार के आरंभिक प्रयासों के अलावा इस इकाई में राष्ट्रवादी आंदोलन में महिलाओं की सहभागिता पर उसी ऐतिहासिक संदर्भ में चर्चा की गई है। इकाई में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि नए तथ्यों और सामाजिक-लिंग मुद्दे के परिप्रेक्ष्य के मद्देनजर इतिहास की पुनर्रचना करने यानी उसे नए सिरे से लिखे जाने की जरूरत है।

सातवीं इकाई आपको स्वतंत्र भारत में महिला आंदोलनों के बारे में बताती है। यह स्वतंत्रताकालीन भारत के सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य के बारे में बताती है और विभिन्न ग्रामीण आंदोलनों जैसे श्रीकाकुलम किसान आंदोलन, बोधगया का भू-आंदोलन, चिपको आंदोलन इत्यादि में महिला सहभागिता के उदय के आधार और उसके स्वरूपों का विश्लेषण प्रस्तुत करती है। इसमें शहरी भारत में होने वाले महिला-आंदोलनों की झांकी भी दी गई है, जिसमें हमने महिलाओं के प्रति हिंसा, दहेज और दहेज हत्या, मीडिया में नारी के गलत चित्रण के विरोध में और स्वास्थ्य के अधिकार के लिए शहरों में हुए आंदोलनों पर चर्चा की है।

आठवीं इकाई दक्षिण एशिया में महिला आंदोलन में महिलाओं की सामाजिक-आर्थिक स्थिति और इन देशों में महिला आंदोलनों के कुछ आम मुद्दों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसमें विशेष रूप से नेपाल, श्रीलंका, पाकिस्तान, बांग्लादेश और भारत के समकालीन महिला आंदोलनों के स्वरूपों और उनकी दिशा के बारे में बताया गया है। इसमें हमने मुद्दा-आधारित कुछ चुनिंदा महिला आंदोलनों की चर्चा की है।

नौवीं इकाई सामाजिक-लिंग समानता पर विश्वव्यापी बहस के बारे में है। चूंकि भारत के महिला आंदोलन विश्वव्यापी महिला जागरण का ही अंग हैं, इसलिए हमारे लिए यहां सामाजिक-लिंग समानता पर विश्वव्यापी दृष्टिकोण का सार प्रस्तुत करना आवश्यक हो जाता है। इस इकाई में हमने राष्ट्र

संघ द्वारा आयोजित सम्मेलनों और पहलों की चर्चा की है। नैरोबी और बेइजिंग सम्मेलनों की सिफारिशों और इन सम्मेलनों में स्वयंसेवी संगठनों व सरकारी दृष्टिकोणों का विश्लेषण इस इकाई में किया गया है। विश्व और राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर बालिका सभी महिला मुद्दों का अभिन्न अंग है। यहां हमने विश्व, दक्षेस (सार्क) और राष्ट्रीय स्तर पर की गई पहलों का भी विवेचन किया है। इन बहसों पर हमने WED की इकाई 2 में विस्तार से चर्चा की है।

इकाई 5 राजनीतिक प्रक्रिया में महिलाओं की सहभागिता

रूपरेखा

5.0 लक्ष्य और उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 राजनीतिक सहभागिता: अभिप्राय और उसके आयाम

5.2.1 राजनीति और राजनीतिक सहभागिता

5.2.2 नारी-अधिकारवादी परिप्रेक्ष्य

5.3 औपचारिक राजनीतिक सहभागिता: एक सिंहावलोकन

5.3.1 आरंभिक दौर

5.3.2 राष्ट्रवादी राजनीति में महिलाएं

5.3.3 वयस्क मताधिकार के जरिए राजनीतिक सहभागिता

5.3.4 वयस्क मताधिकार और आरक्षण की नीति

5.4 राजनीतिक सहभागिता, सामाजिक आंदोलन और महिला सशक्तिकरण

5.4.1 सामाजिक आंदोलन और महिला सशक्तिकरण

5.4.2 किसान आंदोलन और महिला सशक्तिकरण

5.5 सारांश

5.6 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

5.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.0 लक्ष्य और उद्देश्य

इस पाठ्यक्रम के पिछले खंड में हमने लिंग-सोच (जेंडर) के सामाजिक विन्यास के विभिन्न आयामों पर चर्चा की थी। हमने विशेष तौर पर सामाजिक लिंग-विन्यास के वस्तुगत, संस्थागत व वैचारिक धरातल को जानने का प्रयास किया। हमने समकालीन भारत में महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति के बारे में चर्चा की। इस खंड की आखिरी इकाई में हमने अन्य बातों के अलावा भारत में महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता के विभिन्न पहलुओं पर भी संक्षेप में रोशनी डाली है। यह इकाई हमारी पिछली चर्चा का ही हिस्सा है जिसे हम अगली इकाईयों में विस्तार से जारी रखेंगे। असल में इस इकाई को एक तरह से इस खंड का आमुख समझा जाना चाहिए। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद,आप :

- राजनीतिक भागीदारी के अभिप्राय और आयामों को समझ सकेंगे,
- महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता के लिए की गई औपचारिक पहलों के बारे में बता सकेंगे,
- राजनीतिक प्रक्रिया और सामाजिक आंदोलनों में सहभागिता के बीच समानता का विश्लेषण कर सकेंगे, तथा
- सामाजिक आदोलनों और महिला सशक्तिकरण के बीच संबंध को समझा सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

परंपरागत रूप से राजनीतिक सहभागिता को राज्य द्वारा सत्ताधिकार के प्रयोग और सत्ताधिकर के प्रयोग के लिए राज्य की औपचारिक संस्थाओं में भागीदारी की रोशनी में देखा और समझा जाता है। मगर कुछ वर्षों से यह अवधारणा अपर्याप्त साबित हो रही है क्योंकि यह राजनीतिक सहभागिता के अन्य नाना रूपों को नहीं अपना पाई है। राज्य की औपचारिक संस्थाओं में रहे बिना भी समाज के कई समूह सत्ताधिकार का प्रयोग कर लेते हैं। यहां यह इकाई राजनीतिक सहभागिता के अर्थ और उसके आयामों से शुरू होती है। इसमें राजनीतिक सहभागिता पर नारी-अधिकारवादी नजरिए को भी चर्चा में शामिल किया गया है। महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता के कई आयाम हैं और अधिकांश पर चर्चा आगे की इकाईयों में की जाएगी। इस इकाई में हमने संक्षेप में महिलाओं से जुड़े मुद्दों को मान्यता मिलने के शुरुआती दौर, राष्ट्रवादी आंदोलन और वयस्क मताधिकार की राजनीति में महिलाओं की भागीदारी के बारे में बताया है। चुनावी प्रतिनिधित्व में महिलाओं के आरक्षण के विवादास्पद मुद्दे पर भी हमने इस इकाई में रोशनी डाली है।

सामाजिक आंदोलनों में भागीदारी राजनीतिक सहभागिता का एक अनोखा रूप है। आमूल परिवर्तनवादी सामाजिक आंदोलनों में उपेक्षित, शोषित तबकों की महिलाएं बड़े पैमाने पर आखिर क्यों हिस्सा लेती हैं? क्या परिवर्तनवादी किसान आंदोलन समाज में महिलाओं और उनके सशक्तिकरण के लिए जरूरी जगह बनाते हैं? राजनीतिक सहभागिता, सामाजिक आंदोलन और महिला सशक्तिकरण, आमूल परिवर्तनवादी और सुधारवादी आंदोलनों में महिलाओं की भागीदारी के स्वरूप और उसके फलक के बीच संबंधों पर चर्चा करने के बाद हमने इस इकाई में इन प्रश्नों पर भी रोशनी डाली है।

5.2 राजनीतिक सहभागिता: अभिप्राय और उसके आयाम

राजनीतिक प्रक्रियाओं में महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए जो प्रयास चल रहे हैं, उनके बारे में बताने से पहले यह समझना उपयोगी होगा कि राजनीतिक सहभागिता क्या है और इसकी नारी-अधिकारवादी व्याख्या क्या है?

5.2.1 राजनीति और राजनीतिक सहभागिता

लंबे समय तक सिद्धांतकारों की धारणा रही है कि प्रतिनिधित्व, नीति, स्थिति और सत्ताधिकार ही राजनीति है, जिसमें राजनीतिक गतिविधि का अखाड़ा सरकार होती है। इस धारणा के अनुसार राजनीति कोई भी ऐसी गतिविधि हो सकती है, जिसका लक्ष्य निश्चित परिणाम प्राप्त करने के लिए सरकार को एक निश्चित दिशा में ले जाना है। इस प्रकार राजनीति का संबंध मुख्यत: राष्ट्र का शासन चलाने से है। मगर आज राजनीति की जिस परिभाषा को स्वीकार किया जा रहा है, वह काफी व्यापक है। इसमें सरकार चलाने जैसे औपचारिक ही नहीं बल्कि समाज में परिवर्तन लाने वाले अनौपचारिक क्रियाकलाप भी आते हैं। राजनीति में इस प्रकार देश के शासन से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जुड़े क्षेत्र शामिल हैं, जिनमें हर नागरिक हिस्सा लेता है। सो राजनीति की परिकल्पना ने अब इसके कार्यक्षेत्रों, लक्ष्यों और क्रियाकलापों के संदर्भ में काफी व्यापक रूप ले लिया है। सिद्धांतकार अब आंदोलनों, विद्रोहों और संघर्षों को राजनीतिक व्यवहार की न्यायसंगत अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं और उन शक्तियों या कारकों का विश्लेषण करते है, जो जनता को विद्रोह की राह पर चल पड़ने के लिए विवश करते हैं। राजनीतिक सहभागिता में अब सिर्फ चुनावी राजनीति और राजनीतिक दलों के क्रिया-कलाप ही नहीं आते, बल्कि इसमें ऐसे सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन भी शामिल हैं, जिनमें महिलाओं की भागीदारी हो। राजनीतिक प्रक्रियाओं की परिभाषा में इस परिवर्तन का एक बड़ा महत्वपूर्ण परिणाम यह रहा है कि राजनीतिक कार्यक्षेत्रों की परिभाषा को भी गहराई से लिया जा रहा है। राजनीतिक कार्यक्षेत्रों में सामाजिक संबंधों के वे सभी क्षेत्र शामिल हैं जिनमें शक्ति संबंधों या

सत्ताधिकार संबंधों का जन्म होता है, उन्हें संस्थागत बनाया जाता है और उनका उपयोग संसाधनों के वितरण को बढ़ावा देने और उसे नियंत्रित करने के लिए किया जाता है। यह व्यापक परिभाषा यूनेस्को की पहल पर बनाई गई है जिसे गुट-निरपेक्ष देशों ने स्वीकार किया है। राजनीतिक मुद्दों में परिवार और रोजमर्रा के जीवन से जुड़े सभी मुद्दे शामिल हैं।

सत्ताधारियों की बपौती को चुनौती देने के लिए प्रजा द्वारा की जाने वाली सामूहिक काररवाइयां राजनीतिक प्रक्रिया का अभिन्न अंग हैं। महिलाओं ने सरकार के खिलाफ स्थानीय और राष्ट्रीय विरोधों में हिस्सा लिया है, जिसे अब राजनीतिक सहभागिता में शामिल किया जा रहा है। इसलिए राजनीतिक सहभागिता राजनीतिक प्रक्रियाओं पर प्रभाव डालने वाली स्वैच्छिक क्रियाकलापों की एक पूर्ण श्रृंखला है। ये क्रियाकलाप हैं: मतदान, राजनीतिक दलों की सदस्यता और उनके समर्थन में किए जाने वाले क्रियाकलाप, चुने सदस्यों से निजीस्तर पर संवाद, समुदाय के बीच राजनीतिक विचारों का प्रचार। दूसरी ओर उन लोगों की काररवाइयों को भी राजनीतिक सहभागिता का नाम दिया जाता है, जिन्हें निर्णय करने का कोई औपचारिक अधिकार नहीं है। इन काररवाइयों के पीछे उनका इरादा उन लोगों के व्यवहार को प्रभावित करना होता है, जिनके पास निर्णय करने का अधिकार है (एन.देसाई और यू. ठक्कर, 1990:3)।

क्या आप जानते हैं?

सत्ताधिकार की राजनीति का एक महत्वपूर्ण पहलू है देश के विकास की दिशा, प्राथमिकताओं और संसाधनों के आबंटन के संबंध में किए जाने वाले निर्णय। लोकतंत्र में निर्णय बलाकि सलाह, सहमति के जरिए हो किए जाने चाहिए, लेकिन यह भी एक निर्विवाद सत्य है कि ये निर्णय राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय दोनों स्तरों पर शक्ति संबंधों और वैचारिक आधार पर किए जाते हैं। सो अब हमारे सामने एक और प्रश्न है कि जिसे हम विकास की राजनीति करते हैं।

5.2.2 नारी-अधिकारवादी परिप्रेक्ष्य

राजनीतिक प्रक्रियाओं पर नारी-अधिकारवादी परिपेक्ष्य ने राजनीति की परिभाषा में एक और आयाम जोड़ा है। सार्वजनिक कार्यक्षेत्र और निजी कार्यक्षेत्र में एक कृत्रिम विभाजन है। राजनीति को अगर सत्ताधिकार का साधन माना जाए, जिसके जरिए सत्ताधिकारी सत्ताहीन लोगों को अपने नियंत्रण में रखते हैं, तो पितृसत्तात्मक समाज में महिलाओं के पास न तो निजी और न ही सार्वजनिक कार्यक्षेत्र में कोई सत्ताधिकार है। इसलिए अपनी जरूरतों या समस्याओं पर आवाज उठाना या विरोध करना महिलाओं के लिए एक राजनीतिक क्रिया बन जाता है चाहे घर के अंदर हो या उसके बाहर इसी कारण नारी-अधिकारवादी अक्सर इस मुहावरे का प्रयोग करते हैं "पर्सनल इज पॉलिटिकल" जिसका मतलब है जो वैयक्तिक है वह राजनीतिक है। परिवार के निजी कार्यक्षेत्र को अब सार्वजनिक कार्यक्षेत्र से परस्पर जुड़ा और उस पर निर्भर माना जाता है।

संक्षेप में राजनीतिक प्रक्रियाओं और राजनीतिक सहभागिता की नई अवधारणा में, इनका अर्थ औपचारिक चुनावी राजनीति में भागीदारी तक ही सीमित नहीं है। बल्कि इसमें दूसरी युक्तियां भी शामिल हैं, सत्ताधिकार-संबंधों को बदलने में जिनका प्रभाव महत्वपूर्ण है। राजनीतिक शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान मोरोन वाइनर के अनुसार राजनीतिक सहभागिता का मतलब जन-नीतियों, प्रशासन या सार्वजनिक मामलों के चयन या स्थानीय या राष्ट्रीय किसी भी स्तर पर सरकार में पदासीन राजनेताओं के चयन को प्रभावित करने के इरादे से की गई स्वैच्छिक कारवाई है। अब भले ही यह काररवाई चाहे सफल हो या असफल, संगठित हो या असंगठित, टुकड़ों में हो या सतत, इसके लिए वैध तरीके इस्तेमाल किए जाएं या गलत। परिभाषा के इस विस्तार और इसमें सत्ताधिकार संबंधों के नारी-अधिकारवादी नजरिए का समावेश राजनीतिक सहभागिता की प्रक्रिया को काफी प्रभावित करता है। परिवार में मौजूद असमानता के संबंधों को बदलने के संघर्ष को भी राजनीतिके माना जाना चाहिए क्योंकि परिवार कई स्तरों पर वृहत्तर सामाजिक संबंधों का एक लघुरूप ही है और वह उनसे अलग नहीं है।

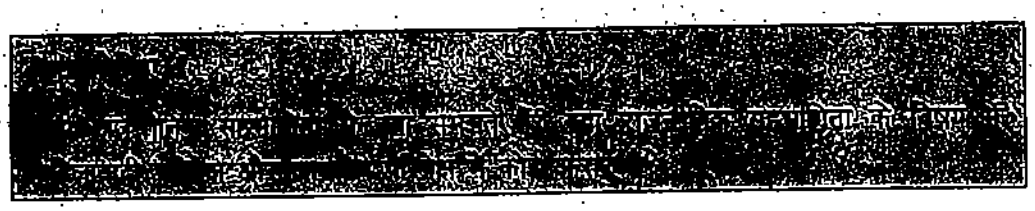

5.3 औपचारिक राजनीतिक सहभागिता: एक सिंहावलोकन

राजनीतिक सक्रियता की मान्यताओं की जानकारी हासिल कर लेने के बाद हम इस इकाई में औपचारिक ढांचे में महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता पर रोशनी डालेंगे, क्योंकि आगे की इकाइयों में विभिन्न आंदोलनों में महिलाओं की भागीदारी के बारे में बताया जाएगा।

5.3.1 आरंभिक दौर

समाज सुधारकों ने उन्नीसवीं सदी में जब पहली बार महिलाओं का सवाल उठाया तो उनका लक्ष्य उन सामाजिक बेड़ियों को तोड़ना था, एक मानुषी के रूप में महिलाओं की जिन्होंने स्वतंत्रता छीन ली थी। महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए तरह-तरह के उपाय और अभियान चलाने के बावजूद, ये समाज-सुधारक राजनीतिक या आर्थिक सहभागिता में महिलाओं के अधिकारों को शामिल करने के लिए उत्सुक नहीं थे। सामाजिक-लिंग सोच जनित परिभाषाओं पर इन समाज सुधारकों ने उंगली नहीं उठाई। न ही इन्होंने महिलाओं की भूमिका को घर की चारदीवारी से परे बढ़ाने की संभावनाओं पर कभी विचार किया। लंबे समय से सामाजिक स्थान निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों में बंटा रहा है। इसी दौरान नव-निर्मित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भारतीय सामाज की रचना में भागीदारी करने का अधिकार मांग रही थी। मगर महिलाओं को अपने राजनीतिक एजेंडे में शामिल करने के बारे में इन युगांतरकारी पुरुषों ने कभी नहीं सोचा। हालांकि इस बात के प्रमाण हैं कि कांग्रेस की वार्षिक सभाओं में महिलाएं भी हिस्सा लेती थीं, मगर राजनीतिक प्रक्रिया में अपनी विशिष्ट भूमिका को अंजाम देने के लिए उन्हें 20वीं सदी के दूसरे दशक तक इंतज़ार करना पड़ा जब गांधीजी के आह्वान पर वे राष्ट्रीय आंदोलन में कूदीं। राजनीतिक-प्रक्रिया में महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने के प्रयासों की बात करने से पहले बेहतर होगा कि हम यह समझ लें कि राजनीतिक सहभागिता क्या है?

5.3.2 राष्ट्रवादी राजनीति में महिलाएं

महिलाओं के राष्ट्रवादी राजनीति में हिस्सा लेने का परिणाम यह रहा कि इससे यह मांग उठी कि महिलाओं को मताधिकार मिले और उन्हें भी सरकारी पदों पर नियुक्त किया जाए। जब 1918 में भारतीय जनता की राजनीतिक सहभागिता के लिए कार्यक्रम का मसौदा तैयार हुआ, सरोजिनी नायडू जैसी महिला नेताओं ने यह मांग की कि "भारतीय जनता" में भारतीय महिलाओं को भी शामिल किया जाए। महिलाओं को मतदान का अधिकार मिल तो गया, लेकिन इसके लिए शर्त थी कि वे शिक्षित हों, और जमीन-जायदाद की स्वामी हों। देश के पहले महिला संगठन, अखिल भारतीय महिला सम्मेलन ने इस सीमित मताधिकार का विरोध किया और सार्वजनीन मताधिकार की मांग दोहराई। कांग्रेस ने भी अपने 1931 के प्रस्ताव में इस मांग को शामिल किया। भारतीय संविधान ने अंततः सामाजिक लिंग-समानता को प्रतिष्ठापित किया, जिससे महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता का सपना पूरा हुआ। पहले आम चुनाव में कई महिलाओं ने राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर चुनाव लड़ा। बाईस महिलाएं लोकसभा सदस्य चुनी गईं, कुछ को मंत्री पद मिले तो कुछ को राजदूत या राज्यपाल बनाया गया। तब मतदान में महिलाओं ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था।

5.3.3 वयस्क मताधिकार के जरिए राजनीतिक सहभागिता

महिलाओं को पूर्ण मताधिकार तो मिल गया लेकिन उनकी यह उपलब्धि भ्रांतिजनक है। क्योंकि मतदाताओं के रूप में महिलाओं की भागीदारी हर चुनाव में बढ़ती तो रही है, मगर वहीं राजनीतिक सत्ता के ढांचे में उनकी सहभागिता घटती रही है। चुनावों में महिला उम्मीदवारों की संख्या कम होती गई है, तो वहीं सत्ताधारी पार्टी ने उन्हें अपने मंत्रिमडल में कोई विशेष स्थान नहीं दिया। 1990 के दशक में और हाल में हुए चुनावों में उनकी स्थिति यही रही है। इस तरह कोई उल्लेखनीय परिवर्तन देखने को नहीं मिला है। तमाम लुभावने, वादों-इरादों के बावजूद किसी भी सत्ताधारी पार्टी ने अपने मंत्रिमंडल में तीन या चार से अधिक महिलाओं को नहीं लिया है, वह भी सिर्फ मंत्री-स्तर तक। जैसा कि 1995 में बेईजिंग में हुए महिला सम्मेलन में भारत की ओर से रखे गए दस्तावेज में हमें देखने को मिलता है:

"संसदीय चुनावों में महिला उम्मीदवारों की संख्या में कोई खास वृद्धि नहीं हो पाई है। राजनीतिक दलों की महिला उम्मीदवारों को चुनाव में उतारने में अब भी कोई रुचि नहीं है। चुनाव प्रचार में होने वाला भारी खर्च महिला उम्मीदवारों के लिए बाधक है। इनके अलावा चुनावों में बढ़ता भ्रष्टाचार, राजनीति का अपराधीकरण, जन प्रतिनिधियों में जिम्मेदारी का अभाव, महिलाओं, विशेषकर अनुसूचित जाति की महिलाओं को महज उपभोग का सामान समझे जाने और उन्हें डराए-धमकाए जाने की संभावनाएं जैसे कई दूसरे कारण भी उनके लिए बाधक हैं।" सुशीला कौशिक के अनुसार, "महिलाओं को हतोत्साहित करने वाले कारण अक्सर वही हैं, जिन्होंने भारतीय लोकतंत्र के चरित्र और चुनाव प्रक्रिया को दागदार बना दिया है।" इनमें हिंसा का प्रयोग, बूथ पर कब्जा और प्रचार में भारी फिजूल-खर्ची शामिल है (1995: 83)।

महिलाओं के लिए आरक्षण की नीति की आवश्यकता को हमें इसी रोशनी में समझना होगा। स्वतंत्रता पूर्व में हुए मताधिकार आंदोलन के शुरुआती दौर से ही महिला आंदोलन की मांग सामाजिक-लिंग समानता रही है न कि लिंग-अधिमानता, फिर संविधान में समानता प्रतिष्ठापित हो जाने के बाद यह महसूस किया गया कि किसी वर्ग विशेष को तरजीह देने की आवश्यकता नहीं रही। सत्तर के दशक में महिला आंदोलन के विस्तार से महिलाओं में सामाजिक लिंग-पराधीनता के बारे में जागरूकता बढ़ी। पहले के नारी-अधिकारवादी समूह प्राय: वामपंथी विचारधारा के थे। चुनावी राजनीति में उतरने की इन संगठनों में कोई रुचि नहीं रही। इसीलिए इन संगठनों ने महिलाओं को औपचारिक राजनीतिक प्रक्रिया में शामिल करने की कोई ठोस मांग नहीं रखी। उन्हें इस बात का डर बराबर बना रहता था कि अंदर से ढांचे में प्रवेश करने से महिलाएं कहीं महिला आंदोलन के मूल-दर्शन से ही भटक न जाएं। शाह और गांधी लिखते हैं: "क्या हम उस भौतिक व वैचारिक प्रभाव और बल का अनुमान लगा सकते हैं जो आंदोलन को महिलाओं के सत्ताधिकार के पदों पर काबिज हो जाने से मिलेगा। क्या महिला संगठनों को औपचारिक राजनीतिक प्रक्रिया में प्रवेश करने के लिए महिलाओं को सक्रियता से प्रोत्साहित करना चाहिए? होगा यह कि ज्यादातर महिला राजनीतिज्ञ पार्टी की जरूरतों और महिलाओं से जुड़े मुद्दों की उपेक्षा तथा महिला संगठनों व महिला आंदोलन के उद्देश्यों के बीच फंस जाएंगी।"

मगर इसी बीच राजनीतिक पार्टी के ढांचे में महिला कार्यकर्ताओं की उपेक्षा के बारे में बढ़ती चेतना के चलते पार्टी में महिलाओं को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता महसूस की गई। अस्सी के उत्तरार्ध में चरमपंथी वाम दलों ने भी चुनावी राजनीति में कदम रखे, तब महिला उम्मीदवारों को चुनाव में उतारने और उनके पर्याप्त प्रतिनिधित्व के मुद्दे भी उठे। इसका फल यह रहा कि जो महिलावादी संगठन अब तक राजनीति में महिलाओं की भागीदारी के बारे में मुखर होकर नहीं बोल रहे थे वे भी अपने संगठनों के भीतर ऐसे तमाम सवाल उठाने लगे। महिला आरक्षण नीति के प्रति दृष्टिकोण में इस परिवर्तन के कई दूसरे कारण भी थे। जैसे आर्थिक परिवर्तन और राजनीति में बढ़ती साम्प्रदायिकता जिसका नकारात्मक सबसे अधिक महिलाओं पर पड़ता है। शाहबानो केस, रूप

रूपकुंवर सतीदाह और बाबरी मस्जिद का ध्वंस, इन सब मामलों ने नारी-अधिकारवादी संगठनों को राज्य के पितृसत्तात्मक और सांप्रदायिक रवैये के विरुद्ध ला खड़ा किया। राजनीतिक ढ़ांचे के भीतर अपने अधिकारों की बातें दृढ़तापूर्वक कहने की जरूरत शिद्दत से महसूस की गई है। बड़ी संख्या में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के महत्व को अब स्वीकारा जा रहा है क्योंकि कुछ नीतिगत कदम बुनियादी तौर से महिलाओं के विरोध में जाते हैं। इसीलिए नारी-अधिकारवादी समूहों के कुछ धड़े राजनीतिक ढ़ांचे में प्रवेश करने का प्रयास कर रहें हैं। यही नहीं, नारी-अधिकारवादियों को यह एहसास हो गया है कि महज संख्या या महिलाओं की उपस्थिति दर्ज हो जाने भर से ही महिलाओं की जरूरतों की पूर्ति नहीं हो पाएगी। महिला आंदोलन अब यह भी प्रयास कर रहा है कि पॉर्टी उम्मीदवार किए गए वादों पर खरा उतरे।

वर्ष 1991 में हुए आम चुनावों और अन्य राज्य विधानसभा चुनावों में यह प्रयास किया गया कि राजनीतिक दल अपना राजनीतिक एजेंडा महिलाओं की जरूरतों, उनकी आकांक्षाओं के अनुरूप तय करें। उदाहरण के लिए, इस दिशा में सार्थक हस्तक्षेप की कार्यनीति के तहत सात अखिल-भारतीय संगठनों ने महिला मतदाताओं को घर-घर जाकर उन्हें इसी ऐजेंडे के आधार पर उम्मीदवारों को वोट देने के जरूरत के बारे में जागरूक बनाने का अभियान चलाया। फिर 1996 के आम चुनावों में ऐसे प्रयासों के फलस्वरूप राष्ट्रीय महिला गठबंधन (नेशनल एलायन्स ऑव वीमेन) ने महिला घोषणापत्र राष्ट्र के सामने रखा। मगर इससे पहले गठबंधन ने क्षेत्रीय संगठनों के नेटवर्क की पहल पर जमीनी-स्तर की कई बैठकें, सभाएं की। घोषणापत्र ने महिलाओं के नजरिए से एक नई परिभाषा दी है और आर्थिक उदारीकरण व साम्प्रदायिक राजनीति के मौजूदा रुझानों के प्रति उनकी चिंताओं को आवाज दी है। न्याय और समानता के सिद्धांतों पर समाज के पुनर्निर्माण की मांग के अलावा घोषणापत्र महिलाओं के प्रति बढ़ती हिंसा को रोकने के लिए राजनीतिक इच्छाशक्ति पैदा करने का आह्वान करता है। यह सुनिश्चित करने के लिए कि चुने उम्मीदवार अपने चुनावी वादों के प्रति ईमानदार रहें और महिलाओं के हितों का स्वर दें, महिलाओं की एक अलग पार्टी बनाने का विचार भी रखा गया है। यह विचार मूलत: स्कैन्डिनेवियाई देशों और जर्मनी में हुए ऐसे प्रयोगों से उपजा है।

इस तरह राजनीतिक प्रक्रिया में अपने लिए जगह बनाने के इन प्रयासों में, नीतियों और कार्यक्रमों को प्रभावित करने वाले पैरोकार समूहों से शुरू कर आज महिला आंदोलन नीति-निर्धारण की प्रक्रिया में सक्रियता से हिस्सेदारी करने लगा है। असल में यह उस एहसास का फल है कि सामाजिक-लिंग-संगत कानूनों की मांग करना व मौजूदा न्याय व्यवस्था में खामियां ढूंढना ही काफी नहीं है। बल्कि यह भी महत्वपूर्ण है कि ऐसी किसी भी नीति को पहले से रोकना होगा जो मानवीय हितों में भेदभाव करती हो। राजनीतिक प्रक्रियाओं में महिलाओं की भूमिका के प्रति बढ़ती जागरूकता और राजनीतिक तंत्र में महिलाओं की उपस्थिति के बढ़ते महत्व के मद्देनजर विभिन्न राजनीतिक दलों की महिला नेता अब अपने दलों के पुरुष नेताओं की सतही सहानुभूति और दिखावे का खुलकर विरोध कर रही हैं। इसका उदाहरण हमारे सामने कुछ वर्ष पहले आया, जब चार महिलाओं को प्रधानमंत्री इंद्रकुमार गुजराल के मंत्रिमंडल में शामिल किया गया, मगर उन्हें कोई कैबिनेट पद देने के बजाए साधारण विभाग दिए गए तो चारों महिलाओं ने त्यागपत्र देकर अपना विरोध प्रकट किया।

5.3.4 वयस्क मताधिकार और आरक्षण की नीति

भारतीय संविधान में 73वें और 74वें संशोधन किए गए हैं। इसके साथ-साथ 1994 में पंचायती राज अधिनियम भी पारित हुआ है। इस अधिनियम में 20 लाख की आबादी वाले राज्यों में स्थानीय-स्वशासन के लिए तीन-स्तरीय ढ़ांचे की व्यवस्था है। इसमें एक ग्राम पंचायत, एक पंचायत समिति और एक जिला परिषद है। अधिनियम में सदस्यों का चुनाव मुख्यत: सीधे चुनाव के जरिए किए जाने का प्रावधान है। इस अधिनियम की परिवर्तनकारी विशेषता यह है कि इसमें 33 प्रतिशत सीटें अनुसूचित जातियों और 33 प्रतिशत सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित की गई हैं। महिलाओं के लिए आरक्षण

की नीति न तो समय-बद्ध है और न ही उन्हें अनारक्षित या सामान्य सीटों से लड़ने से रोका गया है। ऐसा अनुमान है कि इस तरह गांव के स्तर पर लगभग 800,000 सीटें, मध्यवर्ती स्तर पर 17,000 सीटें और जिला स्तर पर 1583 सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित रहेंगी।

पंचायतों में चुनकर आई महिलाओं की कार्यक्षमता के बारे में विशेषज्ञ, विद्वानों के ही नहीं बल्कि सामाजिक कार्यकर्ताओं के आरंभिक अध्ययनों के नतीजे उत्साहवर्धक कतई नहीं थे। ऐसी खबरें मिल रही थीं कि अनपढ़ होने के कारण अधिकतर पंचायत महिला सदस्य पंचायत के पुरुष सदस्यों की मुठ्ठी में हैं। अक्सर अपनी पत्नी की आड़ में सारे फैसले पति कर रहे थे। अध्ययनों से यह बात भी सामने आई कि अनुसूचित जाति की महिला सदस्यों को ऊंची जाति के पुरुष डरा-धमका रहे हैं। मगर महिलाओं के लिए चलाए गए सामाजिक लिंग-शिक्षण शिविरों में उन्होंने जो अनुभव सुनाए वह एकदम अलग थे। दरअसल इस प्रयोग में महिलाओं का सशक्तिकरण हो रहा है। वे पर्दे के पीछे से अपने पति या पुरुष सदस्यों के निर्देशों का विरोध ही नहीं कर रही हैं बल्कि वे अब पानी के प्रबंध, ईंधन, सुरक्षित सड़कें इत्यादि मुद्दे उठा रही हैं और दमन-शोषण के निजी और सार्वजनिक स्वरूपों को धीरे-धीरे आपस में जोड़ कर देखने लगी है। एक तरह से पंचायत-स्तर पर इस भागीदारी ने देहाती महिलाओं को जीवन में उद्देश्य और आत्मबल दिया है। आंध्र प्रदेश में कुछ वर्ष पहले चले अरक विरोधी आंदोलन से यह स्पष्ट हो जाता है। (इस पर चर्चा हम पाठ्यक्रम के अंतिम खंड में करेंगे)।

खोई हुई पहचान की पुनः प्राप्ति, पंचायत की बैठक में महिलाएँ, वोरोडिया गांव, मध्य प्रदेश

सौजन्य : देबल के. सिंहराय, इग्नू, नई दिल्ली

संसद और राज्य विधानसभाओं में महिलाओं को 33 प्रतिशत आरक्षण आज एक ज्वलंत प्रश्न बना हुआ है, जिसका वादा कई राजनीतिक पार्टियों ने किया है। कुछ ही गुटों का इस कदम के प्रति सकारात्मक रवैया है मगर कुछ राजनेता और संगठन इस कदम की सफलता के प्रति उतने आश्वस्त नहीं है। इसके प्रति शुरू में राजनेताओं ने जो उत्साह दिखाया था, वह अब ठंडा पड़ गया है। बल्कि

इसके खिलाफ वे अब तरह-तरह के तर्क रख रहे हैं। इनमें सबसे मुख्य तर्क यह है कि इससे बहू-बीबी-ब्रिगेड को ही सबसे ज्यादा लाभ मिलेगा। मगर उनके विरोध के पीछे असली कारण कुछ और है। असल में पुरुष राजनेताओं को इसमें अपना वर्चस्व, सत्ता और प्रभाव सभी खतरे में पड़ते नजर आ रहे हैं। इधर ग्रामीण महिलाओं की बढ़ती दावेदारी ने उन्हें महिलाओं के सही मायने में सत्ताधिकार का प्रयोग करने के खतरे के प्रति सजग बना दिया है। फिर उन्हें यह भी महसूस हो रहा है कि इससे उनकी शारीरिक उपस्थिति भी कम हो जाएगी। लोकसभा में 25-30 महिला सांसदों की जगह 165 सांसदों की उपस्थिति उन पर सचमुच भारी पड़ेगी। मगर ऐसी महिला उम्मीदवारों को ढूंढ पाना मुश्किल होगा जो सामाजिक-लिंग सोच के मुद्दों समेत सार्वजनिक हित के सभी मुद्दों के प्रति गंभीर हों। तिस पर महिलाएं समरूप समूह नहीं हैं, इसलिए वर्गीय और जातिगत मुद्दों को लेकर मतभेद उभरना स्वाभाविक है। यह एक और प्रश्न को जन्म देता है कि क्या महिलाओं की अलग से एक राजनीतिक पार्टी हो जो उनके सरोकारों और परिप्रेक्ष्य की समानता को अभिव्यक्ति दे सके।

अपने अनुभव से सीखें 1

विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि की कम से कम 10 महिलाओं से बातचीत करें। औपचारिक राजनीति में महिलाओं की सहभागिता के पक्ष और उसके विरोध में उनसे कारण जानिए।

5.4 राजनीतिक सहभागिता, सामाजिक आंदोलन और महिला सशक्तिकरण

सामाजिक आंदोलन एक महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया है। ये वास्तव में जनसाधारण की बड़े पैमाने पर राजनीतिक सहभागिता का मार्ग प्रशस्त करते हैं। अपने रोजाना की जिंदगी में हो सकता है कि आप सत्ताधिकार का प्रयोग नहीं करते हों। मगर सामाजिक आंदोलन में हिस्सा लेकर आप सत्ताधिकार के प्रयोग में हिस्सा लेते हैं। यह कैसे संभव है? इसके लिए आइए सामाजिक आंदोलन और सशक्तिकरण के अर्थ और उनके आयामों को जानें।

5.4.1 सामाजिक आंदोलन और महिला सशक्तिकरण

सामाजिक आंदोलन मोटे तौर पर समाज के सोच, विश्वासों, मूल्य-संबंधों और (राजनीति समेत) प्रमुख संस्थाओं को बदलने और एक नई सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने के लिए किए जाने वाला संगठित या सामूहिक प्रयास है (ब्लूमेर 1951; टॉच 1965; हैबली 1951; 1972; गसफील्ड 1192; विल्सन 1973)। संगठित और अभिप्रेत सामूहिक कारवाइयां सामाजिक आंदोलनों का महत्वपूर्ण पहलू हैं।

दूसरी ओर सशक्तिकरण की प्रक्रिया का केन्द्र बिन्दु सत्ताधिकार की गतिकी है। संसाधनों और विचारधारा पर अपने नियंत्रण के बूते एक गुट के पास दूसरों को नियंत्रित करने का प्रभावशाली सत्ताधिकार हो सकता है। सत्ताधिकार उन्हीं लोगों के पास होता है, जो सिर्फ भौतिक और ज्ञान के संसाधनों पर ही नहीं बल्कि उस विचारधारा पर भी काबिज रहते हैं, जो सार्वजनिक और निजी जीवन को संचालित करती है। इस तरह वे ऐसे निर्णय करने की स्थिति में रहते हैं जो उनके हित साधें। इसलिए सत्ताधिकार को निर्धारित करने वाले निजी-व्यक्तित्व, विचारधारा और संसाधनों को अपने नियंत्रण में लाने की प्रक्रिया को सशक्तिकरण कहा जा सकता है (बाटलीवाला, 1993:71)।

एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में सशक्तिकरण सत्ताधिकार के वितरण और संबंधों में मौजूद बुनियादी असंतुलनों को चुनौती देता है। यह परिवार के भीतर और परिवार व समाज के बीच सत्ताधिकार के

पुनर्वितरण की प्रक्रिया है इसका उद्देश्य सामाजिक समानता है, जिसे कुछ ढाचों, बंदोबस्तों और संस्थाओं को सत्ताधिकारहीन बना कर हासिल किया जा सकता है। अतः सशक्तिकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका लक्ष्य उन व्यवस्थागत शक्तियों के स्वभाव और दिशा को बदलना है, जो एक निश्चित परिस्थिति में महिलाओं और समाज के अन्य वंचित वर्गों को उपेक्षित बनाती हैं। इसे वंचित वर्गों को समर्थ बनाने की प्रक्रिया भी माना जाता है (शर्मा, 1972:29)। इस प्रकार महिलाओं के सशक्तिकरण को एक ऐसा सामाजिक वातावरण बनाने का जरिया माना जा सकता है, जिसमें महिलाएं समाज की भलाई के लिए निजी या सामूहिक तौर पर खुद निर्णय कर सकें। अब, चूंकि महिलाओं की समाज में स्थिति वंचितों की है, इसलिए महिला सशक्तिकरण की प्रक्रिया समाज के दूसरे वंचित वर्गों के सशक्तिकरण में भी सहायक होगी। सामाजिक आंदोलन और सशक्तिकरण दोनों सामाजिक प्रक्रियाएं हैं। बदलाव की ओर रुझान और सुस्पष्ट रणनीतियां इन प्रक्रियाओं के बुनियादी घटक हैं। दोनों ही स्वाग्रह (अपने अधिकार का दावा करने) से लेकर सामूहिक लामबंदी तक की एक आरोही प्रक्रिया से गुजरते हैं। मगर सामाजिक आंदोलन के लिए सामूहिक लामबंदी, नेतृत्व और सुस्पष्ट संगठन जरूरी हैं। सामाजिक आंदोलन तरह-तरह के (सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक) मुद्दों के लिए हो सकता है, वह सामूहिक लामबंदी के विविध रूप (आमूल परिवर्तनवादी और सुधारवादी) ग्रहण कर सकता है, और यह विविध संकल्पनात्मक प्रणालियां अपना सकता है। सशक्तिकरण सामूहिक लामबंदी का रास्ता भी अपनाता है और धीरे-धीरे इससे एक ऐसा नेतृत्व और संगठन उभरता है जो लिंग-समानता के विशिष्ट रुझान लिए रहता है। इसका उदाहरण महिला सशक्तिकरण के लिए समर्पित जमीनी-स्तर पर सक्रिय संगठन हैं। इस प्रकार सशक्तिकरण एक निश्चित परिस्थिति में सचेतन सामाजिक आंदोलन का एक ही बदला रूप है (सिंहरॉय, 1995)।

...लिए संघर्ष – जारी मंजिल दूर है।

सौजन्य : सी.एस.आर., नई दिल्ली

5.4.2 किसान आंदोलन और महिला सशक्तीकरण

यूं तो सशक्तिकरण की प्रक्रिया कुछ समय बाद अपने विकास क्रम में सामाजिक आंदोलन का दर्जा पा सकती है, लेकिन महिलाओं के सशक्तिकरण की संभावनाएं विभिन्न सामाजिक आंदोलनों, जैसे किसान और दलित आंदोलनों, में भी निहित होती हैं। हालांकि इन आंदोलनों के तर्काधार, संगठन और नेतृत्व ढांचे में महिला सशक्तिकरण के मुद्दों को विशेष स्थान नहीं मिलता, लेकिन इन मुद्दों की अभिव्यक्ति की इनमें काफी गुंजाइश रहती है। यह अभिव्यक्ति सांकेतिक होती है जो हमें इन आंदोलनों में महिलाओं की सहभागिता के रूप में दिखाई देती है। अभिव्यक्ति की यही गुंजाइश आगे चलकर स्वतंत्र महिला सशक्तिकरण आंदोलनों को जन्म देगी।

इस पृष्ठभूमि के मद्देनजर, और गहरी जांच-पड़ताल के लिए ये प्रश्न उठाए जा सकते हैं: महिलाओं को अपनी समस्याओं को आवाज देने के लिए सामाजिक आंदोलन के विस्तृत फलक के भीतर अलग स्थान की जरूरत क्यों पड़ती है? क्या सभी आंदोलनों में इस तरह की अभिव्यक्ति के लिए जरूरी स्थान और स्थितियां मौजूद रहती हैं? इस तरह की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक सभावनाएं और स्थितियां क्या एक आंदोलन के बुनियादी चरित्र में बदलाव के साथ बदल जाती हैं? अब हम इन सवालों का विश्लेषण करेंगे।

क) आमूल परिवर्तनवादी किसान आंदोलन और महिला सहभागिता

यह देखा गया है कि आमूल परिवर्तनवादी आंदोलन महिलाओं के सशक्तिकरण की अधिक संभावनाएं लिए रहते हैं क्योंकि ये उन सभी नियमों, मूल्यों और संस्थागत दासता को अस्वीकार करते हैं जो ग्रामीण समाज में किसान महिलाओं की पराधीनता और अधिकारहीनता को औचित्य प्रदान करते हैं। दूसरी ओर जमीनी-स्तर के लामबंदी के रूप में चलने वाले सुधारवादी किसान आंदोलनों में महिला सशक्तिकरण की संभावनाएं सीमित रहती हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे आंदोलन पूर्ववर्ती व्यवसायों, नियमों और लिंग-पार्थक्य और पराधीनता के मूल्यों को इस या उस रूप में स्वीकार करते हैं।

पश्चिम बंगाल का कृषक समाज 20वीं सदी में कई किसान आंदोलनों के प्रचंड विस्फोटों का गवाह रहा है। इनमें प्रसिद्ध हैं 1946-47 का तिभागा का आंदोलन और 1967-71 का नक्सलबाड़ी किसान आंदोलन। इन आंदोलनों का एक महत्वपूर्ण आयाम यह था कि इनके हर चरण पर महिलाओं ने बढ़-चढ़ कर हिस्सेदारी की थी। इन आंदोलनों में ऊंची जाति के जमींदारों-सूदखोरों के खिलाफ़ में महिलाओं की भागीदारी पूर्ण और स्वत: स्फूर्त थी। उत्साह की इस नई लहर ने गांव की सबसे पिछड़ी महिलाओं को भी छुआ। वीरांगना किसान महिलाओं ने आंदोलन के प्रचार अभियान की कमान संभाली और कई बार जोतदारों के गुंडों के खिलाफ़ लड़ाई में पुरुषों की अगुवाई की (चक्रवर्ती 1980-87)। राजवंशी, पालिया, महतो, कोलकमार जातियों और संथाल जनजाति के किसान और बटाईदार घरों की औरतों ने इन आंदोलनों में शुरू से सक्रियता से भाग लिया। जैसे गुप्त सभाओं में भाग लेने वाले आंदोलनकारियों के लिए भोजन आदि की व्यवस्था करना, भूमिगत कार्यकर्ताओं को शरण देना और उनके सूचना-तंत्र के लिए काम करना, जमींदारों की खुलकर अवहेलना करना, जबर्दस्ती धान की कटाई अपने "खोलन" (आंगन) में करना और शंख, घंटे और बर्तन बजाकर आंदोलनकारियों को खतरे की सूचना देना। अपने पारंपरिक हथियारों से लैस होकर महिलाओं ने हिरावल दस्तों की भूमिका निभाई और पुलिस बल का रास्ता रोककर सामूहिक प्रतिरोध प्रकट किया। बंगाल के उत्तरी भाग में पुलिस गोलीबारी में कई महिलाएं खेत हुईं। राज्य के दमन चक्र से बचने के लिए आंदोलनकारी जब भूमिगत हो गए तो महिलाओं ने उन्हें रसद और सूचना भेजने का काम किया और उनके घर और परिवार की देखरेख की। जब उनके परिवार के पुरुष सदस्य भूमिगत थे तो उस दौरान जमींदारों के हमलों का सामना करने के लिए महिलाओं ने आत्मरक्षी दस्ते बनाए।

ख) आमूल परिवर्तनवादी आंदोलनों में महिला सशक्तिकरण

अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर सामाजिक और आर्थिक क्रमपरंपरा में सबसे नीची श्रेणियों की महिलाओं ने इन आंदोलनों में इतनी बड़ी संख्या में हिस्सा क्यों लिया? क्या उनकी अनुभूति उसी सामाजिक-आर्थिक क्रमपरंपरा के पुरुषों से भिन्न थी? इन प्रश्नों का समाधान हम एक ओर महिलाओं के उत्पीड़न के विशिष्ट स्वरूप और उसकी व्यापकता और दूसरी ओर किसान आंदोलन नारी मुक्ति और सशक्तिकरण को स्थान देने वाले समतावादी तत्वों और लामबंदी के स्वरूप की रोशनी में तलाश सकते हैं।

जाति-क्रमपरंपरा और पितृसत्ता के परंपरागत मूल्य और समाज के संस्थागत नियम और मूल्य ही नारी-उत्पीड़न और उपेक्षा को न्यायोचित ठहराते हैं और उन्हें जारी रखते हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक कारक महिलाओं के पार्थक्य से अभिन्न रूप से जुड़े हैं। यही पार्थक्य राजनीतिक निष्क्रियता का कारण है। इसी प्रकार पितसृत्तात्मक आचार-नियम और मूल्य, बाहरी विश्व और उत्पादन के संसाधनों तक महिलाओं की पहुंच पर काफी अंकुश लगाते हैं और उनकी बढ़ती उपेक्षा में हाथ बंटाते हैं। आमूल परिवर्तनवादी किसान आंदोलनों ने इन्हीं आदर्शक सामाजिक व्यवस्थाओं को तोड़ा जिन्होंने ग्रामीण मेहनतकश वर्ग की महिलाओं के उत्पीड़न और उपेक्षा को वैधता प्रदान की थी।

कृषक महिलाओं की आवाज़ - समाज इनकी उपेक्षा कब तक करेगा?

सौजन्य : सी.डब्ल्यू.डी.एस., नई दिल्ली

) सुधारवादी किसान आंदोलन और महिला सहभागिता

ाछले वर्षों में किसान वर्ग की लामबंदी का स्वरूप और उसकी सीमा पश्चिम बंगाल में काफी बदल ई है। आमूल परिवर्तनवादी और गैर-संस्थागत लामबंदी की जगह संस्थागत संसदीय दलगत

राजनीति और जमीनी-स्तर की लामबंदी ने ले ली है। आमूल परिवर्तनवादी किसान आंदोलनों के दौरान किसानों को सामूहिक कारवाइयों के लिए लामबंद करने के लिए जिन वामपंथी राजनीतिक दलों ने कभी आमूल-परिवर्तनवादी और जुझारु का संघर्षों प्रायोजन किया था, उनका सरोकार आज सिर्फ संस्थागत सामूहिक लामबंदी और चुनावी राजनीति रह गई है। संयुक्त वाममोर्चा (जो बंगाल के वामपंथी दलों का गठबंधन है) की सरकार, जो राज्य में 1977 में सत्ता में आई थी, वह भूमि सुधार कानूनों को कड़ाई से लागू करने, देहाती गरीबों की आर्थिक स्थिति को सुधारने और अर्थेतर उत्पीड़न के आधारों को समाप्त करने की वकालत करती है। वामपंथी दलों को अपने भूमि-सुधार कार्यक्रम और जमीनी स्तर पर लामबंदी में काफी सफलता मिली है। जमीनी स्तर पर लामबंदी की इस प्रक्रिया में महिला सहभागिता के स्वरूप और उसकी सीमा परिभाषित की गई है, जिसे राजनीतिक दलों, राज्य और समाज के संस्थागत परिप्रेक्ष्य के भीतर संचालित किया जा रहा है।

वर्तमान में पश्चिम बंगाल में किसान आंदोलनों ने सुधारवादी चरित्र पा लिया है। किसान आंदालेनों की संकल्पनात्मक दिशाओं में भारी बदलाव आया है। माकपा, रासपा, भा.क.पा. (मा.ले.-सत्यानाराण सिन्हा-संतोषणारा गुट) जैसे वामपंथी दलों ने "वैचारिक संशोधनवाद" की दिशा के तहत ऐसी रणनीतियां अपना ली हैं, जो धीमे परिवर्तन के मार्ग पर चलती हैं। इस प्रक्रिया ने इस या उस रूप में उन्हीं नियमों और संस्थाओं का संबल दिया है जो महिलाओं की उपेक्षा और वंचना को न्यायसंगत ठहराते हैं या उन्हें बढ़ावा देते हैं। असल में सुधारवादी आंदोलन सांकेतिक रूप से ही सही पुरुष प्रधान सामाजिक व्यवस्था का पक्षपोषण करते हैं।

आंशिक वैचारिक परिवर्तन और संशोधनवाद का सामरिक रास्ता पकड़ने के बाद सुधारवादी किसान आंदोलन में आर्दशक ढ़ांचे की दासता, पितृसत्ता, लिंग-पार्थक्य और अंतत: उपेक्षा को चुनौती देने की कोई संभावना नहीं बची है। समाज के चुनिंदा नियमों और मूल्यों, जिनमें महिलाओं की अधिकारहीनता ही परंपरागत अपेक्षा है, को इन प्रक्रियाओं से व्यापक मान्यता मिली है। लामबंदी की इन प्रक्रियाओं में खेतिहर महिलाओं को विकास योजना के "लाभार्थी" के बतौर देखा जा रहा है, परिवर्तन के वाहक के रूप में नहीं। गरीबी की आधारी राजनीति में वे आज उन ग्रामीण राजनेताओं की अधीन और आश्रित हैं, जिन्होंने अपने लिए सत्ताधिकार और संपदा का संचय कर रखा है। विकास संबंधी कार्यक्रम उदीयमान राजनेताओं के जरिए लागू किए जा रहे हैं। कृषि में चिरकालिक पिछड़ेपन और रोजगार के वैकल्पिक साधनों की अनुपस्थिति में किसान महिलाओं के एक बड़े हिस्से में अपनी आर्थिक स्थिति को उन्नत करने के लिए तत्काल सुलभ राजनीतिक रास्ते पर चलने की प्रवृत्ति हावी हो रही है (सिंह रॉय, 1995)।

मगर इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि निर्बाध लामबंदी की इस प्रक्रिया ने इन महिलाओं को एक नए विश्व-दृष्टिकोण से परिचित कराया है। इस तरह की लामबंदी ने निस्संदेह महिलाओं को समाज में और उसके इर्द-गिर्द घटने वाली घटनाओं के प्रति सजग बनाया है। हाल के वर्षों में पति-पत्नी के संयुक्त नाम से जमीन के "पट्टे" जारी होने, और पंचायतों में एक तिहाई आरक्षण महिलाओं को दिए जाने से ग्रामीण महिलाओं को राज्य के स्थानीय राजनीतिक क्षेत्र में अपनी एक नई पहचान बनाने में निश्चय ही मदद की है।

जन लामबंदी के संस्थापन (यानी उसे संस्थागत बनाए जाने) की प्रक्रिया में महिलाएं यद्यपि युगों से चली आ रही सामाजिक दासता को नहीं तोड़ पाई हैं तथापि वे अब संगठित होकर अपने मुद्दों को उठा सकती हैं और इस दासता की वैधता को चुनौती दे सकती हैं। उनमें नेतृत्व की एक क्षीण सी पंक्ति भी उभरी है जिससे समाज में परिवर्तन और समानता का सूत्रपात होगा।

5.5 सारांश

इस इकाई में समाज में नारी की राजनीतिक सहभागिता के स्वरूप और उसकी सीमा से आपको परिचित कराया है। इसमें हमने संक्षेप में महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता का अर्थ और उसके विभिन्न आयामों के बारे में बताया है। महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता पर नारी-अधिकारवादी प्ररिपेक्ष्य को रखने के साथ-साथ हमने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देकर इतिहास के विभिन्न चरणों पर महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता के अलग-अगल स्वरूपों पर भी चर्चा की है। सामाजिक आंदोलन में महिलाओं की सहभागिता और नारी सशक्तिकरण एक दूसरे से जुड़े हैं। इसमें यह बताया गया है कि सामाजिक आंदोलनों में भागीदारी राजनीतिक सहभागिता का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। इकाई के अंत में यह बताया गया है कि सामाजिक आंदोलनों की महिला-सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका है।

5.6 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

व्यस्क मताधिकार	:	प्रौढ़ आबादी को वोट देने का अधिकार।
संस्थायन	:	किसी घटना या प्रक्रिया को समाज के स्थापित नियमों, कानूनों, रीति-रिवाजों और अन्य प्रक्रियाओं के अनुसार वैधता प्रदान करना
जोतदार	:	परंपरागत बड़े जमींदार।
चरमपंथी वामदल	:	नक्सलवादी इत्यादि जैसे चरमपंथी साम्यवादी जिन्हें गैर संस्थागत जन लामबंदी और उग्रक्रांति में विश्वास हो।
उत्पादकता के संसाधन	:	उत्पादन के लिए काम लाए जाने वाले संसाधन जैसे भूमि, प्रौद्योगिकी, श्रम, दक्षता इत्यादि।

5.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कौशिक, एस. (1998) *वूमन एंड पंचायती राज*. नई दिल्ली : हरआनंद पब्लिकेशन. *सिम्बल्ज ऑव पावर*

सिंहरॉय डी.के. (1995) "पीजेंट मूवमेंट्स एंड वीमेन्स एंपावरमेंट" *ई.पी. डब्ल्यू*, सिंत. 16.

इकाई 6 इतिहास पर एक नया नज़रिया

रूपरेखा

6.0 लक्ष्य और उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 परंपरागत इतिहास की कुछ कमियाँ

6.3 सामाजिक परिप्रेक्ष्य

6.3.1 व्यापक बदलाव

6.3.2 उदीयमान मध्यमवर्ग का उदय और समाज सुधार आंदोलन

6.3.3 गौरवमय विरासत

6.4 समाज सुधार के कुछ आरंभिक प्रयास

6.4.1 विधवा दाह या सती प्रथा का उन्मूलन

6.4.2 विधवा विवाह

6.4.3 दूसरे किस्म के सुधार

6.5 महिलाओं की शिक्षा

6.5.1 शिक्षा की जरूरत

6.5.2 पाठ्यक्रम

6.6 महिलाएँ और राष्ट्रवादी आंदोलन

6.7 सारांश : एक नया इतिहास

6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.0 लक्ष्य और उद्देश्य

इस इकाई का लक्ष्य यह स्पष्ट करना है की इतिहास को सामाजिक-लिंग परिप्रेक्ष्य में एक नए नज़रिए से देखने की आवश्यकता है। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप :

- पारंपरिक इतिहास की समस्याओं का विश्लेषण कर सकेंगे,
- औपनिवेशिक कालीन भारत में मध्यम वर्ग के उदय और समाज सुधार आंदोलन के सामाजिक संदर्भ का विश्लेषण कर सकेंगे,
- महिला सरोकार के मुद्दों पर समाज सुधार के आरंभिक प्रयासों के बारे में बता सकेंगे,
- राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी के संदर्भ के बारे में बता सकेंगे, तथा
- इतिहास की पुनर्रचना की आवश्यकता जान सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

औपनिवेशिक काल में महिलाओं के सरोकार के कई मुद्दे उठे थे। इस इकाई में हमारी चर्चा का केंद्र यही मुद्दे हैं। असल में 19वीं सदी में समाज सुधार में हुए संगठित प्रयास आगे चलकर 20वीं सदी

के महिला आंदोलन के पहले चरण में जा मिले और उन्होंने महिला संगठनों का एजेंडा तय किया। इस लिहाज से यह एक महत्वपूर्ण दौर था।

हमारा लक्ष्य यहाँ दोहरा है। एक: महिलाओं की दशा में गुणात्मक सुधार लाने के लिए उनकी ओर से किए गए क्रिया-कलापों की सूची बताने के बजाए हम यहाँ उस संदर्भ पर ध्यान केंद्रित करेंगे जिसके तहत अमुक मुद्दे उठाए गए थे और उन पर अभियान, आंदोलन छेड़े गए थे। दो: यहाँ हम समाज सुधार के इन प्रयासों में मौजूद सामाजिक-लिंग पूर्वाग्रहों पर एक आलोचनात्मक नज़र डालेंगे और इस युग के परंपरागत इतिहास की त्रुटियों और पूर्वाग्रहों के बारे में बताएँगे। इस इकाई में हमारा मंतव्य इन शुरुआती पहलों, प्रयासों की चर्चा कर परंपरागत इतिहास के प्रच्छन्न पूर्वाग्रहों को उघाड़ना और यह बताना है इतिहास को एक नए नज़रिए से देखने की ज़रूरत आखिर क्यों है।

6.2 परंपरागत इतिहास की कुछ कमियाँ

समाज सुधार आंदोलनों का परंपरागत इतिहास हमें 19वीं सदी के भारत में मौजूद कई कुरीतियों, सामाजिक बुराइयों के बारे में बड़ी उपयोगी जानकारी देता है। जैसे: विधवा दाह, विधवा पुनर्विवाह की मनाही, कुलीन बहुविवाह प्रथा। यह इतिहास हमें भारत में अंग्रेजी की शिक्षा और उदार विचारधारा के प्रचार-प्रसार के बारे में भी बताता है। अंग्रेजी शिक्षा और उदार विचारधारा ने इसाई मिशनरियों की गतिविधियों के साथ मिलकर भारतीय मध्यम वर्ग में सामाजिक बदलाव और धार्मिक सुधार के कई आंदोलनों को जन्म दिया। इससे हमें यह जानकारी भी मिलती है कि इन कारकों के चलते किस तरह समाज सुधारकों ने सामाजिक बुराइयों के खिलाफ मोर्चा खोला, महिलाओं की शिक्षा को बढ़ावा दिया, जिसके लिए औपनिवेशिक सरकार और सुधारकों ने महिलाओं के लिए कई स्कूल और कॉलेज खोले। अंतत: इन प्रयासों ने महिलाओं को कई बेड़ियों से मुक्त किया और घर की चारदीवारी और परदे से बाहर निकाल कर उन्हें सार्वजनिक कर्मभूमि में ला खड़ा किया। इस प्रक्रिया की परिणति राष्ट्रीय आंदोलन में हुई जिसमें महिलाओं ने बढ़-चढ़कर भागीदारी की।

मगर कई ऐसे प्रश्न हैं जिन्हें इस परंपरागत इतिहास ने कभी नहीं उठाया। इन सामाजिक कुरीतियों का असर कितनी महिलाओं पर पड़ा? क्या इनकी शिकार सभी महिलाएँ समान रूप से बनीं या किसी जाति या वर्ग विशेष की महिलाएँ ही इनके शिकंजे में थीं? कितनी महिलाएँ अपने घर की चारदीवारी में कैद थीं? नई शिक्षा से कितनी महिलाओं को लाभ पहुँचा था? महिलाओं की शिक्षा का सारतत्व क्या था? यह उन्हें असल में क्या सिखाती थी? ब्रिटिश हुकूमत कहाँ तक प्रगतिशील थी? उसकी कथनी और करनी में कितना अंतर था? समाज सुधार के प्रयासों में कितने सफल रहे? सुधारों ने कुछ समस्याओं को दूर करते हुए क्या नई समस्याओं और पूर्वाग्रहों को जन्म दिया? क्या सुधार महिलाओं को नियंत्रित करने और उन्हें उनकी 'औकात' में रखने का नया माध्यम बने या इन्होंने वास्तव में महिलाओं को बेड़ियों से मुक्त किया? फिर महिलाएँ स्वयं कहाँ खड़ी थी? क्या वे पुरुषों के समाज सुधार प्रयासों की मूक और तटस्थ दर्शक थी? शुरुआत से ही महिलाएँ अगर पहल करतीं तो क्या सुधार आंदोलनों की प्रकृति भिन्न होती? राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं की सहभागिता किस तरह की थी? इस भागीदारी ने पत्नी और माँ के रूप में क्या उनकी भूमिका को बदला या फिर इन भूमिकाओं को और मजबूत बनाया? औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था ने भिन्न वर्गों और भिन्न क्षेत्रों की महिलाओं को किस तरह से प्रभावित किया। भिन्न जातियों और वर्गों की महिलाओं के बीच संबंध किस तरह के थे?

भारतीय इतिहास में कुछ दौर निश्चय ही सामाजिक-लिंग संबंधों से जुड़े ऐसे प्रश्नों के प्रति संवेदनशील था, जिनके बारे में अब लिखा जा रहा है। इस इकाई को औपनिवेशिक काल तक सीमित रखा गया है और यह इन वैकल्पिक रुझानों का विस्तृत सर्वे नहीं है। मगर यह उन नए क्षेत्रों के बारे में बताती है जिन पर खोज की जाने लगी है और इस दौर के बारे में नए प्रश्न उठाए जाने लगे हैं।

6.3 सामाजिक परिप्रेक्ष्य

अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में यूरोप में उथल-पुथल का दौर था। उदाहरण के लिए, फ्रांसीसी क्रांति ने एक अलग जीवन दर्शन को जन्म दिया। इसने सामंतवादी और क्रमपरंपरावादी सामाजिक व्यवस्था की नींवें हिला दीं थीं और यह समतावादी विचारों को लेकर चली थी जिनके अनुसार सभी मानव समान हैं। यूँ तो इसका मंतव्य यूरोप की महिलाओं की मुक्ति का नहीं था मगर इसने महिलाओं को अपनी आवाज़ उठाने और इन विचारों की पुनर्व्याख्या करने की शक्ति और समझ दी। यूरोपीय महिलाओं ने समानता की मांग और अपनी मुक्ति के संघर्ष के लिए मार्ग इन्हीं विचारों से निकाला। इसी काल में नए वर्गों का उदय हुआ, जिन्होंने एक अपेक्षतया अधिक पंथ निरपेक्ष और लोकतांत्रिक समाज की स्थापना के लिए आंदोलन किया जो पारंपरिक बेढ़ियों से मुक्त हो। इस परिवर्तन से भी यूरोपीय महिलाओं को अपने सरोकार के मुद्दों को उठाने की प्रेरणा मिली।

अठारहवीं सदी का भारत भी उथल-पुथल के दौर से गुज़र रहा था। मुगल साम्राज्य के टुकड़े हो चुके थे, उसकी जगह कई छोटी-छोटी रियासतों ने ले ली थी और भारतीय समाज में अनेक महत्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और कृषि संबंधी परिवर्तन हो रहे थे। औपनिवेशिक राजनीतिक-अर्थ व्यवस्था ने भारत में भी नए वर्गों को जन्म दिया। इन्हीं वर्गों ने नए सामाजिक आंदोलनों में नेतृत्व संभाला। मध्यकालीन भक्ति आंदोलन ने ब्राह्मणवाद के कई गढ़ों को चुनौती दी थी। यह आंदोलन हालांकि अब तक समाप्त हो चुका था, मगर यह ऐसी विरासत छोड़ गया, जिसने वर्ण व्यवस्था को नई चुनौतियां देने के लिए ज़मीन तैयार की। समाज सुधार के आंदोलनों को परिप्रेक्ष्य इन्हीं कारकों और उन समतावादी विचारों से मिला जो भारत के उपनिवेश बनने के समय से ही फैलने लगे थे। महिलाओं के मुद्दों का चयन और उनकी परिभाषा इन्हीं ने तय की।

6.3.1 व्यापक बदलाव

जीते हुए राज्यों को अपने साम्राज्य में मिलाकर या कूटनीति से राज्यों को हड़प कर अंग्रेजों ने भारतीय उपमहाद्वीप के एक बड़े भूभाग को सीधे अपने शासन के नियंत्रण में रख लिया। इससे उन्नीसवीं सदी में संचार, परिवहन, राजस्व और प्रशासन के नेटवर्क में बडा विस्तार हुआ तो इसके साथ नए-नए नियम और कानून भी बने। ब्रितानी शासकों की आर्थिक नीति ने भारत की आर्थिक व्यवस्था को औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था में बदल डाला, जिसकी प्रकृति और ढाँचा ब्रिटिश उद्योग की जरुरतों से तय हुए। इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह रहा कि भारत के परंपरागत हस्तशिल्प और कल-कारखाने बंद होने लगे क्योंकि जहाँ एक ओर उन पर उच्च आयात कर था तो दूसरी और घरेलू बाजार में आयातित सस्ते औद्योगिक उत्पादों की जैसे बाढ़ आ गई। इस आर्थिक विध्वंस ने दस्तकारों, कारीगरों को इनके पेशों से उखाड़ फेंका। फिर बार-बार अकाल ने कारीगरों को और कंगाल बना दिया सो काम और रोजगार की तलाश में वे शहरों की ओर चल पड़े। कई महिलाएँ जो अभी तक खेती बाड़ी या दूसरे परंपरागत काम धंधों में लगी थीं, उन्हें भी अपने काम धंधों को छोड़ना पड़ा और गरीब वर्गों की महिलाओं को अपने परिवार के मर्दों के साथ कारखानों, मिलों, बंदरगाहों में काम करना पड़ा या मज़दूर बनकर शहरों की ओर पलायन करना पड़ा।

उधर ब्रितानी सरकार ने भूमि संबंधों में परिवर्तन किए जिसके पीछे उसका उद्देश्य एक ओर बेरोकटोक राजस्व कमाना और दूसरी ओर यहाँ के धनाढ्य अभिजात्य और जमींदार वर्ग का सहयोग और समर्थन हासिल करना था। जैसे बंगाल में पहला बंदोबस्त हुआ, जिसने जमींदारों को भूस्वामी और सरकार का माल गुजार या एजेंट बना दिया। मगर वहीं दूसरी ओर किसानों को बंदोबस्त ने काश्तकार का दर्जा देकर उनके परंपरागत ज़मीनी हक-हकूक छीन लिए। रयैतवाड़ी बंदोबस्त से भी किसानों को कोई लाभ नहीं पहुँचा।

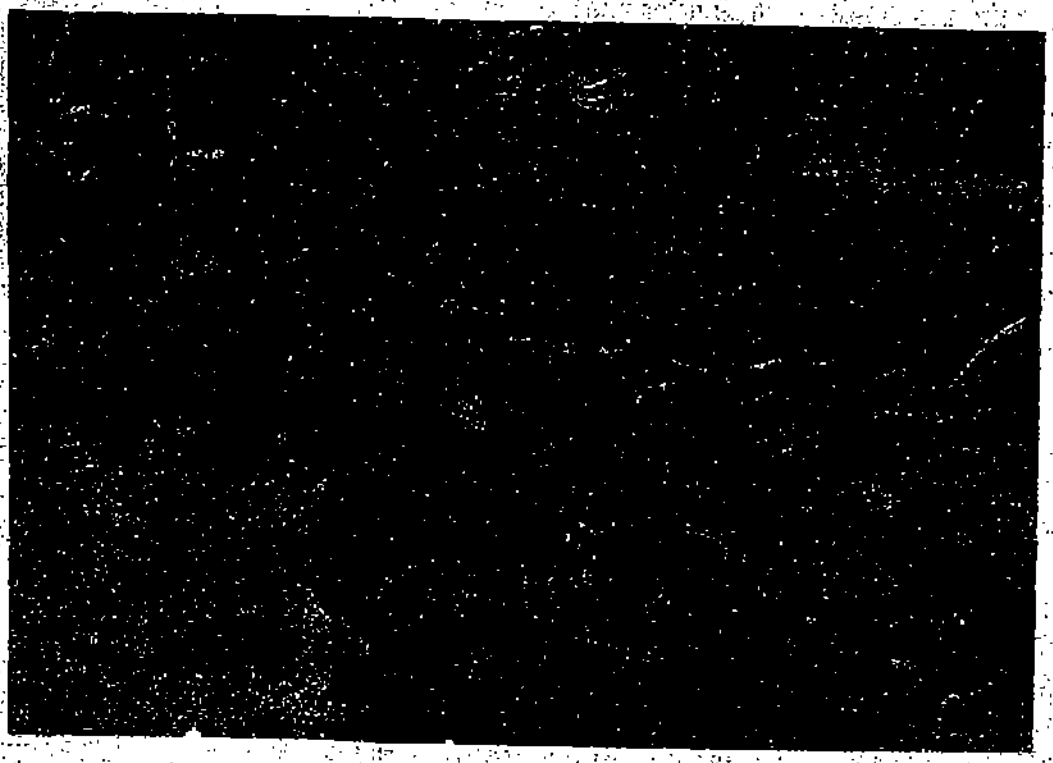

अभी पहुंचे हैं, शहरी असंगठित श्रम बल में शामिल हो रहे हैं

सौजन्य : वी. किरणमई, इन्नू, नई दिल्ली

देहाती और ज़मीन जोतने वाले कृषक वर्गों की महिलाओं पर भी इसका बुरा असर पड़ना लाजमी था। इस नई भूराजस्व प्रणाली ने महिलाओं को किस तरह से प्रभावित किया उसका अब अध्ययन किया जा रहा है। सो हमें इतनी जानकारी नहीं है कि हम आपके सामने इसकी पूरी तस्वीर रख सकें। अभी तक जो भी प्रमाण, वृतांत या आंकड़े जुटाए जा सके हैं उनसे यही पता चलता है कि देहात की श्रमिक महिलाओं को उनके परंपरागत भूमि अधिकार से वंचित कर दिया गया था। उधर जंगलात के कानूनों ने सामुदायिक संपत्ति और संसाधनों पर ग्रामीण और जनजातीय महिलाओं के परंपरागत अधिकारों को छीन लिया। इससे यह भी पता चलता है कि औपनिवेशिक नीतियों ने भी कृषि भूमि की खरीद-फरोख्त, हस्तांतरण और दाखिल-खारिज संबंधी देहाती महिलाओं को अपने मर्दों पर अधिकाधिक आश्रित बनाया।

राजस्व नीतियों ने जमींदारों के एक धनाढ्य, विशेषाधिकार संपन्न वर्ग को खड़ा किया तो वहीं औपनिवेशिक शिक्षा नीति ने भी एक ऐसा मध्यम वर्ग खड़ा किया जो अंग्रेजों का स्वामिभक्त था। मगर ये दोनों वर्ग समान रूप से वफादार नहीं थे। इनमें से एक बहुत बड़े धड़े ने 1857 के विद्रोह को समर्थन दिया और उसमें शिरकत की। इस क्षेत्र में अभी तक बहुत कम अनुसंधान कार्य हो पाया है। सो हम नहीं जानते कि अभिजात्य परिवारों की महिलाओं, निम्न जातियों और वर्गों की महिलाओं और जनजातीय महिलाओं ने 1857 के विद्रोह के दौरान हुए विरोध प्रदर्शनों, आंदोलनों में हिस्सा लिया था या नहीं। फिर 20वीं सदी में जमींदारों का एक धड़ा, मध्यम वर्ग और महिलाओं समेत कृषक वर्ग के लोग बड़ी संख्या में राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़े और अंग्रेजों की सत्ता को उखाड़-फेंकने के लिए इस लंबे संघर्ष में भागीदारी की।

6.3.2 उदीयमान मध्यम वर्ग का उदय और समाज सुधार आंदोलन

औपनिवेशिक काल में हुए समाज सुधार आंदोलनों ने विधवा-दाह, मादा शिशु-हत्या, बहु-विवाह, बाल- विवाह, विधवा-पुनर्विवाह, विधवाओं के सीमित संपत्ति अधिकार, परदा-प्रथा, लड़कियों की शिक्षा जैसे मुद्दों को उठाया था। ब्रिटिश प्रशासकों और भारतीय समाज सुधारकों दोनों ने ही इन मुद्दों को उठाया और कभी-कभी आपस में सहयोग भी किया।

समाज सुधार के इतिहास की जो परिपाटी चली आ रही है वह हमें यही बताती है कि ये सभी सरोकार और प्रयास इसलिए हुए कि ब्रितानी शासक और ईसाई मिशनरी भारतीय नारी की निम्न स्थिति के लिए भारतवासियों की निंदा करते थे। हालांकि यह निंदा यूरोपीय सभ्यता की श्रेष्ठता के दावे के साथ की जाती थी। मगर दूसरे किस्म के कारक भी सक्रिय थे।

समाज सुधार के प्रयास मुख्यत: वर्ग निर्माण की प्रक्रिया के साथ-साथ आदरणीय मध्यमवर्गीय महिला और निम्न जाति व निम्न वर्ग की महिला के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा खींचने की मध्यम वर्ग की जरूरत के अनुसार किए गए थे। फिर इन्होंने उदीयमान मध्यम वर्ग की दूसरी जरूरतों पर भी गौर किया। महिलाओं को नई मध्यम वर्गीय भूमिकाओं में इस तरह से ढालना था कि वे पितृसत्तात्मक बंदोबस्तों को मूलभूत रूप से चुनौती न दें (संगारी और वैद, 1989)। इस सबके लिए कई बदलाव जरूरी थे। जैसे, साड़ी अब ब्लाउज और पेटीकोट के साथ पहनी जानी थी (पेटीकोट विक्टोरियाई परिधान से लिया गया था), वेशभूषा की यह नई संहिता विक्टोरियाई नैतिकता के अनुरूप थी (बनर्जी, 1995)। मध्यम वर्ग की महिलाओं की दैनिक घरेलू दिनचर्या को नए सिरे से व्यवस्थाबद्ध किया गया ताकि वे सरकारी नौकरी में लगे अपने पतियों के नए कार्य पैटर्नों और बच्चों की स्कूल समय-सारणी के अनुसार अपनी भूमिका में तालमेल बिठा सकें (संगारी, 1993)।

इन समाज सुधार आंदोलनों की आलोचना आज मुख्यत: इनके उच्च जाति और वर्गीय चरित्र के कारण की जाती है। इन आंदोलनों की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि इन्होंने श्रमजीवी महिलाओं के एक बहुत बड़े हिस्से की जरूरतों की तरफ से आँख मूद ली थी। औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के बोझ में सबसे ज्यादा ये ही दबी थीं। ये गरीब, मेहनतकश स्त्रियाँ इन सामाजिक कुरीतियों से कोसों दूर थीं, क्योंकि ये बुराइयाँ तो अमूमन ऊँची जातियों और वर्गों तक ही सीमित थीं। उदाहरण के लिए ये महिलाएँ सामाजिक रूप से न तो पृथक थीं, न ही उन्हें परदे में रहना पड़ता था। बल्कि वे तो खेती-बाड़ी, विनिर्माण या छोटे-मोटी दुकानदारी या विक्रय जैसी आर्थिक गतिविधियों में घरबार-आधारित उद्यमों या स्वतंत्र कामगारों के रूप में लगी थीं। अकाल और निपट गरीबी के कारण इनमें से कई को औद्योगिक मज़दूर बनना पड़ा। परदे को घर में छोड़ कर सार्वजनिक कार्य-क्षेत्र में कदम रखने पर जो चिल्लपों मचती उसकी इन्हें कोई परवाह नहीं थी-क्योंकि ये तो पहले से ही घर की चारदीवारी से बाहर निकल कर काम-काज कर रही थीं।

6.3.3 गौरवमय विरासत

समाज सुधार आंदोलन पाश्चात्य उदारपंथी और पंथनिरपेक्ष विचारों या आंग्लीयता के साथ-साथ ब्रिटिश प्राच्यविदों और पुनरुत्थानवादियों से भी प्रभावित थे (चक्रवर्ती, 1989:27-28)। यह तालमेल अंशत: ब्रिटिश नीतियों की प्रतिक्रिया और उनका परिणाम था।

इनमें हिंदू सभ्यता की गौरवमय विरासत को पुनर्जीवित करने की ओर बड़ा व्यापक रुझान मौजूद था। हिंदुओं-आर्यों के गौरवमयी अतीत की यह अवधारणा औपनिवेशिक शासन की परिचर्चाओं और ब्रिटिश हुकूमत की 'फूट डालो और राज करो' नीति की उपज थी। इसने ऊँची जाति के समाज सुधारकों में प्रचलित इस विश्वास को फैलाया कि मुगल शासन काल में ही हिंदुत्व का पतन हुआ और उसमें बुराइयाँ उपजीं। इसके लिए हिंदू नारी का उल्लेख सामुदायिक पतन के सबसे पहले उदाहरण के रूप में किया जाता था (कुमार, 1993:8)। वैदिक काल को खासकर हिंदू महिलाओं की शिक्षा और संपत्ति के अधिकार के मामले में स्वर्णिम युग कहा गया तो 19वीं सदी में प्रचलित विधवादाह, मादाशिशु हत्या,

स्त्री निरक्षरता, परदा प्रथा, बाल-विवाह जैसी कुरीतियों का दोष मुस्लिम शासन या विदेशी आक्रमणों पर मढ़ दिया जाता था।

उदाहरण के लिए आर्यसमाज आंदोलन ने मूर्तिपूजा को ठुकरा कर वैदिक काल की कई प्रथाओं, रीतिरेवाजों को पुनर्जीवित करने का बीड़ा उठाया और प्राचीन भारत में हिंदू नारी की एक गौरवमयी छवि को चित्रित किया (चक्रवर्ती, 1989)। आर्य समाजियों और उन जैसे कई दूसरे समाज सुधारकों ने अतीत से हिंदू नारी की जो आदर्श छवि पेश की उसके पीछे उनकी मंशा यही थी कि यह 19वीं सदी की भारतीय नारी का आदर्श बने।

मगर इस आदर्श छवि में निम्न जाति की नारी का कोई स्थान नहीं था। बल्कि इस आदर्श छवि का उपयोग ब्राह्मणवादी प्रथाओं और वर्ण-व्यवस्था के बचाव, उन्हें विधि सम्मत ठहराने के लिए भी किया गया। इसने धर्मों के बीच की खाई को पाटने के बजाए उसे और चौड़ा कर दिया, क्योंकि इसने इस बात को पूरी तरह से अनदेखा कर दिया कि जिन हानिकारक या दमनकारी प्रथाओं पर आक्रमण किया जा रहा था वे सिर्फ हिंदू महिलाओं तक सीमित नहीं थी। बल्कि अन्य धर्मों की महिलाएँ भी इनसे उतनी ही पीड़ित थीं। इसने हिंदू पूर्वाग्रह को जन्म दिया, जिसका प्रभाव हम समाज सुधार आंदोलनों के परंपरागत इतिहास में देख सकते हैं। समाज सुधार के प्रयासों का इतिहास धर्म के अनुसार हिंदू, सिख, मुस्लिम आदि संप्रदायों में ही बंट गया है। इससे यह सचाई ही छुप जाती है कि भले ही उनका धर्म कुछ भी रहा हो महिलाओं पर होने वाले कई तरह के दमन, उत्पीड़न और उनसे जुड़े मुद्दे समान थे।

प्राचीन भारत के इतिहासकार अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि हिंदुओं-आर्यों के गौरवमयी विरासत की यह आदर्श नारी असल में 19वीं सदी की एक काल्पनिक खोज थी जिसका वास्तविकता से दूर तक नाता नहीं था। इतिहासकार बताते हैं कि इस सिद्धांत के पक्ष में प्रमाण बहुत सीमित भौगोलिक क्षेत्र से जुटाए गए हैं। फिर ये साक्ष्य ब्राह्मणवादी स्रोतों से लिये गये हैं। ऊँची जाति की महिलाओं को जो थोड़ा बहुत सांस्कारिक और सामाजिक स्थान उन्हें हासिल था वह उन्हें अनार्य स्त्री और पुरुषों के शोषण के जरिए मिला था। मजे की बात है कि इन्हीं ब्राह्मणवादी स्रोतों से हमें पता चलता है कि असल में प्राचीन भारत में स्त्रियों को पितृसत्तात्मक प्रणाली का दास बनाने का प्रचलन अति उन्नत अवस्था में था, जहाँ उन्हें पुरुष की संपत्ति समझा जाता था। दुल्हन का दान दूल्हे को दूसरे साज-सामान के साथ किया जाता था। स्त्रियों को कई सांसारिक और संस्कारिक क्रिया-कलापों से दूर रखा जाता था और उन्हें सिर्फ पत्नी और माँ के रूप में ही सीमित सम्मान मिलता था। विद्वानों के रूप में शिक्षित स्त्रियों की स्थिति हाशिए की ही नहीं बल्कि उनका स्थान पुरुष विद्वानों से नीचे था (चक्रवर्ती, 1988-1989, रॉय, 1995)।

गौरवमयी इतिहास की इस खोज का एक ठोस परिणाम यह रहा कि प्राचीन और 19वीं सदी की मध्यम वर्गीय हिंदू नारी को पाश्चात्य नारी से मौलिक रूप से अलग चित्रित करने का प्रयास हुआ। इसने हिंदू और पाश्चात्य नारी दोनों के रूढ़िगत-रूपों को जन्म दिया जिनका वास्तविकता से कोई संबंध नहीं था। इन रूढ़िगत रूपों का प्रयोग यह साबित करने के लिए किया गया कि भारतीयों का अतीत, उनकी विरासत प्रबुद्ध, शिक्षित पश्चिम जगत् के समान दर्जे की थी। या इससे यह साबित करने का प्रयास किया गया कि ब्रितानी विश्वासों के विपरीत भारतीय स्वराज या स्वशासन के योग्य थे। या फिर यह दावा किया गया कि हिंदू परंपराएँ संसाधनों की धनी थीं और उसे पाश्चात्य जगत् से उधार लेने की कोई जरूरत नहीं थी।

मंतव्य भले ही कुछ भी रहा हो, गौरवमयी विरासत और रुढ़िबद्ध धारणाओं के आविष्कार ने नए रुढ़िवाद को जन्म दिया। इस नए रुढ़िवाद में महिलाओं के उत्थान के लिए किए जाने वाले हर सुधार के लिए तर्क शास्त्रों में ढूंढने की प्रवृत्ति हावी थी। ये शास्त्र इस दावे, इस आग्रह का आधार बन गए कि चूँकि हिंदू नारी पाश्चात्य नारी से भिन्न है सो उसे उसकी तरह समान कानूनी अधिकार या संसाधनों की कोई आवश्यकता नहीं है। या फिर ये भारतीय नारी के आधुनिकीकरण

की सीमा बाँधने का आधार बन गए। आदर्श हिंदू नारी चाहे वह प्राचीन भारत की रही हो या 19वीं सदी के भारत की, को ऐसी नारी के रूप में पेश किया गया कि जो साक्षर या ज्ञानी तो हो मगर पश्चिमी या आधुनिक विचारों से दूषित नहीं हो। वह पारिवारिक और पितृसत्तात्मक ढाँचे में इस तरह मजबूती से ढली हो कि शिक्षित बनने के बावजूद भी वह सती-सावित्री बनी रहे। इस प्रकार पाश्चात्यवाद का विरोध एक विचारधारा ही बन गई जिसका उद्देश्य महिलाओं को उनकी औकात में रखना था, जिसने पितृसत्तात्मक प्रथाओं, रीति रिवाजों को शाश्वत बनाया। भारतीय नारी के लिए इसके दूरगामी परिणाम निकले।

जरा सोचिए

भारत में ब्रिटिश शासन के क्या सामाजिक प्रभाव पड़े?

6.4 समाज सुधार के आरंभिक प्रयास

अब आगे हम सामाजिक-लिंग समता की दिशा में हुए कुछ शुरुआती अभियानों, सरोकारों और आंदोलनों पर आएँगे। हम सिर्फ कुछ अति महत्वपूर्ण मुद्दों को ही यहाँ ले रहे हैं।

क्या आप जानते हैं? 1

समाज सुधार आंदोलनों की कुछ विशेषताएं इस प्रकार थी :

क) इन आंदोलनों की पहली विशेषता यह थी कि इन पर पुरुषों का प्रभुत्व था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जाकर ही महिलाओं ने इन मुद्दों के बारे में बोलना शुरू किया। सो यह कोई संयोग की बात नहीं थी कि 19वीं सदी के उत्तरार्ध तक सुधार आंदोलनों के इतिहास में राजा राममोहन राय, केशव चन्द्र सेन, विद्यासागर, सैयद अहमद खान, एम.जी. रानाडे, दयानंद सरस्वती, बेहरामजी मालाबारी इत्यादि जैसे नायकों की पहलों का ही वृतांत छाया है। कईयों ने गोरी सरकार से सहायता ली और ब्रह्म समाज (1825), प्रार्थना समाज (1867) और आर्य समाज (1875) जैसे संगठनों की नींव पड़ी। इन आंदोलनों में महिलाओं के नाम 19वीं सदी के आखिरी वर्षों में उभरना शुरू हुए। मगर खुद महिलाओं के इन आंदोलनों में सक्रिय होने के बावजूद भी उनके लिए पुरुष समाज सुधारकों द्वारा तय विचारधारा के दायरे को तोड़ना कठिन था। वस्तुत: 19वीं सदी के उत्तरार्ध में और उसके बाद राष्ट्रवादी आंदोलन में जिन महिलाओं ने भागीदारी की या नेतृत्व की कमान संभाली उन्होंने भी सामाजिक-लिंग संबंधी मुद्दों पर दकियानूसी रवैया अपनाया। इसका कारण थी पुरुष समाज सुधारकों की प्रभावशाली परंपरा। मगर पंडिता रमाबाई, रुक्माबाई और ताराबाई शिंदे जैसी कुछ महिलाओं ने 19वीं सदी के अंत में बाल विवाह, ऊँची जाति की विधवाओं की दशा इत्यादि मामलों में पुरुष समाज सुधारकों के पूर्वाग्रहों को चुनौती देना शुरू कर दिया था।

ख) दूसरी विशेषता यह थी कि अधिकांश पुरुष समाज सुधारकों ने पितृसत्तात्मक ज्यादतियों को ही अपना निशाना बनाया। इसे यूँ कह लें कि उन्होंने उन्हीं प्रथाओं को उठाया जो बेहद क्रूर या हिंसक थीं। पराधीनता के व्यापक सामाजिक और नातेदारी के ढाँचों, विवाह और परिवार की पवित्रता, श्रम के लैंगिक विभाजन और जाति क्रमपरंपराओं को उन्होंने कोई चुनौती नहीं दी, जिन्होंने असमानताओं को शाश्वत बनाया था।

मगर जिन गिने चुने पुरुष समाज-सुधारकों ने इन्हें चुनौती दी उन्हें समाज सुधार के परंपरागत इतिहास में उतना महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिला। ऐसा ही एक उदाहरण महाराष्ट्र के समाज सुधारक ज्योतिराव फूले का है जिन्होंने जाति व्यवस्था पर चोट की और जिन्होंने

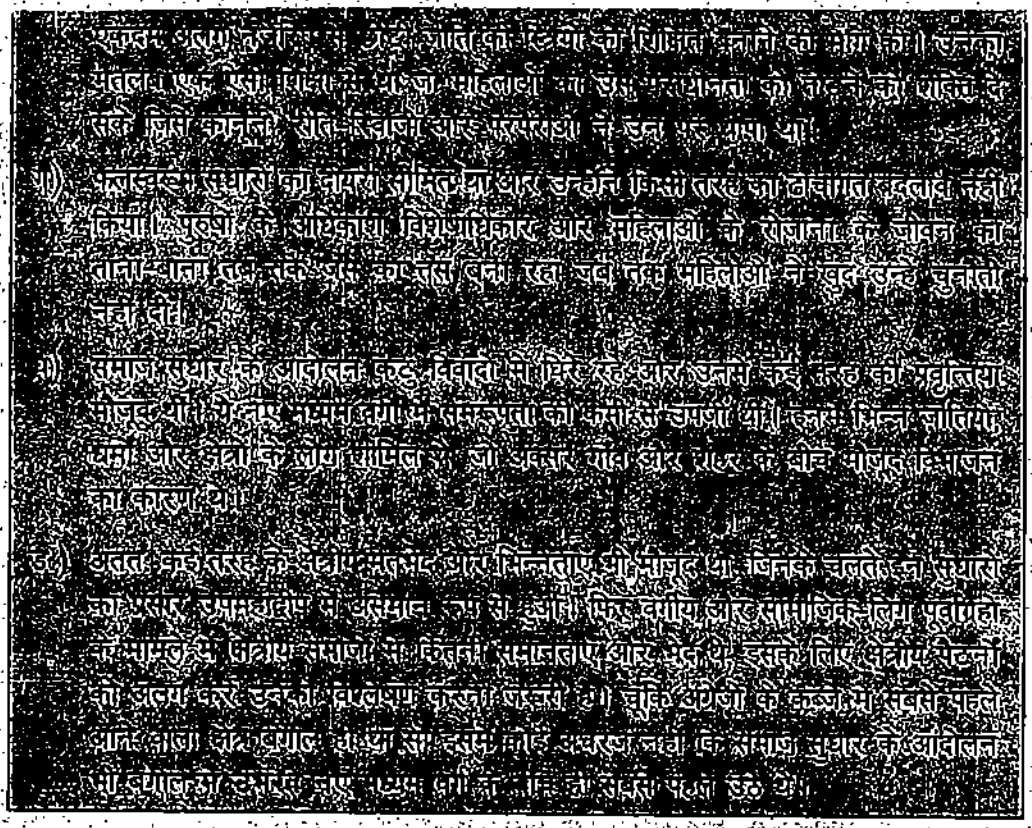

6.4.1 विधवा दाह या सती प्रथा का उन्मूलन

उन्नीसवीं सदी के बंगाल में विधवा दाह की हजारों घटनाएँ घटीं, जिन्हें लोग सती का नाम देते थे। ब्रितानी प्रशासन ने इस कुरीति पर बहस छेड़ी। हालांकि शुरू में ब्रिटिश इन मामलों में हस्तक्षेप करना नहीं चाहते थे। उनका मानना था कि यह हिंदुओं के धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप करना होगा। फिर 1812 में बंगाल विधवा दाह पर अंकुश लगाने के लिए एक अधिनियम बनाया गया। शास्त्रीय व्याख्याओं के चुनिंदा प्रयोग पर आधारित इस अधिनियम ने 'कानूनी' और 'गैर कानूनी सती' की दो अलग श्रेणियां बनाईं। इस कानून का लक्ष्य यह सुनिश्चित करना था कि सिर्फ उसी दाह की इजाजत दी जाए जो स्वैच्छिक और शास्त्र सम्मत हो (मणि, 1989) मगर ये कानून 'गैरकानूनी सती' की घटनाओं का पता लगाने के घोषित लक्ष्य को पूरा नहीं कर पाया। बल्कि इनके चलते सती की घटनाओं में वृद्धि देखने में आई, क्योंकि लोगों ने अमूमन इन कानूनों को विधवादाह पर सरकारी स्वीकृति की मुहर माना (दत्ता, 1988:19-70)।

राममोहन राय ने विधवा दाह के खिलाफ मुहीम छेड़ी। इसके लिए उन्होंने 1815 में आत्मीय सभा की स्थापना की, उनका पहला पर्चा 1818 में प्रकाशित हुआ। अंग्रेजों ने भी इस मुहीम को समर्थन दिया। बंगाल के प्रांतीय गवर्नर विलियम बेंटिंक ने 1818 में अपने प्रांत में इस प्रथा पर रोक लगा दी। कोई ग्यारह वर्ष बाद बेंटिंक ने इस रोक को समूचे देश में लागू कर दिया और बेंटिंक जब भारत को गवर्नर जनरल बना तो उसने 1829 में सती उन्मूलन अधिनियम पारित किया। उसके बाद के दशकों में इस प्रथा पर रियासतों में भी रोक लगा दी गई। वर्ष 1930 में राममोहन राय ने अन्य लोगों के साथ मिलकर एक याचिका पर हस्ताक्षर किए जिसमें सती उन्मूलन का समर्थन किया गया था। इस याचिका ने यह प्रमाण दिया कि विधवा दाह का कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। उधर 'कठमुल्ला' लोगों ने कुछ विरोध किया, जिन्होंने सती उन्मूलन के विरोध में गवर्नर जनरल को याचिका दी। इसी वर्ष सती प्रथा पर लगाई गई रोक के विरोध के लिए कलकत्ता में धर्म सभा बनाई गई। मगर वहीं राजस्थान से जहाँ के क्षत्रीय शाही परिवारों में विधवादाह का प्रचलन खूब था, सती उन्मूलन को महिलाओं से समर्थन मिलने के प्रमाण मिलते हैं।

विधवा दाह की निंदा करने के लिए राममोहन राय ने शास्त्रों के उदाहरण दिए। उनका कहना था

कि शास्त्रों में ऐसा कहीं नहीं लिखा है कि विधवा को जला दिया जाए। उनका विचार था कि यह कुप्रथा हिंदू धर्म का पतन कर रही थी और यह प्राचीन युग की तुलना में हिंदुओं के पतन का संकेत थी। मगर उन्होंने इसे धार्मिक के बजाए सामाजिक प्रथा के रूप में देखा और इसे महिलाओं के संपत्ति अधिकार से जोड़ा। बंगाल में उत्तराधिकार की दयाभाग प्रणाली प्रचलन में थी। इस प्रणाली के अनुसार पति की मृत्यु के पश्चात विधवा को अपने पति की संपत्ति पर अधिकार था बशर्ते वह बच्चे की माँ हो, भले ही परिवार संयुक्त हो। संभवत: यही कारण था कि अधिकार का परंपरागत ढाँचा हाथ से निकल जाने की आशंका और विधवा की संपत्ति को हड़पने के लालच से स्वर्ण जातियाँ इस प्रथा को बढ़ावा दे रही थीं।

बोरोडिया गांव, मध्य प्रदेश का किसी समय का सतीस्थल

सौजन्य : देबल के. सिंहराय, इग्नू, नई दिल्ली

राममोहन राय के इस तर्क के प्रत्युत्तर में 180 पंडितों ने एक घोषणा-पत्र छापा जिसमें कहा गया था कि राममोहन राय गलत हैं। इन हिंदू पुरातनपंथियों का तर्क था कि सती बनने से महिलाओं को एक तरह का दिव्य ज्ञान मिलता है अन्यथा जिससे उन्हें वंचित रखा जाता है। इस तर्क के जवाब में राममोहन राय ने कहा कि महिलाओं का जीवन हमें यह बता देता है कि दिव्य ज्ञान उन्हें अधिक रहता है क्योंकि वे पुरुषों से ज्यादा त्यागी होती हैं। उन्होंने यह भी तर्क दिया कि शास्त्र दाह की अनुमति नहीं देते। बल्कि वे कहते हैं कि विधवा को एक तपस्विनी का जीवन जीना चाहिए।

दुर्भाग्यवश विधवा स्त्री के कर्तव्य और हिंदू नारी की सर्वस्व त्यागने वाली आदर्श छवि की ये धारणा ही उन्हें पाश्चात्य नारी से अलग करने की कसौटी बन गई। सो सुधार आंदोलनों ने अगर समाज की क्रूर प्रथाओं को समाप्त करने का काम किया तो वहीं उन्होंने नारी को धार्मिक पहचान का प्रतीक बना दिया।

एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि स्वयं बेंटिंक ने शास्त्रों का हवाला देते हुए कहा कि विधवा दाह की प्रथा का कोई धार्मिक औचित्य या आधार नहीं है। हालांकि हिंदू किसी एक शास्त्र या ग्रंथ को ही नहीं मानते थे, फिर कई क्षेत्रीय विविधताएं भी थीं। मगर इसके बावजूद भी अंग्रेज शासकों ने वैयक्तिक कानूनों समेत महिलाओं से जुड़े मुद्दों पर शास्त्रों का हवाला देना जारी रखा। रोचक बात तो यह है कि 19वीं सदी के कई ब्रितानी प्रशासकों और प्राच्यविदों की भूमिका का लक्ष्य शास्त्रों के आदर्शों के अनुरूप प्राचीन प्रथाओं को बहाल करना या उन प्रथाओं का शुद्धीकरण करना था मुस्लिम शासन के चलते जिनका पतन हो गया था।

सो पंथनिरपेक्ष समतावादी आदर्शों और एक गौरवमयी विरासत के सृजन का यह दोमुहांपन भारतीय और ब्रिटिश सुधारकों की बहस में मौजूद था। ऐसा ही दोमुंहापन विधवा-विवाह के मुद्दे में भी मौजूद था।

6.4.2 विधवा विवाह

उन्नीसवीं सदी के दौरान समाज सुधार आंदोलनों का ब्रितानी प्राच्यवाद और कालांतर में जर्मन इंडोलॉजी के बीच संपर्क बढ़ता गया। हिंदू-आर्य स्वर्णिम युग के बारे में इन दोनों ने भी अपने-अपने मत स्थापित किए (चक्रवर्ती, 1989)।

दूसरे आंदोलनों की तरह विधवा विवाह का आंदोलन भी विभिन्न विचारधाराओं के प्रभाव से गुजरा। इनमें से एक विचारधारा थी हिंदूत्व का सुधार। फिर यह ऊँची जाति का ही मुद्दा था क्योंकि कई छोटी जातियों में विधवा विवाह प्रचलित था। मगर इस मामले में तो छोटी जाति को तो आदर्श माना ही नहीं जा सकता था। इसे हम आगे समझाएँगे।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवा विवाह के लिए आंदोलन छेड़ा और पूर्ववर्ती सुधारकों की तरह उन्होंने भी अपने तर्क के बचाव में शास्त्रों का ही सहारा लिया। मगर वे जाति और सामाजिक लिंग दोनों को क्रमपरंपरा के नज़रिए से देखते थे। सो कई समाज सुधारकों की तरह पुनर्विवाह उनके लिए भी विधवा की लैंगिकता को नियमित करने का बहाना था (बंधोपाध्याय, 1995:28-29)। देशी भाषी अखबारों ने इस विवाद को उठाया। सो इसके पक्ष और विपक्ष में तर्क-वितर्क आए। विद्यासागर ने विधवा विवाह पर अपनी पुस्तिका का अनुवाद कर उसे ब्रिटिश अधिकारियों को सौंप दिया। फिर 1855 में उन्होंने गवर्नर जनरल को एक याचिका भेजी, जिसमें उन्होंने विधवा विवाह को मान्यता देने के लिए कानून बनाने की सिफारिश की। इस प्रस्तावित कानून के विरोध में बड़ी संख्या में याचिकाएँ भेजी गईं।

चूंकि अंग्रेज हिंदू विवाह कानून की अपनी संहिता पर चल रहे थे सो ज़रूरत इस बात की थी कि विधवा विवाह विरोधी ब्रिटिश कानून को खत्म किया जाता। भारत में कई छोटी जातियों में विधवा विवाह खूब प्रचलित था, मगर इस आंदोलन से ऐसा लगता है मानो हिंदुत्व ही एकल समांगी धर्म हो और सभी भारतवासी एक ही रीति-रिवाजों को मानते हों। इस तरह का मिथ्या हिंदू एकाश्म विधवा विवाह के पक्ष और विपक्ष में चले दोनों आंदोलनों में नज़र आता है।

ब्रितानी सरकार भी सभी जातियों और वर्गों में प्रचलित पितृसत्तात्मक प्रथाओं और किसी खास समूह तक सीमित प्रथाओं में भेद नहीं कर सकी। सो जब इसने 1856 में हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम बनाया तो इसने उसमें एक उपबंध जोड़ दिया जो : "उस संपत्ति का वर्गीकरण करता है पुनर्विवाह करने के बाद विधवा का जिस पर हक होगा। अगर यह संपत्ति उसे पति से मिली हो, या गुजारे का अधिकार या उत्तराधिकार या उसके नाम वसीयत की गई संपत्ति का अधिकार इसे वह पुनर्विवाह करने की स्थिति में खो देगी, बशर्ते उसके मृत पति के समुदाय के लोग यह कह दें कि वह संपत्ति रख सकती है, जोकि बहुत कम देखने में आता है।"

इस तरह पुनर्विवाह करने पर विधवा को अपने पति की संपत्ति से गुजारे या उत्तराधिकार का कोई अधिकार नहीं रहा, वहीं बच्चों के संरक्षण का दायित्व उसके मृत पति के संबंधियों को सौंप दिया गया।

सो विधवाओं को सचमुच बड़ा ही कष्टदायक विकल्प चुनना होता था, या तो वह पुनर्विवाह करें या अपने बच्चों को रखें।

इस नए अधिनियम ने छोटी जातियों और जनजातियों की विधवाओं के लिए भी पुनर्विवाह करना और संपत्ति रखे रखना मुश्किल बना दिया जिनमें विधवा विवाह पर कोई रोक नहीं थी या जिनमें देवर का विवाह विधवा भाभी से करने का प्रचलन था। कुमार (1993) बताते हैं कि जिन समुदायों में विधवा विवाह का प्रचलन था, वे भी किसी तरह नए कानून की आड़ में विधवाओं को संपत्ति से वंचित रखने लगे थे और ऊँची जातियों के रीति-रिवाज अपनाने लगे थे :

"लूसी कैरॉल ऐसे कई उदाहरण देती हैं जो बताते हैं कि विधवाओं के लिए संपत्ति अधिकार के वर्गीकरण में मौजूद भेदों की आड़ लेकर उन समुदायों में भी विधवाओं के रिश्तेदारों ने उन्हें संपत्ति से वंचित रखा, जिनका परंपरागत कानून विधवाओं को पुनर्विवाह करने और संपत्ति रखने का अधिकार देता था। एक रोचक उदाहरण में वह एक मुकद्मे का जिक्र करती हैं जिसमें जनजातीय परिवार के सदस्यों का दावा था कि पुनर्विवाह कर लेने पर उनके परिवार की अमुक विधवा ने संपत्ति पर अपना हक खो दिया था। उन्होंने यह मुकदमा एक छोटे से सबूत के आधार पर जीत लिया कि उनकी (राजवंशी) जनजाति ने हिंदुओं की कुछ खास प्रथाओं को अपना लिया है। अदालत ने इस प्रमाण को समूची जनजाति को अधिनियम के तहत लाने के लिए पर्याप्त समझा। इस तरह अधिनियम ने गैर-हिंदुओं को अपने रीति-रिवाजों के हिंदूकरण के लिए आर्थिक कारण प्रदान किए।"

कुल मिलाकर इस अधिनियम ने संपत्ति पर पुरुषों के नियंत्रण को और मजबूत बनाया, पितृवंश को सुदृढ़ किया और उन जन समुदायों की महिलाओं के लिए पुनर्विवाह कठिन कर दिया जिनमें विधवा पुनर्विवाह का प्रचलन था।

इसमें आश्चर्य नहीं कि विधवा पुनर्विवाह को वैधता देने वाले इस अधिनियम से ऊँची जातियों की विधवाओं को भी कोई लाभ नहीं मिला। सिद्धांततः इसने बाल विधवाओं और ऊंची जाति की विधवाओं के बारे में सामाजिक चेतना बढ़ाई और पुनर्विवाह को सामाजिक वैधता प्रदान तो की मगर व्यवहार में पुनर्विवाह करने वाली विधवाओं की संख्या में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। अधिनियम पारित होने के कई दशक बाद जाकर यह पता चला कि कुछ गिने-चुने पुनर्विवाह ही हुए और जो हुए, वे भी 'कुंआरी' विधवाओं के थे। 'ऊँची जाति की जो विधवाएँ कुंआरी नहीं थी वे न तो पुनर्विवाह कर सकती थीं और न उन्होंने किया।' (कुमार, 1993 : 19)।

क्या आप जानते हैं? 2

1905 में हिंदू (अखबार) ने के. सुब्रमणिया अय्यर नामक ब्राह्मण युवक का पत्र प्रकाशित किया कि वह किसी विधवा से ब्याह रचाना चाहता है, तो एक महिला पाठक ने उत्तर में पूछा कि क्या आप मि के एसे एक युवा विधवा से विवाह करेंगे। इस महिला ने पत्र में अपने को 'कुंआरी' विधवा लिखा था। अपने उत्तर में सुब्रमणिया ने कहा कि वह अवश्य ही विवाह करेंगे क्योंकि शास्त्रों ने ब्राह्मण को अपने से छोटी तीन जातियों में से किसी एक जाति की स्त्री से विवाह करने का अधिकार दिया है। इसका अभिप्राय स्पष्टतया यही है कि एक ब्राह्मण पुरुष का किसी भी दर्जे की महिला से विवाह करना शास्त्र सम्मत है, क्योंकि वही उसकी स्थिति को ऊंचा उठा सकता था। लेकिन वही महिला उसकी स्थिति में कोई इजाफा नहीं ला सकती थी। सचमुच इस पर मुश्किल से विश्वास होता है कि ऐसे प्रचलन व्यवहार में थे। अन्य रिपोर्टों से पता चलता है कि दक्षिण भारत के तीन सात समाज सुधारकों ने विधवाओं से विवाह किया था, उन्हें अलग-अलग तरीकों से बहिष्कृत किया गया। इन लोगों को अंतिम संस्कारों में भाग नहीं लेने दिया गया। तो फिर छोटी जाति की विधवा से विवाह करने का मतलब इससे कड़ी सजा को न्योता देना था।" (कुमार, 1993)।

जैसा कि पीछे कहा गया है, छोटी जाति की महिलाओं की दशा को भी आदर्श के रूप में पेश नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, नियोग के रूप में विधवा पुनर्विवाह को हरियाणा के जाट किसानों में सामान्यतः स्वीकार किया जाता था, जिसमें विधवा भाभी का विवाह उसके देवर से करा दिया जाता था। औपनिवेशिक राज्य ने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारणों से पुनर्विवाह के इस रूप को स्वीकारा और इसे अपने प्रशासनिक और न्यायिक प्रणालियों के जरिए शक्तिशाली बनाया। मगर विधवाओं के लिए इस व्यवस्था का अनुभव बड़ा दमनकारी साबित हुआ, जिससे बच निकलने का उन्होंने प्रयास किया। फिर महिलाओं को खुद अपने पुनर्विवाह पर कोई अधिकार नहीं था, भले ही वह नियोग (देवर भाभी के बीच) विवाह हो या दूसरा। क्योंकि उनके विवाह के सारे निर्णय उनके परिवार ही करते थे (चौधरी, 1989 और 1995 : 51)।

कम से कम उत्तरी भारत और बंगाल की जिन छोटी जातियों में विधवा विवाह का प्रचलन था उसके पीछे सिर्फ कानूनी दबाव ही नहीं बल्कि अन्य कारक भी थे। यह काफी जटिल विषय है। ऊँची जातियों ने वैधव्य ब्रह्मचर्य को सम्मानित वर्गों की संस्कृति के सबसे विश्वसनीय प्रतीक के रूप में चित्रित किया, जिसका मतलब था विधवा विवाह पर प्रतिबंध। इसका परिणाम यह रहा कि छोटी जातियों और वर्गों में सामाजिक रूप से गतिशील तबकों ने भी इस प्रतिबंध को अपनाना शुरू कर दिया और इस तरह ऊँची जातियों के वर्चस्व को और मजबूत बनाया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से बंगाल में विधवा विवाह का सिलसिला टूटने के ज्यादा से ज्यादा प्रमाण मिलते हैं। ब्रिटिश प्राच्यविदों के विचारों के प्रति मोह, रीति-रिवाजों के बजाए शास्त्रों पर अधिक जोर और प्रकाशन के जरिए शास्त्रों का प्रचार, इन सबने मिलकर इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया (बंधोपाध्याय, 1995)।

6.4.3 दूसरे किस्म के सुधार

समाज सुधार के इतने ही जटिल मुद्दे कई और थे, जिन्हें 19वीं सदी के उत्तरार्ध में उठाया जाने लगा था। जैसे बाल विवाह, सहमति की आयु इत्यादि, मगर यहाँ हम इन मुद्दों पर चर्चा नहीं करेंगे। प्रत्येक मुद्दे का अपना एक परिप्रेक्ष्य था और इन सभी परिप्रेक्ष्यों में भी क्षेत्र, वर्ग और जाति के हिसाब से काफी भिन्नताएँ थीं। इन मुद्दों पर भी शास्त्र-सम्मत व्याख्याएँ ढूँढी गईं और पाश्चात्य-चिंतन के विरोध में जैविक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक कई तरह के तर्क रखे गए। प्रत्येक मुद्दा विवादों से घिरा था और प्रत्येक की अपनी सीमाएँ थीं। इधर महिलाएँ भी खुलकर विरोध करने लगी थीं और याचिकाएँ लिखने में बढ़-चढ़कर आगे आ रही थीं। सो 1880 के दशक तक कई संगठन उभर चुके थे जिन्हें महिलाओं ने बनाया था या जिन्हें वे चला रही थीं।

पूरी सदी में जो सबसे बड़ा मुद्दा छाया रहा वह था महिलाओं की शिक्षा का। आइए अब इस मुद्दे पर आते हैं।

जरा सोचिए 2

भारत में हुए किसी भी सामाजिक सुधार आंदोलन में उठाए गए मुद्दों पर क्या आप निबंध लिख सकते हैं?

6.5 महिलाओं की शिक्षा

अन्य मुद्दों की तरह इसमें भी कई क्षेत्रीय भिन्नताएँ मौजूद थीं। मगर लड़कियों को शिक्षा दिए जाने का दबाव समूची 19वीं सदी में छाया रहा। इस बीच कई तरह के शिक्षण संस्थान अस्तित्व में आ चुके थे जैसे मिशनरी, सरकारी या सहायता प्राप्त विद्यालय, स्थानीय और पड़ोस की पाठशालाएँ, जनाना शिक्षा (महिला शिक्षकों द्वारा लड़कियों को घर पर ही पढ़ाया जाना) इत्यादि।

मिशनरी स्कूलों ने निचले तबकों और जातियों के लोगों को विशेष रूप से आकर्षित किया। सो जो मुद्दा बार-बार उठा वह था ऊँची जातियों का अपने बच्चों को ऐसे स्कूलों में भेजने से इनकार करना जिनमें छोटी जातियों के बच्चे पढ़ने जाते थे।

एक अखिल भारतीय तस्वीर प्राप्त करने के लिए हमें हालांकि शिक्षा के जातिगत और वर्गीय आंकड़ों की अभी और अधिक जरूरत है। मगर कुल मिलाकर हमें इसमें दो प्रवृत्तियाँ नज़र आती हैं। पहली प्रवृत्ति थी मध्यम वर्ग द्वारा आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा की मांग करना और कुछ लोग चाहते थे कि यह शिक्षा महिलाओं को भी मिले। दूसरी स्त्रियों के जरिए एक गैर-पाश्चात्य पहचान को स्थापित करना था। इसे यह सुनिश्चित करके हासिल करने का प्रयास किया गया कि महिलाएँ सिर्फ देशीभाषी या शास्त्रीय भाषाओं (संस्कृत, अरबी) में ही शिक्षित हों, अंग्रेजी में नहीं। आंग्लीयकरण, वो भी महिलाओं का। के.सी. सेन और सैयद अहमद खान जैसे कई समाज सुधारकों को यह एक चुनौती, एक खतरा नजर आया।

6.5.1 शिक्षा की जरूरत

समाज सुधारकों में लड़कियों की शिक्षा की विधि और स्थान को लेकर जो भी मतभेद रहे हों, या धर्म और पेशे को लेकर इस मामले में उनमें जो भी मतभेद रहे हों, उनमें से ज्यादातर सुधारकों का यही मत था कि नारी शिक्षा का उद्देश्य नौकरी या धन अर्जन नहीं हो। उनकी शिक्षा के आर्थिक तर्काधार को यहीं तक स्वीकार किया गया कि महिलाएँ बस इतनी प्रवीणता हासिल कर लें कि जो आड़े वक्त या उनके विधवा बन जाने पर उनके काम आए (संगारी, 1993)। हालांकि कुछ सुधारकों ने समता के वास्ते महिलाओं को शिक्षित बनाने की पैरवी तो जरूर की मगर साथ में वे इस बात पर एकमत थे कि नारी शिक्षा का प्रयोजन वही नहीं हो सकता जो पुरुषों की शिक्षा का है। बल्कि उनकी शिक्षा का प्रयोजन उनका नैतिक उत्थान करना, उन्हें धार्मिक ज्ञान देना और उन्हें आदर्श पत्नी और माँ बनाना था।

पुरातनपंथियों को यह आपत्ति थी कि शिक्षा महिलाओं पथभ्रष्ट कर देगी, वे घर के कामकाज करना छोड़ देंगी, पति, माँ-बाप और सास-ससुर की आज्ञा नहीं मानेंगी और फिर पाश्चात्य महिलाओं के नक्शे कदम पर चलने लगेंगी। इसके उत्तर में सुधारकों ने दावा किया कि शिक्षित महिलाएँ स्वयं शास्त्र आदि पढ़ेंगी, जिससे वे और अधिक पवित्र बनेंगी और अच्छाई और बुराई में अच्छी तरह से भेद कर सकेंगी। शिक्षा से महिलाओं का नैतिक उत्थान होगा, तो वे और आज्ञाकारी बनेंगी और अपने पति व सास-ससुर की अच्छी सेवा करेंगी। वे अंधविश्वासों से दूर रहेंगी, स्वास्थ्य, स्वच्छता और नैतिकता की बुनियादी बातें जानेंगी और इस तरह अच्छी माता बनेंगी। अच्छी माँ अच्छे बेटों को जन्म देगी जो भारतीय पुरुषों की भावी पीढ़ियों को उन्नत बनाएगी और इस तरह राष्ट्र का गर्व बढ़ेगा (संगारी, 1993)।

शिक्षा का लक्ष्य रूढ़िवादी था। जो कई महिलाएँ नारी शिक्षा की पक्षधर थीं उनके भी यही तर्क थे। सो कुंदमाला देवी आह्वान करती हैं: 'अगर आपने सही ज्ञान अर्जित किया है तो मेमसाहिब के आचरण को अपने दिल में कोई जगह मत दीजिए। यह एक बंगाली गृहणी के लिए आदर्श नहीं है। यह दिखाइए कि एक शिक्षित नारी सोच समझकर और व्यवस्थित तरीके से घर के कामकाज कर सकती है जो अज्ञानी अशिक्षित महिलाएँ करना नहीं जानती।' (बनर्जी में उद्धृत, 1989 : 247)।

6.5.2 पाठ्यक्रम

यह रूढ़िवादिता अगर अनिच्छुक जनता को शिक्षा की आवश्यकता के प्रति जागरूक बनाने के लिए व्यावहारिक तर्क देने तक सीमित रहती तो शायद इसका इतना महत्व नहीं रहा होता। मगर दुर्भाग्यवश इसने सार्वजनिक और निजी कार्य क्षेत्रों के बीच की विभाजन रेखा को और मजबूत बनाया और आने वाले कई दशक तक शिक्षा की सामग्री और पाठ्यक्रम इसी ने तय किया।

इधर स्वयं राज्य ने पाठ्यक्रम में सामाजिक-लिंग भेदभाव को बढ़ावा दिया। लड़कियों के लिए धार्मिक शिक्षा अक्सर अनिवार्य थी। उनका पाठ्यक्रम अक्सर उन विषयों तक सीमित रखा जाता था जो घर के काम काज को बेहतर ढंग से करने में सहायक हों जैसे रोजाना के हिसाब-किताब के लिए अंकगणित और घरेलू कार्य में प्रवीणता मसलन घरेलू साज-सामान और फर्नीचर की देखभाल आदि।

लड़कियों के लिए जो पाठ्य पुस्तकें लिखी गईं थीं उनमें घरेलू काम-काज पर विशेष जोर दिया गया था और यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया था कि महिलाएँ शिक्षा के साथ-साथ अपनी सभी घरेलू जिम्मेदारियों का निर्वाह करें। पाठ्य पुस्तकों ने महिलाओं को सिखाया कि बेटी, बहू, माँ और नौकरानियों की मालिकन के रूप में उनकी आदर्श भूमिकाएँ क्या हैं। इन्हीं पुस्तकों में महिलाओं को नियमित श्रम, किफायत और अल्पाहार की सीख दी जाती थी (संगारी, 1993)। ब्रह्मो समाज द्वारा संचालित स्कूलों समेत कई स्कूलों में खाना पकाने और सिलाई कढ़ाई जैसे काम सिखाए जाते थे। यूँ अंततः उच्च और व्यावसायिक शिक्षा के द्वार महिलाओं के लिए भी खुले मगर यह सीमित थी और गिनीचुनी महिलाओं को ही सुलभ थी।

इस तरह महिला साक्षरता, शिक्षा की कई सीमाएँ थीं। एक उदार, आधुनिकीकरण कारक की भूमिका निभाने के बजाए औपनिवेशिक राज्य इन मामलों में खुद बड़ा पुरातनपंथी रहा। कालांतर में अगर महिलाओं को शिक्षा का लाभ मिला तो इन सीमाओं के रहते हुए ही मिला।

ज़रा सोचिए 3

भारत में सामाजिक सुधार के पूर्ववर्ती चरण के दौरान महिलाओं की शिक्षा के संबंध में क्या विचारधारा थी?

6.6 महिलाएँ और राष्ट्रवादी आंदोलन

इस इकाई में अब तक हमने अपनी चर्चा को 19वीं सदी के कुछ मुख्य आंदोलनों तक सीमित रखा। हमने समाज सुधार के आंदोलन में मौजूद खामियों और पूर्वाग्रहों को समझाने का प्रयास किया है, जिन्होंने कालांतर में उठने वाले महिला आंदोलनों को प्रभावित किया और जिनके खिलाफ महिलाओं को अपना संघर्ष जारी रखना पड़ा था।

राष्ट्रीय आंदोलन में इनमें से कुछ पूर्वाग्रह पारिवारिकता और आत्म बलिदान की विचारधाराओं के रूप में फिर से उभरीं। मगर महिलाओं के राजनीतिक अखाड़े में और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संगठित संघर्षों में उतर पड़ने से तस्वीर कुछ और रंग बिरंगी हो गई। राष्ट्रवाद के व्यापक तंत्रावधान में कई तरह के आंदोलन चल रहे थे। सो उनके राजनीतिक एजेंडे और सामाजिक लिंग सोच के मंच भी एक दूसरे से भिन्न थे। महिलाएँ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की समितियों में शामिल हुई, नागरिक अवज्ञा आंदोलन के सभी रूपों में हिस्सा लिया और कम्युनिस्ट पार्टी और क्रांतिकारी संगठनों में भी आगे थीं। यहाँ तमाम तरह के आंदोलनों या समाज सुधार के सरोकार से प्रत्येक आंदोलन के संबंध के बारे में बताना संभव न होगा। मगर कुछ मामलों में महिलाओं ने 19वीं सदी के समाज सुधार आंदोलनों की पुरातनपंथी विरासत से बाहर निकलना शुरू कर दिया था।

फिर महिला आंदोलनों और राष्ट्रवाद के बीच एक गहरा नाता भी था। महात्मा गांधी जैसे पुरुष नेताओं ने राष्ट्रवादी आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी पर गहरा प्रभाव अवश्य डाला, मगर वहीं महिलाओं के सारे राजनीतिक क्रिया-कलाप पुरुष नेतृत्व की छाया में नहीं चल रहे थे। अपने प्रारंभिक चरण में महिला आंदोलन ने पितृसत्तात्मक प्रथाओं को उपनिवेशवाद के साथ जोड़कर देखा। अखिल भारतीय महिला कांफ्रेंस की स्थापना 1927 में महिलाओं की शिक्षा के मुद्दे को उठाने के लिए हुई थी। मगर शीघ्र ही इसने बाल विवाह, परदा प्रथा जैसे मुद्दे भी उठाए और फिर राजनीतिक पराधीनता के प्रश्न का सामना किया। आंदोलन ने जोर देकर कहा कि महिलाओं की

हम सदैव राष्ट्र के साथ रहे हैं – राष्ट्रवाद और समकालीन भारत में महिलाएं

सौजन्य : सी.एस.आर., नई दिल्ली

आकांक्षाएँ तभी पूरी हो सकती हैं जब भारत स्वशासी देश बन जाए। महिलाओं के मताधिकार का मुद्दा 1917 में उठाया गया। हालांकि ब्रितानी सरकार ने इसे कोई महत्व नहीं दिया, मगर कांग्रेस ने इसें हाथों हाथ लिया। महिला संगठनों ने इसके लिए आंदोलन छेड़ दिया और उनके तर्कों ने पुरुष राष्ट्रवादी नेताओं को भी पीछे छोड़ दिया। कमलादेवी चटोपाध्याय ने लिखा कि नागरिक के रूप में महिला के अधिकार उसकी वैवाहिक स्थिति पर निर्भर नहीं होने चाहिए।

अंत में, राष्ट्रवादी आंदोलन के दौर में एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। वह यह कि महिला आंदोलन का आधार और व्यापक बना। महिलाओं की भूमिकाओं को परिभाषित करने वाली पारिवारिक विचारधाराओं में हालांकि ज्यादा बदलाव नहीं आया था, मगर संगठन और संघर्ष के क्षेत्र में श्रमिक वर्ग की महिलाएँ (जैसे कि बंबई में) और किसान वर्ग की महिलाएँ (जैसें कि तिभागा और तेलंगाना आंदोलन में) भी शामिल हुईं। इन आंदोलनों के दौरान घर-परिवार और कार्यस्थल में महिलाओं के उत्पीड़न पर नए प्रश्न उठाए गए और इन्हें उठाने वाला कोई और नहीं बल्कि स्वयं महिलाएं थीं।

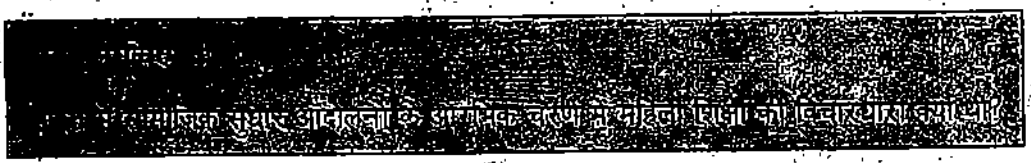

सामाजिक सुधार आंदोलनों के आरंभिक दौर में महिला दासता को दिखाया गया था।

6.7 सारांश : एक नया इतिहास?

इस इकाई का दूसरा लक्ष्य आपको महिला के इतिहास लेखन में उभरे नए रुझानों से परिचित कराना था।

ऊपर जिन मुद्दों पर चर्चा हमने की है उन्हें नवीन इतिहास लेखन के जरिए खोजा जा रहा है जो औपनिवेशिक और राष्ट्रवादी दौर का फिर से विश्लेषण, मूल्यांकन कर रहा है। इन नए रुझानों की एक छोटी सी बानगी से इस चर्चा को समाप्त करना उचित होगा; जिन्हें हो सकता है आप स्वयं खोजना चाहें।

टकराव, क्रमपरंपरा और निर्भरता के पारिवारिक संदर्भों में महिलाओं के वैतनिक श्रम और अवैतनिक कार्य को अब काफी ज्यादा महत्व दिया जा रहा है (संगारी 1993, एन्जेल्स 1996, चक्रवर्ती 1998, मुखर्जी 1995)। इतिहासकार अब यह खोज रहे हैं कि महिलाओं ने सुधारों का किस तरह से आंतरिकीकरण किया और साथ में अपना एजेंडा बनाना शुरू किया। वे अब नारी लैंगिकता के नियमन और समाज सुधार के मुद्दों जैसे विधवा विवाह के बीच संबंध को जानने का प्रयास कर रहे हैं, ऊँची जाति की महिलाओं के घरेलू श्रम और राष्ट्रवादी विचारधाराओं के संबंध में उनकी स्थिति का अध्ययन कर रहे हैं (एंजेल्स 1996, संगारी 1993, चक्रवर्ती 1998)। सामाजिक-लिंग संबंधों के इतिहास के लिए कई गैर परंपरागत स्रोत जुटाए जा रहे हैं जैसे मौखिक वृतांत, लोक कथाएँ, लोकोक्तियाँ, महिला नायिकाओं की जीवनियाँ और महिलाओं के अन्य निजी संस्मरण (कार्लेकर 1991, चक्रवर्ती 1998, चौधरी 1995)। समय आने पर ये प्रयास अतीत के बारे में हमारी परंपरागत धारणाओं को पूरी तरह से बदल डालेंगे।

6.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चक्रवर्ती, उमा 1998 *रिराइटिंग हिस्ट्री : द लाइफ एंड टाइम्स ऑव पंडिता रमाबाई*. दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

संगारी, कुमकुम और सुदेश वैद, 1989 *रिकास्टिंग वीमेन : एसेज इन कोलोनियल हिस्ट्री* के आमुख में (संपा. कुमकुम संगारी और सुदेश वैद) दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

इकाई 7 स्वतंत्र भारत में महिला आंदोलन

रूपरेखा

7.0 लक्ष्य और उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 महिला आंदोलन : कुछ मुद्दे

7.2.1 अनवरत विरासत

7.2.2 स्वतंत्रता के बाद बदलता परिवेश

7.3 ग्रामीण भारत में महिला आंदोलन

7.3.1 श्रीकाकुलम आंदोलन

7.3.2 बोधगया का भू-आंदोलन

7.3.3 चिपको आंदोलन

7.4 शहरी भारत में महिला आंदोलन

7.4.1 महिलाओं के प्रति हिंसा : एक राजनीतिक मुद्दा

7.4.2 दहेज और दहेज से जुड़ी मौतें

7.4.3 मीडिया में महिलाओं का गलत-चित्रण

7.4.4 स्वस्थ जीवन का अधिकार

7.5 सारांश

7.6 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

7.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.0 लक्ष्य और उद्देश्य

इस खंड की पिछली इकाइयों को पढ़कर आपके मस्तिष्क में ये प्रश्न अवश्य उठे होंगे कि स्वतंत्रता के पश्चात महिलाओं के सरोकार के मुद्दों का क्या हुआ? आंदोलनों ने क्या नए रूप लिए?

इस इकाई का उद्देश्य आपको स्वतंत्र भारत में हुए महिला आंदोलनों के विभिन्न पहलुओं से परिचित कराना है। भारत को आजादी मिलने के बाद हमारे समाज में नए मुद्दे उभरे तो साथ में नए किस्म का राजनीतिक ढांचा भी उदित हुआ। अब तक की इकाइयों को पढ़ने के बाद आप:

- भारत में महिला आंदोलनों के वर्णन में पेश होने वाली विभिन्न समस्याओं के बारे में बता सकेंगे,
- ग्रामीण भारत में महिला-आंदोलन के कुछ स्वरूपों का वर्णन कर सकेंगे, और
- शहरी भारत में महिला-आंदोलनों के विभिन्न स्वरूपों के बारे में चर्चा कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

जैसा कि इस खंड की पिछली इकाइयों में बताया गया है, सामाजिक आंदोलनों का करीबी संबंध

राजनीतिक प्रक्रियाओं से है क्योंकि सामाजिक आंदोलन का उद्देश्य सामूहिक लामबंदी के जरिए सामाजिक बंदोबस्तों को बदलना या उनमें किए जाने वाले परिवर्तनों का विरोध करना है। सभी सामाजिक बंदोबस्तों का समाज के सत्ता के ढांचे से छुपा या स्पष्ट संबंध है। सामाजिक आंदोलनों का लक्ष्य भी इस सत्ता के ढांचे को बदलना या उसकी रक्षा करना होता है। महिला आंदोलन समाज की राजनीतिक प्रक्रियाओं में महिलाओं की भागीदारी का एक महत्वपूर्ण माध्यम बनकर उभरे हैं। इन आंदोलनों ने महिलाओं को अपने मुद्दों को व्यक्त करने और सत्ताधिकार के ढांचे को प्रभावित करने के अवसर प्रदान किए हैं ताकि महिलाओं के विकास के लिए जरूरी समाज के कुछ संस्थागत बंदोबस्तों को बदला जा सके।

भारत में महिला आंदोलन ने एक लंबा सफर तय किया है। हाल के वर्षों में इसने इतने विविध आयाम अर्जित किए हैं कि इसे आंदोलन न कहकर आंदोलनों की संज्ञा देना ही सबसे उचित होगा जैसा कि हम कह चुके हैं, भारतीय महिलाएँ कोई सजातीय या समरूप समूह नहीं हैं, सो देश के अलग-अलग भागों में हो रहे महिला आंदोलनों के मुद्दे भी समान नहीं हैं। इसलिए भारत में महिला आंदोलनों को किस श्रेणी में रखा जाए यह बताना कठिन हो जाता है। इस इकाई के शुरू में हमने उन कठिनाइयों का जिक्र किया है, जिनका सामना हमें महिला आंदोलनों का ब्यौरा देने में करना पड़ा है। इसमें हमने महिला आंदोलन की अनवरत विरासत और आज़ादी के बाद भारत के बदलते सामाजिक-आर्थिक परिवेश के बारे में बताया है क्योंकि इन्होंने महिला आंदोलनों के स्वरूप को प्रभावित किया है। आगे दो अनुभागों में हमने ग्रामीण और शहरी भारत में महिला आंदोलनों के बारे में बताया है। ग्रामीण भारत में हुए आंदोलनों की चर्चा करते हुए हमने श्रीकाकुलम, बोधगया भूमि आंदोलन और चिपको आंदोलन के उदाहरण चुनकर रखे हैं। शहरी आंदोलनों में हमने कुछ चुने हुए मुद्दों पर आधारित आंदोलनों के बारे में बताया है जैसे महिलाओं के प्रति हिंसा, दहेज विरोधी आंदोलन, मीडिया में महिलाओं का गलत-चित्रण और स्वस्थ जीवन का अधिकार आदि मुद्दों पर किए जाने वाले आंदोलन।

हम यह अच्छी तरह से जानते हैं कि इनमें कई और आंदोलन जोड़े जा सकते थे। मगर यहाँ हम मानकर चले हैं कि आप अपनी जिज्ञासा और कल्पनाशीलता से दूसरे आंदोलनों का भी अध्ययन करेंगे।

7.2 महिला आंदोलन : कुछ मुद्दे

जीवन में घटने वाली सच्ची घटनाओं को बयान करना भी आसान नहीं होता। हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि एक सच्ची पारिवारिक घटना को बताने में आपको भी कठिनाई महसूस होती होगी। परिवार का प्रत्येक सदस्य उसे अलग तरीके से बयान करता है। स्वतंत्र भारत में महिलाओं के आंदोलनों का बयान करना भी कुछ-कुछ ऐसा ही है। उनके कई वृतांत हैं, जो कि भारतीय समाज की जटिलता और विविधता के मद्देनज़र लाज़मी भी है। उत्तर-पूर्व और मध्य प्रदेश में हमारे यहां जनजातियाँ हैं, शहरों में एक ओर झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वाली महिलाएँ हैं तो दूसरी ओर कोठियों, बंगलों में रहने वाली महिलाएँ हैं। उधर गॉवों में रहने वाली महिलाएं हैं और उनमें दलित, ब्राहमण, खेतिहर मजदूर और भूस्वामी जातियों की महिलाएं हैं, मध्यम और उच्च वर्गों, अघाड़ी और पिछड़ी जातियों की महिलाएं हैं। सो उत्पीड़न और भेदभाव के विरुद्ध उनका संघर्ष एक-सा कैसे हो सकता है? अतः भारत में महिला आंदोलनों को उनकी बहुविधता के संदर्भ में ही बताया जा सकेगा। ऐसा कहना आसान तो है, मगर करना कठिन। इसलिए हमने पूरी तस्वीर रखने की कोशिश की है, हालांकि यह किसी भी तरह संपूर्ण या सुविस्तृत नहीं है। यह तो बस उन तमाम मुद्दों की एक बानगी भर है जिन्हें स्वतंत्र भारत में महिला आंदोलनों ने अपने संघर्षों में उठाया है।

7.2.1 अनवरत विरासत

भारत को सन् 1947 में आजादी मिली। आइए हम वहीं से शुरू करते हैं। मगर यह भी आसान नहीं है क्योंकि महिला आंदोलन सिर्फ स्वतंत्रता से ही शुरू नहीं हुआ। आप में कुछ ने औपनिवेशिक भारत में महिला आंदोलनों के बारे में जरूर पढ़ा होगा। महिलाओं के मुद्दे उन्नीसवीं सदी में महत्वपूर्ण समाज सुधार आंदोलन का हिस्सा थे। हालांकि इस आंदोलन का सरोकार मुख्यत: मध्यम वर्ग, ऊंची जातियों की महिलाओं से था। इसका मुख्य उद्देश्य समाज से सती, बाल-विवाह, विधवा विवाह पर प्रतिबंध, परदा-प्रथा आदि बुराइयों को दूर करना था। इन कुरीतियों के लिए उधर ब्रिटिश शासक वर्ग भारतीयों का उपहास करता था तो मिशनरी उनकी निंदा करते थे। सो समाज सुधारकों ने इन कुरीतियों को जड़ से उखाड़ फेंकने और यह प्रमाणित करने का बीड़ा उठाया कि धार्मिक ग्रंथ इन कुप्रथाओं की अनुमति नहीं देते। इस प्रकार सुधार और भारतीय नारी की शिक्षा शीघ्र ही भारतीय समाज के पुनर्निर्माण का एजेंडा और राष्ट्रवाद की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का अनिवार्य अंग बन गए। यह पहलू इतना शक्तिशाली था कि आज भी जब कभी महिलाओं की बात की जाती है तो वह इसी वाक्य से शुरू होती है: 'वैदिक काल में महिलाओं की हैसियत बहुत ऊंची थी लेकिन उसके बाद उसमें कमी आती गई....'। या फिर यह कहा जाता है: 'भारत में मुस्लिम महिलाएं भेदभाव भरे रीति-रिवाजों का शिकार हैं, कुरान जिनकी इजाजत नहीं देता।' अब किस को पता कि वैदिक काल में महिलाओं की स्थिति सचमुच इतनी अच्छी थी। या हो सकता है वैदिक ग्रंथों में एक तरफा व्याख्या हो। हम जो भी जानते हैं उससे यही कह सकते हैं कि ऊंची जातियों की महिलाओं के किस्से तो इनमें खूब हैं मगर वहीं इस काल में दासियों की स्थिति क्या थी उसके बारे में हम कुछ नहीं जानते।

ऊंची जातियों और उच्च वर्गों की कथा को राष्ट्र का इतिहास बताने का प्रचलन पुराना है। इसी प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन भी हमारे लिए कांग्रेस के नेताओं का इतिहास बन जाता है जिसमें हमें कभी-कभार सरोजिनी नायडू जैसी महिलाओं का जिक्र भी मिल जाता है। मगर इन लोगों के साथ-साथ, जिनके बारे में हमें बताया और पढ़ाया जाता है, राष्ट्रीय आंदोलन में साधारण स्त्रियों, छात्रों, किसानों, औद्योगिक श्रमिकों और मध्यम वर्ग की गृहणियों ने भी बढ़-चढ़ कर भाग लिया था। उधर परदा-प्रथा को तोड़ना मुस्लिम महिलाओं और ऊंची जाति की हिंदू महिलाओं के लिए जरूर महत्वपूर्ण रहा होगा। लेकिन वहीं औद्योगिक श्रमिकों के लिए समान मजदूरी, मातृत्व अवकाश और व्यावसायिक जोखिम जैसे मुद्दे जरूरी रहे होंगे। दलित महिलाओं का जातिगत उत्पीड़न और जनजाति की महिलाओं के यौन शोषण जैसे मुद्दे 1947 से पहले भी उठाए गए थे। कभी ये मुद्दे व्यापक संगठित आंदोलनों का हिस्सा रहे तो कभी स्थानीय विरोधों का। मुद्दे कई थे, तो सरोकार भी कई। जब भी हम स्वतंत्र भारत में महिला आंदोलनों की बात करते हैं तो हमें इस व्यापक चित्र को अपने ध्यान में रखना होगा।

7.2.2 स्वतंत्रता के बाद बदलता परिवेश

सन् 1947 में आजाद होने के साथ-साथ भारत का विभाजन हुआ। भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन में लोगों को नरसंहार, विस्थापन और घोर कष्ट झेलने पड़े। विभाजन और साम्प्रदायिक घृणा के उन स्याह क्षणों के बीच नए भारतीय राज्य का उदय हुआ। मगर इसके बावजूद औपनिवेशिक शासन से मुक्ति और आधुनिक भारतीय राष्ट्र की कल्पना से यही आशाएं जगी थीं कि राष्ट्र पुनर्निर्माण राज्य की सबसे पहली प्राथमिकता होगी। दुर्भाग्यवश ऐसे महत्वपूर्ण दौर में देश के पुराने महिला संगठन जैसे अखिल भारतीय महिला सम्मेलन, यंग वीमेन्स क्रिश्चियन एसोसिएशन और राष्ट्रीय भारतीय महिला महासंघ (नेशनल फेडरेशन ऑफ इंडियन वीमेन), जो स्वतंत्रता से पहले काफी सक्रिय थे वे निष्क्रिय से हो गए। इसका एक कारण संभवत: यह हो सकता है कि नए राज्य से बड़ी उम्मीदें थीं और शायद लोगों में यह भावना भी थी कि भारत अब स्वतंत्र देश है सो जिन मुद्दों को पहले उठाया गया था उनका समाधान निश्चित ही निकाला जाएगा। एक स्वतंत्र संप्रभु सरकार से यह आशा तो की ही जा

सकती थी कि वह देश में आवश्यक परिवर्तन लाएगी।

साठ के दशक के समाप्त होते-होते देश को एक व्यापक राजनीतिक और आर्थिक संकट ने घेर लिया। देश की जनता के बड़े हिस्से को स्वतंत्र भारत के वादे, सपने पूरे होते नहीं लगे तो जन विद्रोहों, आंदोलनों ने जोर पकड़ा। नियोजित आर्थिक विकास की नीति ने भारी औद्योगीकरण और कृषि का पूंजीकरण तो किया मगर संघर्षों के नए द्वार भी खोल दिए। भूमि सुधार, जो कि राष्ट्रीय आंदोलन का महत्वपूर्ण एजेंडा था, गंभीरता से नहीं लिया गया। ग्रामीण असमानता और ग्रामीण जनता की निराशाजनक गरीबी जस-की तस बनी रहीं। शहरी गरीबी और बेरोजगारी की समस्याएं भी विकराल थीं। उधर युवा और छात्र वर्ग में बढ़ती आमूल परिवर्तनवादी विचारधारा ने उन्हें अपने गुस्से और शिकायतों को राज्य के विरुद्ध मोड़ने के लिए प्रेरित किया क्योंकि राज्य अपने वादों में खरा नहीं उतरा था। स्थितियां अपने चरम पर जा पहुंचीं जब 1970 के दशक के बीच में सारा देश जन-आंदोलनों से गूंज उठा। सत्ताधारी सरकार ने प्रत्युत्तर में इन आंदोलनों को कानून और व्यवस्था की समस्या के रूप में देखा इनके दमन के लिए अंतत: 1975 में देश में आपातकाल (एमरजेंसी) की घोषणा कर दी।

हम यहां इन घटनाओं का जिक्र इसलिए कर रहे हैं कि इसी पृष्ठभूमि में भारतीय महिला आंदोलन का दूसरा दौर शुरू हुआ था। इस संकट से निपटने के लिए राज्य ने आंतरिक आपातकाल की घोषणा की थी। मगर इससे पहले, सामाजिक परिवर्तन की दो प्रधान वैचारिक धाराओं ने देश के भविष्य को दिशा देने का प्रयास किया– ये धाराएं थीं वामपंथी और गांधीवादी-सर्वोदयी आंदोलन। उन्नीस महीने तक के लंबे आपातकाल के दौरान, राजसत्ता ने मानवाधिकारों का क्रूरतापूर्वक हनन किया। महिलाओं के यौन शोषण समेत तमाम तरह के मानवाधिकारों के हनन के खिलाफ जगह-जगह आंदोलन छिड़ गए। इस प्रकार पुराने संगठित आंदोलनों के साथ-साथ नए आंदोलन राजनीतिक दलगत ढांचे से बाहर हुए। महिला आंदोलनों में ऐसी ही बहुविधता और नए-नए रुझान देखे गए।

हमने शुरू में ही भारतीय महिला आंदोलनों का वर्णन करने में आने वाली कठिनाइयों के बारे में बताया है। जिस प्रकार भारत के भीतर कई 'भारत' हैं उसी तरह इन भारतों के भीतर भी कई तरह के महिला आंदोलन हुए। असल में इन्हें राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संदर्भ में जो राजनीतिक सत्ता आपस में जोड़ती है, वह है भारत। नीचे हमने विभिन्न आंदोलनों के बारे में संक्षेप में बताया है। असल में यह भारत में महिला आंदोलन के नाना प्रकार के मुद्दों की एक बानगी भर है।

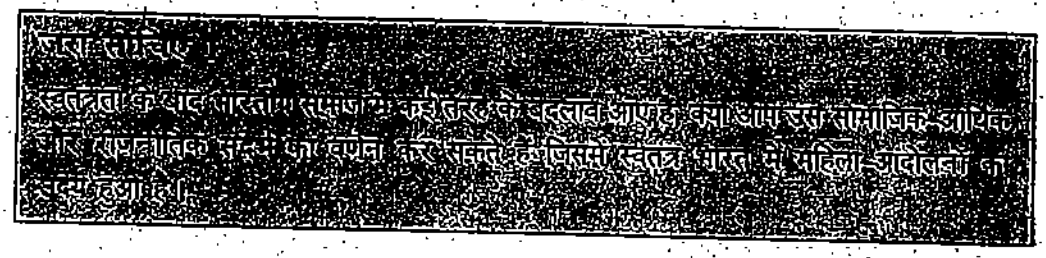

7.3 ग्रामीण भारत में महिला आंदोलन

किसान आंदोलनों का एक लंबा और विपुल इतिहास रहा है। अगर हम कुछ आंदोलनों का जिक्र करेंगे तो जाहिर है कुछ छूट जाएंगे। सो जो भी वर्णन यहां किया गया है वह चुनिंदा है, जिसका केंद्र बिंदु यह है कि इनमें महिलाओं ने किस तरह हिस्सा लिया था और उनकी हिस्सेदारी ने आंदोलन पर किस तरह से प्रभाव डाला। हम अपनी चर्चा आंध्र प्रदेश से शुरू कर रहे है। इसलिए नहीं कि यह महान तेलंगाना आंदोलन की कर्मभूमि था जो अविभाजित कम्युनिस्ट आंदोलन की अगुवाई में चला था और जिसमें महिलाओं ने महती भूमिका निभाई थी, बल्कि इसलिए भी कि इसके श्रीकाकुलम जिले में साठ के उत्तरार्ध और सत्तर के दशक के पूर्वार्ध के वर्षों में उग्र किसान आंदोलन हुए थे।

7.3.1 श्रीकाकुलम आंदोलन

इस जिले की भौगोलिक स्थिति कुछ इस प्रकार है कि यह दो विशेष भागों में बंटा है: पहाड़ी प्रदेश और मैदानी या तटीय इलाका। जिले के विभाजन से पहले आंध्र प्रदेश के अनुसूचित क्षेत्रों में जनजातियों की आबादी का घनत्व सबसे अधिक श्रीकाकुलम में था– भारतीय जनगणना 1971 के अनुसार लगभग 260 व्यक्ति प्रति वर्ग कि.मी.। इन जनजातियों में आर्थिक उत्पादन में महिलाओं की भूमिका महत्वपूर्ण थी। पुरुष तो मुख्यत: शिकार खेलने, ताड़ी निकालने और जंगलात के मजदूरों का काम करते थे वहीं उनकी महिलाएं पहाड़ी ढलानों पर खेती-बाड़ी का काम संभालती थीं। झाड़ियों की कटाई-सफाई, रोपाई, खर-पतवार की सफाई, फसल की कटाई, दाना गाहना, ओसाना, मेंड़ या बंध बनाने जैसे श्रमसाध्य काम की जिम्मेदारी महिलाओं के कंधों पर ही थी। फिर उन्हें घर में अनाज पीसने, खाना पकाने, रस्सी बटने और पशुओं की देख-रेख जैसे सारे काम भी करने पड़ते थे। इसका यही मतलब है कि आंदोलन के आर्थिक मुद्दे स्त्री और पुरुष दोनों के लिए समान थे।

इन आर्थिक मुद्दों में थे: फसल विशेषक पोडू उगाने का अधिकार जिसे राज्य सरकार ने अवैध करार दे दिया था, जंगल और इमारती लकड़ी, इमली और जलावन की लकड़ी जैसे वन उत्पादों का हक, जंगल में काम करने वाले मजदूरों को उचित मजदूरी, जंगलात में जबरिया मजदूरी की प्रथा या वेट्टी, गैर जनजातियों द्वारा जनजाति के लोगों की जमीन पर कब्जा, विशेषकर सूदखोर महाजनों द्वारा, जो उनसे भारी ब्याज वसूलते थे, राजकीय एजेंसियों और व्यापारियों द्वारा वन-उत्पादों के बदले में उचित नकद भुगतान और जंगलात के अधिकारियों द्वारा उनका उत्पीड़न। ये सारे मुद्दे महिलाओं की आर्थिक गतिविधियों से सीधे जुड़े थे।

दूसरी ओर मैदानी क्षेत्र में, जो कि श्रीकाकुलम जिले का ही हिस्सा था, मुद्दे कुछ अलग थे। खेतिहर मजदूरों की मजदूरी के अलावा मैदानी इलाकों में आंदोलन के मुद्दे थे परती भूमि पर अधिकार, गरीब किसानों की बंधक और गैर-कानूनी ढंग से छीनी गई जमीन, आदि। आंदोलन की कुछ जीवित अग्रणी महिला कार्यकर्ताओं में एक, सम्पूर्णम्मा के अनुसार महिला संगम के परचम तले जिस एक मुद्दे ने महिलाओं को एकता के सूत्र में बांधा था, वह था जमींदारों और सूदखोर महाजनों के हाथों उनका यौन उत्पीड़न।

इसी प्रकार पुरुषों में शराब की लत भी महिलाओं के लिए बड़े तनाव का स्रोत थी। शराब के व्यापारी अक्सर महाजन ही थे जो शराब की लत डाल कर उनके पुरुषो को अपना ऋणी बना लेते थे। महिला संगम ने शराब-विरोधी अभियान छेड़ा, तो महिलाओं ने जगह-जगह जाकर शराब की भट्टियों को तोड़ा। यहां एक बात उल्लेखनीय है कि इस आंदोलन में मैदानों की महिलाओं की भागीदारी पर अंकुश अधिक था। उधर पितृसत्तात्मक नियंत्रण जनजातीय महिलाओं पर अपेक्षतया कम होने के कारण उनकी सहभागिता इस आंदोलन में अधिक रही। यह बात उस जटिल क्रिया को समझने के लिए जरूरी है, जिससे आर्थिक, सांस्कृतिक और पारिवारिक प्रतिबंध मिलकर किसी खास आंदोलन में महिलाओं की भूमिका को तय करते हैं। महिलाओं की आंदोलनों में सहभागिता के ठीक-ठीक आंकड़े दे पाना हमेशा कठिन रहा है क्योंकि जैसा कि हमने इकाई के प्रस्तावना में बताया है हम पर उच्च और अधिक नजर आने वाले वर्गों की कारगुजारियों को दर्ज करने की प्रवृत्ति अधिक हावी रहती है। शेष को हम अनदेखा कर देते हैं। फिर उपेक्षित वर्गों के प्रतिनिधित्व की जहां बात आती है, तो उसमें भी महिलाओं की उपेक्षा अधिक ही होती है। मगर अनेक थानों में लगभग 1,800 वारदातों के संबंध में दर्ज प्राथमिकी को देखने से इस आंदोलन में महिलाओं की व्यापक भागीदारी का अनुमान हमें मिल जाता है। सशस्त्र संघर्ष और उसे कुचलने के लिए शासन की क्रूर दमनात्मक काररवाइयों में महिलाओं को पुलिस ने गंभीर यातनाएं दीं मगर ऐसी कोई सूचना पुलिस को नहीं दी जिससे आंदोलन खतरे में पड़ जाए। कुल मिलाकर इस आंदोलन के दौरान दो से लेकर तीन हजार महिलाए मारी गईं।

उनके शौर्य, साहस के अलावा आंदोलन में महिलाओं की सहभागिता ने संगठनों के भीतर स्त्री-पुरुष के संबंधों, रोज़ाना के कामों को मिलजुलकर निपटाने और नेतृत्व में महिलाओं की भूमिका आदि पर बहस को जन्म दिया।

हमने यहां श्रीकाकुलम आंदोलन का प्रासंगिक विवरण दिया है, क्योंकि इस आंदोलन ने जो मुद्दे उठाए थे वे कमोबेश ग्रामीण भारत के कई बड़े हिस्सों के लिए समान हैं, जिनकी कथा यहां नहीं कही गयी है। मगर वे भारतीय महिला आंदोलन के इतिहास का ही हिस्सा हैं।

7.3.2 बोधगया का भू-आंदोलन

सत्तर के दशक-बीच में राजसत्ता के दमन की पृष्ठभूमि में ही जनवरी 1975 में बिहार में छात्र युवा संघर्ष वाहिनी ने, महिलाओं के भूमि और उत्पादन के संसाधनों पर अधिकार, विवाह संस्था और स्त्री-पुरुष संबंधों जैसे अनछुए मुद्दों पर बहस छेड़ी। हम यहां चमार जाति की एक स्त्री के विचार पेश कर रहे हैं:

"ज़मीन बाप से बेटे को मिलती है। यहां तक कि शादी में औरत को उपहार में मिले जेवर भी उसे नहीं दिए जाते, उसे सास-ससुर अपने कब्जे में ले लेते हैं। अगर मर्द मर जाता है या दूसरा ब्याह रचा ले, तो औरत को दूसरों पर बोझ बनकर जीना पड़ता है। मर्द अपनी ज़मीन को शराब या जुए में गंवा सकता है लेकिन औरत को अपने बच्चों की चिंता लगी रहती है। वह उन्हें भूखा मरता कभी नहीं देख सकती, उन्हें पालने के लिए जो उसके वश में है वह सब करेगी। तो ज़मीन का मालिक औरत और मर्द दोनों को होना चाहिए।"

भूमि पर अधिकार महिलाओं के लिए एक महत्वपूर्ण मुद्दा बन गया। वाहिनी के दो सीधे और सपाट नारे उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देते हैं: 'औरत के बिना हर बदलाव अधूरा है' और 'औरत, हरिजन और मजदूर नहीं रहेंगे अब मजबूर'।

बोध गया मठ के खिलाफ वाहिनी के आंदोलन में भाग लेने वाले आंदोलनकारियों में 30 से 50 प्रतिशत महिलाएं थी। दरअसल मठ ने हज़ारों एकड़ की जोत पर कब्जा कर रखा था और उसका प्रभाव भी काफी था। इसी के चलते यह जन-आंदोलन किया गया था। सैकड़ों महिला आंदोलनकारी मठाधीशों के गुंडों और राज्य पुलिस की गोलियों का निशाना बनीं।

महिलाओं के साहस के प्रदर्शन के अलावा इस आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने स्त्री-पुरुष संबंध के परस्पर-निजी पहलुओं से लेकर भूमि अधिकार जैसे महत्वपूर्ण ढांचागत जैसे कई तरह के मुद्दों को उठाया। इसने यह बुनियादी समझ विकसित की कि परिवार संस्था और राजनीतिक व आर्थिक संस्थाओं में घनिष्ठ संबंध है। इसलिए इसमें पत्नी की पिटाई, मदिरा पान, बाल विवाह और महिलाओं की सामाजिक असमानता के खिलाफ दोहरा संघर्ष छेड़ा जो अंततः भूमि व अन्य संसाधनों पर उनके अधिकार को स्थापित करेगा।

7.3.3 चिपको आंदोलन

हमने अभी तक दक्षिण में गरीब महिलाओं के संघर्ष, बिहार में समान अधिकारों के लिए उनकी लड़ाई के बारे में जाना। अब हम आपको उत्तर प्रदेश की पहाड़ियों में महिला की अगुवाई में चले चिपको आंदोलन के बारे में जानकारी देंगे। यह आंदोलन हिमालय के वनों को विनाश से बचाने के लिए किया गया था। इस आंदोलन के मुद्दों को समझने के लिए हमें कुछ दूर तक अतीत में जाना होगा। औपनिवेशिक वन-नीति ब्रिटेन के पोत-निर्माण उद्योग और भू-परिवहन की जरूरतों की पूर्ति के लिए बनी थी। जनविरोध के बावजूद वनों को राज्य की संपत्ति घोषित कर दिया गया। बीसवीं सदी के शुरू के वर्षों में उत्तराखंड में ऐसे कई आंदोलन हुए। सन् 1947 के बाद 30 मई को शहीद दिवस के रूप में मनाया जाने लगा। हर वर्ष इस दिन उत्तराखंड के लोग इकट्ठा होकर जंगल से जुड़ी समस्याओं पर विचार-विमर्श करते हैं।

इस आंदोलन की शुरुआत सत्तर के दशक के आरंभ में हुई। आंदोलनकारियों ने जंगलों के दोहन के लिए ठेकेदारी प्रथा को समाप्त करने, रियायती दरों पर गांववासियों को लकड़ी इत्यादि सुलभ कराने और वनराजस्व के बंदोबस्त की मांग की। साथ ही आंदोलनकारियों ने खेती के औज़ार (हल इत्यादि) बनाने के लिए तरुण के पेड़ न काटने का संकल्प किया।

जंगलात के ठेकेदारों और अधिकारियों ने स्थानीय पुरुषों को मनाने की भरसक कोशिश की ताकि वे उन्हें पेड़ गिराने की अनुमति दे दें। उनकी यह कोशिश कुछ हद तक सफल हुई, जब उन्होंने टिहरी गढ़वाल की हिवल घाटी के अद्वैणी गांव के कुछ पुरुषों को वृक्ष कटान के लिए सहमत कर लिया। तब धूम सिंह नेगी नामक आंदोलनकर्ता गांव आए और वह एक पेड़ के नीचे बैठकर भूख-हड़ताल पर बैठ गए। उनके अनशन के पांचवे दिन गांव की महिलाओं ने अपने निर्णय की घोषणा की कि कटान के लिए छपे वृक्षों को बचाने के लिए वे उनसे 'चिपक' जाएंगी। अपने जीवन की कीमत पर भी वे वृक्षों को बचाने के लिए कृत संकल्प थीं। यहीं से चिपको आंदोलन को यह नाम मिला। यह घटना नवंबर 1977 की है।

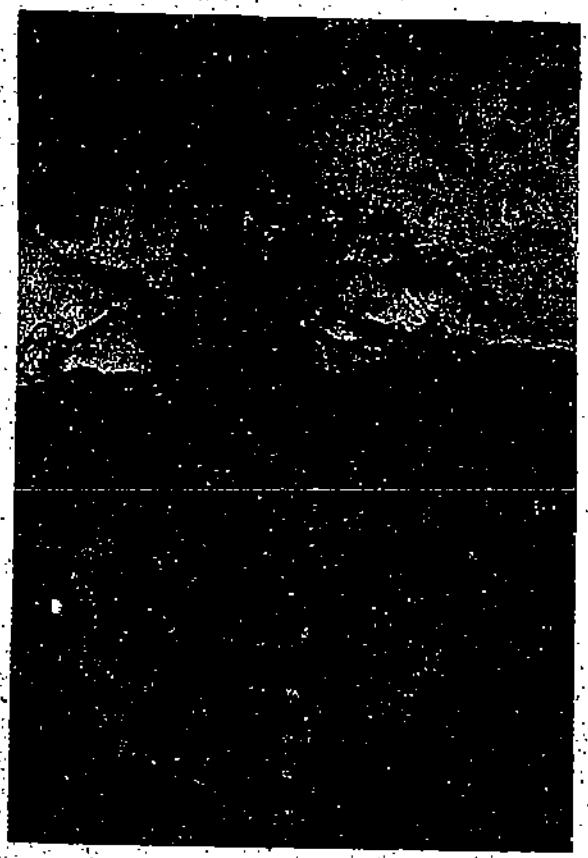

अब चिपको का संदेश उत्तराखंड में आने वाली युवा लड़कियों में भी लोकप्रिय है।

सौजन्य : देबल के. सिंहराय, इग्नू, नई दिल्ली

महिलाओं के 'चिपको' अभियान छेड़े जाने के कुछ ही दिनों बाद वन विभाग ने महिलाओं को रास्ते पर लाने के लिए एक वन अधिकारी भेजा। महिलाओं का एक प्रतिनिधिमंडल वन अधिकारियों से मिला, वे दिन के उजाले में अपने हाथों लालटेन लिए थीं। इससे वह उस अधिकारी को यह संदेश देना चाहती थीं कि जब जंगल कट जाते हैं तो उनकी जगह पर नए जंगल नहीं उगते क्योंकि मिट्टी और पानी के स्रोत सूख जाते हैं। वन अधिकारी ने वृक्ष काटने के लिए वैज्ञानिक तर्क रखे और अपनी बात इस नारे से समाप्त की : 'क्या है जंगल का उपकार, लीसा, लकड़ी और व्यापार'। महिला आंदोलनकारियों की नेता बचनी देवी ने इसका जवाब इस नारे से दिया : 'क्या है जंगल का उपकार,

मिट्टी, पानी और बयार, जिंदा रहने का आधार।' बैठक में मौजूद सैकड़ों महिलाओं ने इस नारे को दोहराया।

कुछ दिनों बाद पी.ए.सी. ने सड़कों पर मार्च कर रही आंदोलनकारी जनता को आतंकित करने का प्रयास किया। पहली फरवरी 1978 के दिन जंगलात के ठेकेदार चिरानी मज़दूरों को लेकर वृक्ष-कटान के लिए जंगल पहुंचे। उनके पीछे-पीछे पी.ए.सी. के जवान थे। लेकिन इससे पहले कि कुल्हाड़ियां चलें आंदोलनकारी महिलाओं ने वृक्षों को अपने आलिंगन में ले लिया और उनसे चिपक गईं।

आंदोलन जंगल में आग की तरह फैल गया। उधर वृक्ष-कटान फिर से शुरू करने के प्रयास भी हुए। आंदोलन के नेता सुंदर लाल बहुगुणा ने अनशन शुरू किया जिससे आंदोलन के अहिंसक गांधीवादी चरित्र को बल मिला। ठेकेदारों के गुंडों ने बहुगुणा की झोपड़ी को आग लगाने की कोशिश भी की। आखिर में बहुगुणा को गिरफ्तार कर लिया गया। इसने आग में घी का काम किया। अंततः सरकार को झुककर आंदोलनकारियों से बातचीत करनी पड़ी।

महिला आंदोलनकारियों ने शिवालिक तलहटी से ऊपर हरे पेड़ों के व्यावसायिक कटान पर प्रतिबंध लगाने के लिए सरकार को बाध्य किया। इसके अलावा उन्होंने सरकार से यह मांग भी मनवा ली कि हर गॉव की तीन किलोमीटर की परीधि में फलदार, चारापत्ती और ईंधन की लकड़ी उपलब्ध कराने वाले पेड़ लगाए जाएं। मगर इस आंदोलन की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि इसने पहाड़ी महिलाओं को बड़ा आत्म-विश्वास दिया। इन आंदोलनकारी महिलाओं के बारे में पढ़ते हुए हम यह सोचने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि भारतीय महिला आंदोलनों ने किस तरह अलग-अलग मुद्दों को उठाया है।

ज़रा सोचिए 2

अब तक आप यह समझ गए होंगे कि एक सामाजिक आंदोलन के उदय के पीछे कई कारण होते हैं। क्या आप ऐसे कारणों, घोषणा और किसी आंदोलन के उदय के प्रमुख कारण बता सकते हैं? इन आंदोलनों में महिलाओं की भागीदारी के क्या कारण थे?

क्या आप जानते हैं? 1

महिलाओं के संघर्ष की उत्पत्ति भारतीय है

हम यह कह चुके हैं कि महिला आंदोलनों का वृतांत बताते समय हम जितना बता सकेंगे उससे कहीं ज्यादा छोड़ देंगे। मगर उपरोक्त तीन वृतांत शायद आपको भारत में महिला आंदोलनों की व्यापकता और उनकी शक्ति के बारे में जानकारी दे पाएंगे। यह प्रयास उन लोगों के लिए भी सटीक उत्तर होगा जो यह दावा करते हैं कि महिला आंदोलन एक पश्चिमी शहरी उच्च वर्गीय प्रसंग है भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में जिसकी न तो जड़े हैं न उससे कोई संबंध है।

असल में धूलिया के आदिवासी आंदोलन ने विवाह-कानून, स्वास्थ्य और पंच तंत्र में शामिल होने के अधिकार से जुड़े मुद्दे उठाए। केरल की मछुआरिनों द्वारा मछली पकड़ने की ट्रॉलर मशीनों का उग्र विरोध और साथ में बलात्कार और पत्नी की पिटाई जैसे मुद्दों को उठाना, निपाणी में स्वास्थ्य सुरक्षा, तंबाकू की बेहतर कीमतों के लिए बीड़ी मज़दूरों का संघर्ष और देवदासी प्रथा के विरुद्ध आंदोलन ये सब भारत में महिला आंदोलन की परंपरा के कुछ और उदाहरण हैं। हम इसकी ओर आपका ध्यान आकर्षित इसलिए कर रहें हैं कि हमारे सामने अभी कुछ समय पहले बंगलूर में हुई अंतरराष्ट्रीय सौंदर्य प्रतियोगिता के विरोध में नारी अधिकारवादियों द्वारा किए गए प्रदर्शन को मीडिया ने जिस तरह से उठाया, उछाला उसका अनुभव है। मीडिया में यह कहा गया था कि भारतीय महिला आंदोलन ही ऐसे मुद्दों को उछालता है। यूं तो सौंदर्य प्रतियोगिता का मुद्दा अन्य मुद्दों की तरह ही मान्य था, मगर इस तरह की टिप्पणियों ने भारतीय महिलाओं द्वारा अन्य मुद्दों पर छेड़े गए लंबे और कठोर संघर्षों की गाथा को नकार दिया।

7.4 शहरी भारत में महिला आंदोलन

अब हम शहरी महिलाओं पर आते हैं। मगर यहां भी यह ध्यान रखना जरूरी है कि सभी शहरी महिलाओं की न तो सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि और न ही उनकी समस्याएं समान हैं। उनसे जुड़े मुद्दे कई और तरह के हैं। जिस प्रकार हमारे पास औपनिवेशिक काल में किसान आंदोलनों में देहाती महिलाओं की सहभागिता और उसके फलस्वरूप आंदोलनों के चरित्र पर पड़ने वाले प्रभाव का इतिहास है तो उसी प्रकार हमारे पास ट्रेड यूनियन आंदोलनों में श्रमिक वर्ग की महिलाओं के संघर्षों का इतिहास रहा है। हम कपड़ा मिलों में काम करने वाली महिलाओं को पिछली सदी में ही बंबई में हुई हड़तालों में भागीदारी करते पाते हैं। मध्यम वर्ग की महिलाओं के संगठन बड़े-बड़े नगरों में ही नहीं बल्कि समूचे देश के छोटे-बड़े कस्बों में विवाह-कानूनों, शिक्षा और परदा-प्रथा जैसे मुद्दों को उठा रहे थे, उन पर बहस छेड़ रहे थे। मेहनतकश वर्ग और मध्यम वर्ग के ये दोनों रुझान हमें स्वतंत्र भारत में भी बराबर देखने को मिलते हैं। मगर इनके साथ 1970 के दशक में महिलाओं से जुड़े सरोकार एक नए तेवर लेकर फिर से उभरे। हम अपने वृतांत को यहीं से शुरू करेंगे, जिसका केंद्र बिंदु राज्य हिंसा के खिलाफ राष्ट्रव्यापी अभियान होगा। यह अभियान आपातकाल के बाद (1977) में छिड़ा था जब नागरिक स्वतंत्रतावादी गुटों, प्रगतिशील संगठनों और राजनीतिक दलों ने बर्बर पुलिस दमन, यंत्रणा और निरंकुशता की कई घटनाओं को उछाला।

7.4.1 महिलाओं के प्रति हिंसा : एक राजनीतिक मुद्दा

आपात काल के बाद उच्चतम न्यायालय ने बंबई उच्च न्यायालय के फैसले को बदला और महाराष्ट्र की एक 14 वर्षीय जनजातीय किशोरी के बलात्कार के आरोपी दो पुलिस कर्मियों को बरी कर दिया। बलात्कार की शिकार इस लड़की का नाम मथुरा था। न्यायाधीशों का मानना था कि यह कृत्य उसकी सहमति से हुआ था और चूंकि वह कुंवारी (यानी अक्षत-योनि) नहीं थी सो उसका चरित्र ठीक नहीं था। इसके कुछ ही दिनों बाद हैदराबाद में रमीजाबी और उत्तर प्रदेश के बागपत में माया त्यागी कांड हुए। दोनों मामलों में पुलिसकर्मियों ने महिलाओं के साथ बलात्कार कर उनके पतियों की हत्या की थी। रोंगटे खड़े करने वाली ऐसी कई घटनाएं प्रकाश में आईं।

इन कांडों की तत्काल तीखी प्रतिक्रिया हुई। बलात्कार विरोधी मंच का गठन हुआ और देश के अलग-अलग हिस्सों में काम कर रहे महिला संगठनों का नेटवर्क बनाने के प्रयास तेज किए गए। इसी बीच दिल्ली में कुछ महिला संगठनों और जागरूक व्यक्तियों ने नव विवाहिताओं की 'आत्महत्या' और 'दुर्घटना' के कुछ मामलों की खोजबीन की तो उन्होंने पाया कि असल में हत्याएं थीं जो उनके पतियों या ससुरालियों ने की थीं। महिलाओं के एक संयुक्त मोर्चे ने इन घटनाओं की शिकार महिलाओं के घरों के आगे विरोध जलूस निकाले। लगभग 30 महिला संगठनों के गठबंधन दहेज-विरोधी चेतना मंच की इन 'बहुदाह' विरोधी कारवाइयों को प्रेस ने पूरी हमदर्दी के साथ खूब छापा।

बलात्कार और बहुदाह विरोधी इन सुप्रचारित अभियानों ने 1980 के बाद से जनता के बीच एक तरह की श्रृंखला प्रतिक्रिया को जन्म दिया, देश में कई नए महिला संगठनों, गठबंधनों के निर्माण को प्रेरित किया। इन्हीं के चलते महिलाओं पर होने वाली हिंसा के भिन्न-भिन्न रूपों की 'खोज' हुई। सो आज हिंसा विरोधी अभियान में ये शामिल हैं :

- घरेलू हिंसा
- पत्नी को पीटना
- राह-चलते और कार्यस्थल पर महिलाओं का यौन उत्पीड़न
- मीडिया में उनका अशोभनीय चित्रण
- लिंग-निर्धारक परीक्षणों और मादा भ्रूण हत्याओं की घटनाओं में वृद्धि

- विधवा दहन (सती)
- साम्प्रदायिक दंगों के दौरान महिलाओं पर की जाने वाली हिंसा।

परिवर्तन के लिए एकजुट महिलाओं के प्रति हिंसा कम करने में सहायता करते हुए

सौजन्य : सी.एस.आर., नई दिल्ली

क्या आप जानते हैं 2

सार्वजनिक बनाम निजी अधिकार-क्षेत्र

हिंसा के मुद्दे ने हमारे समाज में मौजूद सार्वजनिक और निजी की विभाजन रेखा पर भी प्रश्न उठाया है। दरअसल परिवार में जो भी कुछ होता है उसे व्यक्तिगत और इस विभाजन रेखा के कारण बाहरी लोगों द्वारा अहस्तक्षेपनीय माना जाता है। एक आम उदाहरण है पत्नी की पिटाई, जिसके बारे में पड़ोसी बखूबी जानते हैं मगर तब भी अनजान बने रहते हैं। फिर सामाजिक नियम पत्नी की पिटाई करने वाले पतियों को क्षमा तो कर देते हैं मगर परिवार से बाहर के उन नेकदिल लोगों को क्षमा नहीं करते जो दहेज के लिए पीटी या मारी जाने वाली बहु के बचाव में आगे आते हैं। क्या किया जाए क्या नहीं, पति को ही इसका श्रेष्ठ निर्णायक माना जाता है।

पत्नी की पिटाई को सार्वजनिक मुद्दे के रूप में उठाने का परिणाम यह रहा है कि पहले से कहीं ज्यादा महिलाएं अब इसका खुलकर विरोध करने लगी हैं और इस मामले में बाहरी सहायता ले रही हैं। उधर राज्य ने भी इस समस्या के प्रति सकारात्मक रवैया अपनाया है। सो देश के दीवानी कानून में धारा 449-8, जोड़ दी गई है, जिससे पति या उसके नातेदारों द्वारा बरती जाने वाली क्रूरता को अब एक गैर-जमानती अपराध का दर्जा दिया गया है जिसमें जुर्माने के साथ तीन वर्ष के कारावास की सजा मिल सकती है।

7.4.2 दहेज और दहेज से जुड़ी मौतें

पहले कभी दहेज को स्त्रीधन कहा जाता था जो महिला की संपत्ति होती थी, जिसे वह अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग कर सकती थी या किसी को दे सकती थी। दरअसल यह एक भूमि प्रधान कृषि अर्थ-व्यवस्था में महिलाओं के लिए पैतृक संपत्ति में उत्तराधिकार पाने का एक जरिया था। आज दहेज का मतलब सिर्फ सोना, कपड़े या नया घर बसाने के लिए जरूरी बर्तन ही नहीं है, बल्कि भव्य विवाह समारोह और स्कूटर, फ्रीज जैसे उपभोक्ता वस्तुएं या दूल्हे राजा की शिक्षा या व्यापार के लिए नकदी भी है। अब यह उन समुदायों और जनजातियों में भी फैल चुका है जिनमें पहले कभी दहेज लिया-दिया नहीं जाता था।

दहेज के खिलाफ पहली आवाजें राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान उठी थीं। महात्मा गांधी ने इसे वर्ण-व्यवस्था से जुड़ी भ्रष्टकारी सामाजिक बुराई माना था। सत्तर के उत्तरार्ध और अस्सी के दशक में दहेज से जुड़ी मौतों में वृद्धि हुई तो महिला संगठनों ने इन्हें बड़े पैमाने पर उठाया। महिलाओं के संयुक्त मोर्चे, स्त्री संघर्ष, ने दहेज उत्पीड़न की शिकार महिलाओं के घरों के सामने विरोध प्रदर्शन किए और हत्यारों को सजा देने की मांग की। इस अभियान ने व्यापक स्तर पर जागरूकता लाने पर भी बल दिया। दहेज के विरोध में जन-संकल्प किए गए। इन कारवाइयों के दौरान कुछ रोचक नारे उभरे जो इस प्रकार हैं :

- स्त्री पर न हो अत्याचार, हम पड़ोसी जिम्मेवार
- नेक घरों की यह पहचान, बहू-बेटी एक समान
- तिलक नहीं दहेज नहीं, शादी कोई व्यापार नहीं, खरीदा हुआ जीवन-साथी हमें स्वीकार नहीं

अनुभव से सीखें

पिछले एक महीने के किसी राष्ट्रीय दैनिक समाचार-पत्र को पढ़ें और यह जानकारी लीजिए कि हमारे समाज के विभिन्न हिस्सों में महिलाओं पर किस-किस किस्म की हिंसा की जाती है। यह भी जानने की कोशिश कीजिए कि किसी संगठन ने इन अपराधों का विरोध किया कि नहीं। इस जानकारी के आधार पर भारत में महिलाओं के प्रति अपराध : क्या यह जारी रहेगा? विषय पर एक नोट लिखिए।

7.4.3 मीडिया में महिलाओं का गलत चित्रण

मीडिया या समाचार माध्यमों में महिलाओं को घरेलू आज्ञाकारी, त्यागी, भावुक, अंध-विश्वासी के रूप में दर्शाया जाता है जो कभी कोई कार्य विवेकपूर्वक नहीं कर सकतीं। हिंदी में पति परमेश्वर और मराठी में गबड़ाइचा नाही, इन दो फिल्मों को सेंसर बोर्ड ने महिलाओं के अवमाननाजनक चित्रण के लिए प्रतिबंधित कर दिया था। मगर उच्च न्यायालय के एक निर्णय ने इस प्रतिबंध को इस आधार पर हटा दिया कि पश्चिमी संस्कृति के आक्रमण के मद्देनज़र इन फिल्मों ने सिर्फ हिंदू परंपरा को अभिव्यक्ति दी है और विवाह संस्था को सम्मान दिया है।

असल में भारतीय महिला आंदोलन की अक्सर ऐसी आलोचना की जाती है कि यह भारतीय परंपरा के विरुद्ध है। यह हमें उस प्रश्न की ओर ले जाता है कि परंपरा की हमारी परिभाषा क्या है। उन्नीसवीं सदी के समाज सुधारकों की तरह महिला आंदोलन यह पूछ रहा है। क्या दहेज हमारी परंपरा है? बहू-दाह क्या हमारी परंपरा है? क्या पत्नी को पीटना हमारी परंपरा है? क्या बलात्कार हमारी संस्कृति है?

महिला संगठनों ने मीडिया में महिलाओं के चित्रण के मुद्दे पर लोगों में राय बनाई है। घटना की छात्र युवा संघर्ष वाहिनी का दावा है कि सबसे पहले उसने ही 1979 में अशोभनीय होर्डिंगों पर कालिख पोती थी। उधर मद्रास में पेनुरम्मै इयाकम ने लगभग 500 स्लम महिलाओं, छात्रों, गृहणियों, दतरियों का जलूस निकालकर अश्लील फिल्म होर्डिंगों को रंगा। यह अभियान आज भी जारी है क्योंकि

विज्ञापन उन भारतीय महिलाओं की ग्लैमरस छवि को बड़े आक्रामक ढंग से चित्रित कर रहे, भारत की अधिकांश महिलाओं की दुनिया से जिनको दूर तक कोई नाता नहीं है। खेतिहर मजदूरों, ताड़ी निकालने वाली जनजातियों, मछुआरिनों और बीड़ी बनाने वाली महिला मजदूरों का हमने जो वृतांत दिया है वह यही दर्शाता है कि महिलाएं अनिवार्यतः उत्पादक हैं। गृहणी अपना सारा दिन घर का काम करने जैसे खाना बनाने, साफ-सफाई, बच्चों की देखभाल, खाद्य-संसाधन, सिलाई-बुनाई करने में बिताती हैं। लेकिन विज्ञापन उन्हें सिर्फ़ उपभोक्ता और सजी-संवरी गुड़ियों के रूप में दिखाते हैं।

7.4.4 स्वस्थ जीवन का अधिकार

हमारे समाज़ में यह कहावत है कि 'औरत खाना तो बनाती है मगर सबसे अंत में खाती हैं।' यह कहावत उन भौतिक और सामाजिक पहलुओं के बारे में हमें बता जाती है जो महिलाओं के दुर्बल स्वास्थ्य के लिए जिम्मेदार हैं। उर्जा व्यय और कैलोरी अंतर्ग्रहण पर हुए एक अध्ययन से पता चलता है कि महिलाएं मानव ऊर्जा का 53 प्रतिशत जीवित रहने के लिए, जरूरी कार्यों पर पुरुष 31 प्रतिशत तो बच्चे 16 प्रतिशत खर्च करते हैं। इसी तरह कैलोरी अंतर्ग्रहण की समरूप तुलना से पता चलता है कि जितनी कैलोरी खर्च होती है उससे 100 कैलोरी कम ही महिलाएं लेती हैं! फ़िर 60 से 68 प्रतिशत गर्भवती महिलाएं अरक्तता (एनीमिया) जैसे खून की कमी के रोग से पीड़ित रहती हैं और गर्भावस्था में या उसके बाद उन्हें रतौंधी होना आम बात है।

महिला आंदोलन ने इन आंकड़ों को दर्ज करने का ही नहीं बल्कि महिलाओं को स्वस्थ जीवन के अधिकार के लिए अभियान चलाने का दायित्व भी पूरा किया। अपने इस अभियान में उसने शारीरिक और सामाजिक कई तरह के मुद्दे उठाए। महिला स्वास्थ्य में उन्होंने प्रजनन के पहलुओं और बालिका के कुपोषण के व्यापक मुद्दे समेत महिला कामगारों के सामने आने वाले अनेक पेशागत स्वास्थ्य खतरों को भी शामिल किया।

महिलाओं को स्वास्थ्य के लिए आयोजित करते हुए

सौजन्य : सी.एस.आर., नई दिल्ली

i) **पेशागत स्वास्थ्य खतरे**

महिला कामगारों का 94 प्रतिशत हिस्सा असंगठित और स्वरोज़गार की श्रेणी में आता है। उनके काम को कई श्रेणियों में बांटा गया है। ये हैं भारी शारीरिक श्रम जैसे खनन, भवन निर्माण या कृषि में, घरवास-आधारित काम जैसे सिलाई-बुनाई, बीड़ी बनाना, सेवा क्षेत्र (सर्विस सेक्टर) में बिक्री और संसाधन और दूसरे लघु उद्योग जैसे मत्स्य संसाधन या स्लेट, पेंसिल निर्माण आदि। बार-बार वही काम, भार उठाना, घन या हथौड़े चलाना और झुके रहना, जिन हानिकारक पदार्थों के साथ उन्हें काम करना पड़ता है वे सब मिलकर उनके स्वास्थ्य को कमजोर करते हैं।

ii) **बार-बार गर्भधारण**

अपनी चरम प्रजनन आयु (14 से 45 वर्ष) में एक महिला औसतन आठ बार गर्भ धारण करती है। इनसे उत्पन्न होने वाले बच्चों में सिर्फ तीन से पांच बच्चे ही जीवित रह पाते हैं, विशेष कर वही जिन्हें दो से तीन वर्ष तक स्तनपान मिलता है। यहां यह दोहराना जरूरी नहीं कि माताओं के स्वास्थ्य के लिए यह कितना हानिकारक है विशेषकर स्वास्थ्य सुविधाओं और पोषण के अभाव में।

iii) **ईंधन, चारा और पानी का बोझ**

अनियोजित विकास के चलते प्राकृतिक संसाधनों का जो क्षरण हुआ है इसके कारण महिलाओं को ईंधन, चारा और पानी जुटाने के लिए हर दिन घंटों पैदल चलना पड़ता है। निजी व सार्वजनिक कार्य का यह दोहरा बोझ उनके पहले से दुर्बल स्वास्थ्य को और हानि पहुंचाता है

iv) **स्वास्थ्य को जनन शक्ति-नियंत्रण मानने का राज्य दुराग्रह**

महिला संगठनों ने बार-बार राज्य की नीति की कलई खोली है, जो नारी-स्वास्थ्य को सिर्फ परिवार नियोजन के नजरिए से देखती है। इस नीति का केन्द्र बिंदु गर्भ-निरोध है सो महिलाएं अगर परिवार नियोजन (जिसका मतलब नसबंदी है) के लिए राजी नहीं होती हैं तो उन्हें अक्सर प्रसव-पूर्व देखभाल से वंचित रखा जाता है।

v) **इंजेक्शन से दिए जाने वाले गर्भ-निरोधक के विरुद्ध अभियान**

महिला संगठनों ने डीपो प्रोवेरा (डीएमपीए) नामक कैंसरजनक गर्भनिरोधक का कड़ा विरोध किया। इस गर्भनिरोधक का प्रयोग भारत में शुरू करने के प्रयास किए गए हैं, जिसका निशाना गरीब महिलाओं को बनाया जा रहा है।

क्या आप जानते हैं? 1

कानूनी अभियान

भारतीय महिला आंदोलन का ये हमेशा से महत्वपूर्ण हिस्सा रहे हैं। यह जानते हुए कि सिर्फ कानून ही सामाजिक परिवर्तन नहीं ला सकता, समाज को लिंग-समतावादी समाज की ओर बढ़ाने में कानूनों की सार्थकता को महिला संगठन बखूबी समझते हैं। समान काम के लिए समान मजदूरी और मातृत्व अधिकार जैसे मुद्दे ट्रेड यूनियन आंदोलनों का हिस्सा रहे हैं। जैसा कि पीछे बताया गया है अस्सी के दशक में मथुरा और रमीज़ाबी कांडों ने बलात्कार और दहेज कानूनों में संशोधन के लिए एक राष्ट्रव्यापी आंदोलन को जन्म दिया। जिस एक और महत्वपूर्ण क्षेत्र में कानूनी बदलाव की मांग की गई है, वह है धर्म पर आधारित वैयक्तिक कानून। ये पारिवारिक कानून परिवार के सदस्यों के रिश्तों को परिभाषित और नियमित करते हैं। ये कानून विवाह, तलाक, दत्तकधारण (गोद लेना) और उत्तराधिकार से जुड़े हैं। भारतीय संविधान में सिर्फ ये कानून ही ऐसे हैं जो भिन्न सम्प्रदायों के लिए भिन्न हैं।

जरा सोचिए 2

भारत में महिलाओं का स्वास्थ्य सबसे किन स्तरों का सामना करना पड़ता है? क्या ये मुद्दे संगठित सामाजिक गतिविधि का रूप ले सकते हैं? इसका नेतृत्व कौन करना चाहिए? इन प्रश्नों का उत्तर आपने जो पढ़ा है उसके और अपने विवेक के आधार पर तैयार कीजिए।

7.5 सरांश

भारत के समाज की विशेषता इसकी भारी विविधता है। यह विविधता सिर्फ सांस्कृतिक, भाषायी, क्षेत्रीय या धार्मिक नहीं है। बल्कि हमारे समाज में विभिन्न वर्गों, जातियों और जनजातियों के बीच गहरी भिन्नताएं हैं। पितृसत्तात्मक समाज में पराधीन होने के कारण महिलाओं के जीवन में काफी समानताएं हैं, मगर वहीं उनमें उतने ही गहरे भेद भी हैं जो ऊंची जाति की महिलाओं को मेहनतकश वर्ग की महिलाओं से अलग रखते हैं। भारतीय महिला आंदोलन मुद्दों और कभी-कभी दृष्टिकोण की इस बहुविधता को दर्शाते हैं। विधवादाह (सती) के विरुद्ध अभियान बीड़ी उद्योग की महिला श्रमिकों के संघर्ष के साथ-साथ चलता है। मीडिया द्वारा महिलाओं के ग्लैमरीकरण, जो उन्हें उपभोग की वस्तु के रूप में दिखाता है, उसके खिलाफ संघर्ष के साथ-साथ ढांचागत समायोजन नीतियों के खिलाफ भी संघर्ष चल रहा है, क्योंकि इनके फलस्वरूप भोजन, दवा, परिवहन आदि पर दी जाने वाली सबसीडी (छूट) के समाप्त होने पर सबसे अधिक प्रभावित होंगी तो महिलाएं ही होंगी।

इस बहुविधता के बावजूद एक बुनियादी एकता इन मुद्दों को जोड़े रखती है क्योंकि ये एक ही सामाजिक- आर्थिक ढांचे की उपज हैं। उदाहरणतया एक तरफ भारतीय मध्यम वर्ग की महिलाओं का ग्लैमरीकरण (जोकि सौंदर्य प्रतियोगिताओं की बाढ़ से स्पष्ट हो जाता है) और दूसरी तरफ भोजन, स्वास्थ्य और शिक्षा से सबसीडी हटाना, ये दोनों उसी नई आर्थिक नीति के दो पहलू हैं। महिलाओं को ही इनके दुष्परिणामों का सामना सबसे ज्यादा करना पड़ता है और वे इनका सामना भी समाज के जिस वर्ग से वे संबंध रखती हैं उसके अनुसार अलग-अलग ढंग से करती हैं।

7.6 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

प्रक्रिया : परस्पर-जुड़ी पहलों या काररवाइयों की श्रृंखला जिसके ज़रिए कोई वस्तु या घटना रूप लेती है।

स्थिति : समाज में एक व्यक्ति या समूह की स्थिति।

7.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कुमार, राधा (1995) *द हिस्ट्री ऑव डूईंग.* नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

सेंहरॉय, डी.के. (1992) *वीमेन इन पीजेंट मूवमेंट्स : तिभागा, नक्सलाइट एंड अदर्स.* नई दिल्ली: मनोहर.

इकाई 8 दक्षिण एशिया में महिला आंदोलन

रूपरेखा

8.0 लक्ष्य और उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 दक्षिण एशिया में महिला : एक सिंहावलोकन

- 8.2.1 सामाजिक-आर्थिक रूपरेखा और महिलाओं की स्थिति
- 8.2.2 महिलाओं का दैनिक संघर्ष
- 8.2.3 महिला आंदोलन के मुद्दे
- 8.2.4 धार्मिक कट्टरपंथ

8.3 नेपाल में महिला आंदोलन

8.4 श्रीलंका में महिला आंदोलन

- 8.4.1 श्रमिक वर्ग का संघर्ष
- 8.4.2 श्रीलंकाई महिलाओं के सरोकार के महत्वपूर्ण मुद्दे

8.5 पाकिस्तान में महिला आंदोलन

- 8.5.1 पाकिस्तानी महिला और लोकतंत्र
- 8.5.2 पाकिस्तान में महिला अधिकार

8.6 बांग्लादेश में महिला आंदोलन

- 8.6.1 महिलाएँ और मुक्ति आंदोलन
- 8.6.2 पेयजल के लिए आंदोलन

8.7 भारत में महिला आंदोलन

- 8.7.1 स्वतंत्रता के बाद की गतिविधियाँ
- 8.7.2 स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका

8.8 सारांश

8.9 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.0 लक्ष्य और उद्देश्य

यह इकाई दक्षिण एशियाई देशों में महिला आंदोलनों का एक सिंहावलोकन प्रस्तुत करेगी। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- दक्षिण एशियाई देशों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति के बारे में बता सकेंगे,
- इन समाजों में महिलाओं की स्थिति का सिंहावलोकन प्रस्तुत कर सकेंगे,
- नेपाल, श्रीलंका, पाकिस्तान, बांग्लादेश और भारत में महिला आंदोलनों के मुख्य पहलुओं के बारे में बता सकेंगे, और
- इन देशों के महिला आंदोलनों के सरोकार के प्रमुख मुद्दों का विश्लेषण कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

महिला आंदोलन एक विश्वव्यापी परिघटना है। बढ़ती चेतना के चलते विश्व में दूरदराज़ के गाँवों की महिलाएँ भी उन सभी दमनात्मक स्थितियों का विरोध करने लगी हैं जो युगों से उन पर थोपी गई हैं। इन सभी प्रतिरोधों ने हाल के वर्षों में महिला आंदोलनों का रूप लिया है। आप कई प्रश्न पूछना चाहेंगे, जैसे : समूचे विश्व में चल रहे महिला आंदोलनों के मुद्दे क्या समान हैं। सामाजिक-लिंग उत्पीड़न के प्रतिरोध के स्वरूप भी क्या समान हैं? इन प्रश्नों का विश्लेषण हमने दक्षिण एशियाई समाजों के संदर्भ में किया है, जिनका सामाजिक ताना-बाना और आर्थिक ढांचा लगभग समान है। सीमित स्थान में तमाम मुद्दों और आंदोलनों का वृतांत देना कठिन हो जाता है। इसलिए इस व्यापक विषय पर सारगर्भित चर्चा करने के लिए हमने इकाई के आरंभ में दक्षिण एशिया की सामाजिक और आर्थिक व महिलाओं की स्थिति की रूपरेखा रखी है। यहाँ हमने इन समाजों में महिलाओं की मुख्य समस्याओं की चर्चा की है। इसके बाद हमने चर्चा के लिए नेपाल, श्रीलंका, पाकिस्तान, बांग्लादेश और भारत में महिला आंदोलनों के प्रमुख पहलुओं को चुना है। इसी तरह हमने इन आंदोलनों के चुनिंदा मुद्दों पर चर्चा की है।

8.2 दक्षिण एशिया में महिलाएँ : एक सिंहावलोकन

यह इकाई आपको दक्षिण एशियाई क्षेत्र में हो रहे महिला आंदोलनों की झांकी दिखाएगी। दक्षिण एशियाई महिलाएँ जिस सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दुनिया में जी रही हैं उसमें काफ़ी समानता है, भले वह पाकिस्तान, भारत, नेपाल हो या बांग्लादेश हो। चूँकि भारत में महिलाएँ जिन-जिन समस्याओं का सामना करती हैं वे दक्षिण एशिया के किसी भी भाग में रहने वाली महिलाओं के समान ही हैं इसलिए महिला आंदोलन ने इन देशों में जो-जो मुद्दे उठाए हैं उनमें भी बहुत समानता है।

8.2.1 सामाजिक-आर्थिक रूपरेखा और महिलाओं की स्थिति

दक्षिण एशिया में महिलाओं का एक बड़ा हिस्सा बेहद गरीबी में जी रहा है, जो कृषि और गैर-कृषि क्षेत्रों में सबसे निचले पायदान पर जीवन-यापन कर रहा है। यहाँ यह याद रखना जरूरी है कि दक्षिण-एशिया में एक बहुत बड़ी आबादी के लिए कृषि ही अभी तक आमदनी का एक मुख्य या महत्वपूर्ण पूरक स्रोत है। इसके कुल श्रम शक्ति का सिर्फ एक छोटा सा हिस्सा, तो महिला श्रम शक्ति का उससे भी छोटा हिस्सा, विनिर्माण क्षेत्र में कार्यरत है। फिर भले ही वे खेती-बाड़ी में लगे हों या नहीं, ग्रामीण आबादी का एक बड़ा हिस्सा (1990 में यह दक्षिण एशिया की जनसंख्या का 74 प्रतिशत था) अपनी आजीविका और बुनियादी जरूरतों के लिए जंगलों पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में भूमि उनके लिए महत्वपूर्ण है। इस समूचे क्षेत्र में महिलाओं को भूमि अधिकार हासिल नहीं हैं। महिलाएँ खेतों में काम करती हैं, उसी में जुताई, बोआई, कटाई इत्यादि श्रमसाध्य कार्य करती हैं। मगर उन्हें भूमि का स्वामित्व प्राप्त नहीं है और न ही उन्हें इस पर काम करने का कोई पारिश्रमिक ही मिलता है।

विनिर्माण के क्षेत्र में भी दुनिया महिलाओं के लिए ज्यादा भिन्न नहीं है। यहाँ भी वे सबसे निचले पायदान पर हैं। वे इसमें अधिकतया असंगठित क्षेत्र में सीमित हैं जहाँ उन्हें मज़दूरी कम मिलती है तो असाध्य कार्य करने पड़ते हैं चाहे वह बीड़ी बनाना हो, राखी बनाना, पेपर पैकेट, चूड़ियाँ बनाना हो या इलेक्ट्रॉनिक उत्पादों को जोड़ना हो या खाद्य संसाधन, गारमेंट निर्माण या भवन निर्माण में काम करना हो। इस विशाल तबके के लिए काम (या नौकरी) और आमदनी की सुरक्षा एक स्वप्न मात्र है।

काम और परिवार में महिलाओं की हैसियत का बड़ा नजदीकी रिश्ता है। अपने आर्थिक योगदान के बावजूद परिवार में उनकी हैसियत दूसरे दर्जे की है। लंबे समय से हम यही सोचते रहे हैं कि परिवार

एक इकाई है, जिसके सभी सदस्यों यानी पुरुषों और महिलाओं, लड़कों और लड़कियों की स्थिति समान होगी। अगर आज हम यह जान गए हैं कि हमारे घरों की चारदीवारी में कई सामाजिक-लिंग असमानताएँ मौजूद हैं। परिवार के सभी सदस्य किसी भी लाभ के बराबर हकदार नहीं होते। दक्षिण एशिया के कई बड़े हिस्सों में महिलाओं और लड़कियों को पर्याप्त भोजन नहीं मिलता और उन्हें स्वास्थ्य सुविधाओं से वंचित रखा जाता है। कुपोषण, रुग्णता, मृत्युदर, अस्पताल के दाखिले, स्वास्थ्य पर खर्च और खास तौर से स्त्री-पुंजाति अनुपात (प्रति पुरुष महिलाओं की संख्या) इन सूचकों में से किसी एक को देख लेने से ही सामाजिक लिंग-भेदों की यह सचाई सामने आ जाती है। इन स्त्री-विरोधी पूर्वाग्रहों का दायरा हालाँकि अलग-अलग संस्कृतियों में अलग-अलग है लेकिन किसी न किसी सीमा में यह सभी में मौजूद अवश्य है। उत्तर पश्चिमोत्तर भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश में ये पूर्वाग्रह सबसे शक्तिशाली हैं, जहाँ कि स्त्री-पुंजाति अनुपात (स्त्री-पुरुष अनुपात) कम है। मगर दक्षिण भारत और श्रीलंका में ये पूर्वाग्रह काफी कम हैं, हालांकि ये कम महिला विरोधी नहीं है।

फिर देहातों में गरीब घरों की महिलाएँ जो भी आमदनी या पैसा उनके नियंत्रण में हो उसे वे पुरुषों से अलग तरह से खर्च करती हैं। अपनी कमाई को ये महिलाएँ अपने परिवार की आम जरूरतों पर पूरा खर्च कर डालती हैं जबकि उनके पुरुष उसे अपनी निजी जरूरतों जैसे तंबाकू, शराब आदि पर खर्च करते हैं।

देहाती और शहरी गरीब घरों की आम स्थिति यही है और ये दक्षिण एशिया क्षेत्र का सबसे बड़ा जनसमूह हैं। यह विडंबना ही है कि इन परिस्थितियों में पाकिस्तान, भारत, बांग्लादेश और श्रीलंका में हमें महिला प्रधानमंत्री मिली हैं। इसका श्रेय काफी हद तक औपनिवेशिक शासन विरोधी आंदोलन के साथ-साथ महिला आंदोलनों को जाता है, जिन्होंने मध्यम वर्गीय महिलाओं में एक शिक्षित तबके को जन्म दिया। आज भी महिलाओं की माँगों को आवाज देने में यही तबका सबसे आगे है। मगर इसका मतलब यह नहीं है कि गरीब महिलाएँ सिर्फ असहाय और लाचार हैं। बल्कि वे जन-आंदोलनों की सबसे अगली कतार में रही हैं चाहे ये आंदोलन पर्यावरण की रक्षा के लिए हों, यौन हिंसा के विरोध में हों या भूमि अधिकारों की लड़ाई हो या फिर धार्मिक कट्टरपंथ का विरोध हो।

8.2.2 महिलाओं का दैनिक संघर्ष

इससे पहले कि हम उन संघर्षों का वृतांत सुनाएँ, जिन्हें महिलाओं ने छेड़ा था और जिनमें हिस्सेदारी की थी, यहाँ यह बताना जरूरी है कि महिलाएँ चाहे कितनी ही गरीब और दुःखी क्यों न हों, वे अपने रोज़मर्रा के जीवन में बरते जाने वाले भेदभाव का हमेशा से विरोध करती रही हैं। जूझने या विरोध करने की यह प्रवृत्ति तब और भी मुखर हो जाती है, जब वे संगठित संघर्षों में भागीदारी करती हैं। यहाँ हम कुछ उदाहरण देंगे।

परिवार में महिलाओं ने एक ओर संसाधनों के वितरण की असमानता का विरोध किया है, तो वहीं उन्होंने परिवार के सदस्यों जैसे सास-ससुर और पति के अधिकार को भी चुनौती दी है। उदाहरण के लिए हमें बांग्लादेश में यह पढ़ने को मिलता है :

"औरतों ने हमें यह बताया जो दूसरी औरतें अक्सर करती हैं। जैसे एक औरत दूसरी औरत के घर में चावल छिपा के रखती है ताकि उसके मर्द को इसका पता नहीं चले। एक और औरत अपनी पड़ोसिन के यहाँ बकरी पालती है, जिसकी उसके पति को भनक न लगे... तो वहीं एक अन्य औरत ने अपने बेटे के साथ मिलकर पान की दुकान खोली और अपने बेटे को समझा दिया कि वह इस कमाई को बाप से छिपा के रखे। कई औरतें बताती हैं कि वे अपनी बचत को बाँस के छेद में, उसकी जड़ में या फिर कपड़ों के गट्ठर में छिपा कर रखती हैं।"

इस तरह के किस्से दक्षिण एशिया के दूसरे हिस्सों में भी सुनने को मिलते हैं। जैसे भारत और पाकिस्तान में गाँव की औरतें गुपचुप अनाज बेच लिया करती हैं ताकि उनके हाथ में भी कुछ नकदी रहे और जब भी गाँव से दही या कपड़े बेचने वाला निकले तो पैसे के लिए उन्हें अपने मर्दों का मुँह

ताकना नहीं पड़े। नेपाल और श्रीलंका में भी महिलाएँ रोज़मर्रा के जीवन में अपने लिए कुछ जगह बनाने के तरीके निकाल लेती हैं : चाहे वह अपनी सहेलियों, परिचितों के साथ सुख-दुख बाँटना हो या बच्चों की जरूरतों के लिए पैसा। उधर श्रीलंका से मर्मस्पर्शी वृतांत सुनने को मिलता है कि नारियल-जटा उद्योग में काम करने वाली महिलाएँ किस तरह अपनी कमाई घर के अलग-अलग हिस्सों में छिपा कर रखती हैं, ताकि पति जब मारने पर उतारू हो जाए तो वे एक जगह से पैसा निकाल कर उसे दे दें और उसे लगे कि उसकी औरत ने उसे अपनी सारी जमा-पूँजी सौंप दी है।

मगर ऐसे प्रच्छन्न, निजी विरोधों और सार्वजनिक, सामूहिक आंदोलनों में यह फर्क है कि आंदोलन असमानता के ढाँचों को सचेतन चुनौती देते हैं। पहले मामलों में महिलाएँ पितृसत्तात्मक नियंत्रण के दमनकारी पाश से खुद को मुक्त करने की राह तलाशती हैं लेकिन वे इसे चुनौती नहीं देती हैं। समाज इस तरह की कारगुजारियों को चोरी, बेइमानी और गलत करार देता है। ये विरोध तब आंदोलनों में रूपांतरित हो जाते हैं जब महिलाएँ मिल-जुलकर उन व्यवस्थाओं या बंदोबस्तों पर अंगुली उठाती हैं जो उन्हें अपने पति से पैसा छिपाने के लिए विवश करती हैं और जब वे न्याय का अपना जायज़ हक माँगती हैं।

8.2.3 महिला आंदोलन के मुद्दे

अभी तक आपने महिला आंदोलनों के दो पहलुओं के बारे में जाना है। एक पहलू है औपनिवेशिक काल का जब महिलाओं ने न सिर्फ राष्ट्रीय आंदोलनों में, बल्कि सार्वजनिक जीवन में भी महिलाओं के मुद्दों को महत्वपूर्ण बनाने में महती भूमिका निभाई। इन महिलओं में कई मध्यम वर्ग की थीं, तो कई नहीं। जिस प्रकार एक ओर शिक्षा, परदा प्रथा और पार्थक्य की समाप्ति की माँगें उठीं, तो दूसरी ओर तिभागा और तेलंगाना जैसे जुझारू किसान आंदोलन भी हुए जिन्होंने जनजातीय और किसान महिलाओं को राजनीतिक कर्मभूमि में सबसे अगली पंक्ति में ला खड़ा किया। दूसरा पहलू उन महिलाओं का है जो भले ही कितनी ही गरीब और शोषित हों, विरोध के तरीके जरूर तलाश लेती हैं हालाँकि ये अक्सर प्रच्छन्न या गुप्त होते हैं। महिला आंदोलन इन सबसे एक कदम आगे हैं क्योंकि वे पुरुष नियंत्रण को सीधी चुनौती देते हैं और महिलाओं की समस्याओं को जायज़ माँगों के रूप में उठाते हैं जिनकी ओर जनता का ध्यान जाना चाहिए।

अनुभव से सीखें।

किसी स्वयंसेवी संगठन से संपर्क कीजिए और पता लगाइए कि गरीब महिलाएँ कठिनाइयों का सामना किस तरह करती हैं। स्वयं सेवी संगठन इस दिशा में किस तरह की रणनीतियां अपना रहे हैं?

आज के दौर में दक्षिण एशिया के महिला आंदोलन किस मुकाम पर है, उसे शब्दों में समेटना आसान नहीं है। मगर हमारे लिए सौभाग्य की बात है कि इस क्षेत्र की महिलाएँ परस्पर सहयोग बढ़ाने की दिशा में प्रयास कर रही हैं। ऐसा ही एक प्रयास साउथ एशियन वीमेंस कॉकस (दक्षिण एशियाई महिला गुट) ने किया है जिसने इस समूचे क्षेत्र की महिलाओं की मुख्य माँगों को स्वर दिया है।

इस गुट ने निम्न विषय उठाए हैं :

i) आर्थिक और पर्यावरण संबंधी मुद्दे
ii) महिलाओं का राजनीतिक सशक्तीकरण
iii) महिलाओं पर हिंसा
iv) महिलाओं का अनैतिक देह-व्यापार
v) धार्मिक कट्टरवाद और जातीय उग्र राष्ट्रवाद

इन माँगों को आकार देने के पीछे मुख्य सहमति यह रही है कि दक्षिण एशिया की महिलाएँ दोहरे उत्पीड़न की शिकार हैं : पहला महिला होने के नाते तो दूसरा ऐसे देशों की नागरिक होने के कारण जिनकी आर्थिक नीतियाँ और वित्तीय कार्यप्रणालियाँ विकसित देशों के लाभ और समृद्धि के लिए काम कर रही हैं। महिला के राजनीतिक सशक्तीकरण में निम्न बाधाएँ मानी गयी हैं :

i) राजनीतिक सत्ताधिकार तक महिलाओं की असमान पहुँच, जो उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति में प्रतिबिंबित होता है।

ii) रोजगार, संपत्ति अधिकार, सामाजिक अधिकार, शिक्षा और स्वास्थ्य में भेदभाव।

iii) धार्मिक कट्टरवाद, राजनीति का अपराधीकरण, साम्प्रदायिकीकरण और उसमें पैसे का बढ़ता प्रभाव ये सब महिलाओं के राजनीति में प्रवेश में आड़े आने वाली सबसे बड़ी बाधाएँ हैं।

एक और मुख्य प्रसंग जो उठाया गया है, वह है हिंसा। क्योंकि हिंसा का शिकार महिलाएँ घर में और काम पर दोनों जगह बनती हैं और यह अक्सर उन्हें समुदाय और राज्य से मिलती है। इस हिंसा की अभिव्यक्ति यौन हिंसा के रूप में ही नहीं होती है बल्कि सामाजिक और आर्थिक भेदभावों के रूप में भी होती है। जैसे बाल विवाह, दहेज, बहुविवाह, असमान मजदूरी, पुलिस हिरासत में बलात्कार और आतंकवाद और साम्प्रदायिक हिंसा समेत सशस्त्र संघर्षों के दौरान होने वाली हिंसा।

8.2.4 धार्मिक कट्टरपंथ

दक्षिण एशिया धार्मिक कट्टरता और जातीय उग्रराष्ट्रवाद के हिंसक दौर से गुजर रहा है। इनका निशाना खासकर महिलाओं को बनाया जाता है क्योंकि उन्हें सांस्कृतिक और धार्मिक पहचान का संरक्षक और प्रतीक माना जाता है। इसीलिए वे अधिकार की वस्तु बन जाती हैं। इस प्रक्रिया ने ऐसी संस्कृति की बहाली के लिए महिलाओं के अधिकारों और माँगों की धारा ही पलट दी है, जिसे मूल संस्कृति माना जाता है। भारत में हमने महिला आंदोलनों और रूढ़िवादी समुदायों के प्रवक्ताओं के बीच विधवा दाह के मुद्दे पर संघर्ष होता देखा है, समाज के पुरातनपंथी जिसका महिमा मंडन सती कह कर करते हैं। आज भी ऐसे धुर पुरातनपंथी विचारों से संघर्ष जारी है, जो दावा करते हैं कि सती होने का अधिकार संस्कृति का अधिकार है। हम शाहबानो प्रकरण में एक विशेष समुदाय के कठमुल्ला प्रवक्ताओं के साथ हुए संघर्ष के साक्षी रहे हैं, जिन्होंने दावा किया था कि अपने समुदाय के अंदर यह तय करने का अधिकार उन्हीं का है कि महिलाएँ कितने की हकदार हैं कितने की नहीं। फिर राज्य ने इन कठमुल्लों के दबाव में आकर मुस्लिम महिलाओं को गुजारा भत्ता दिए जाने के अदालती फैसले को उलट दिया। इकाई में आगे हम विभिन्न दक्षिण एशियाई देशों में महिलाओं के संघर्षों के बारे में पढ़ेंगे।

यह संभव नहीं है कि हर देश में हुए महिला आंदोलनों का वृतांत यहाँ विस्तार से दिया जाए। इसलिए यहाँ हम महिला पत्रिकाओं और लेखों से जीवन की वास्तविक घटनाओं के उदाहरण दे रहे हैं, जो विभिन्न देशों में चल रहे महिला आंदोलनों की झांकी दिखाएँगे। हमें आशा है कि ये वृतांत आपको उन देशों की घटनाओं से परिचित कराएँगे और आप यह जानेंगे कि अपने संघर्षों में हम उनके कितने समीप हैं। ये वृतांत विस्तृत नहीं, बल्कि दृष्टांत हैं। मगर हमें उम्मीद है कि ये दृष्टांत आपको इस विषय में और अध्ययन करने के लिए प्रेरित करेंगे। इससे रूढ़िगत भ्रम भी दूर होंगे कि दक्षिण एशिया की महिलाएँ शोषण और उत्पीड़न के आगे असहाय, लाचार हैं।

जरा सोचिए 1

क्या आप समझते हैं कि पति से पैसे छिपाकर रखना नैतिक रूप से गलत है? या फिर यह पुरुष के वर्चस्व से अलग होने का एक न्यायोचित प्रयास है?

8.3 नेपाल में महिला आंदोलन

दो दिसंबर 1992 को लगभग दो हजार महिलाएँ काठमांडू की सड़कों पर उतर पड़ीं। वे पुरुष समाज और नेपाल सरकार दोनों से महिलाओं की सुरक्षा की माँग कर रही थीं। 'लड़कियों को बेचना, देश को बेचना है' और 'बलात्कारियों को उम्र कैद दो' जैसे नारों से राजधानी की सड़कें गूँज उठीं।

वीमेन्स सिक्योरिटी प्रैशर ग्रुप द्वारा आयोजित यह प्रदर्शन सामाजिक लिंग-हिंसा के विरुद्ध चलाए जा रहे अंतरराष्ट्रीय सक्रियता अभियान का हिस्सा था। यह प्रदर्शन काठमांडू के ओपन थियेटर से शरू हुआ, जिसमें भाग लेने वाले महिला संगठनों के प्रतिनिधियों, छात्राओं, गृहिणियों ने सड़कों पर लोगों को पर्चे बांटे और उन्हें अपने इस अभियान में भागीदारी करने और उसको समर्थन देने की अपील की। इस जलूस में ठोकरा गाँव की 26 औरतों ने भी हिस्सा लिया।

दृढ़ निश्चयी ये 26 महिलाएँ अपने गाँव ठोकरा से 15 किलोमीटर नंगे पैर पैदल चलकर सरिता अधिकारी की नृशंस हत्या के लिए न्याय माँगने आई थीं। इस हत्या की जाँच भी नहीं हुई। ये महिलाएँ अपने हाथों में उसकी लाश के चित्र लिए हुई थीं, जिसने लोगों को याद दिलाया कि नेपाल की महिलाओं पर किस तरह के अत्याचार और अन्याय किए जा रहे हैं।

बलात्कार की बढ़ती घटनाओं को देखते हुए नेपाल के अलग-अलग राजनीतिक विचारधारा वाले लगभग 20 महिला संगठन जून 1998 में एक मंच पर आए। इस मंच ने महिलाओं के प्रति दृष्टिकोण और नीतियों में बड़ा बदलाव लाने और वर्तमान नेपाली समाज में महिलाओं की सुरक्षा को लेकर सरकार और समुदायों पर दबाव डालने का अभियान छेड़ा। इस मंच का नाम वीमेंस सिक्योरिटी प्रैशर ग्रुप (नारी सुरक्षा पैरवी गुट) रखा गया, जिसमें अब 57 सदस्य संगठन हैं। प्रैशर ग्रुप ने एक मांग पत्र नेपाल सरकार को दिया है, जो इस प्रकार है :

i) बलात्कार की घटनाओं पर पूरी रोक लगे।

ii) इन कुकृत्यों में लिप्त अपराधियों के खिलाफ उचित काररवाई की जाए और उन्हें जमानत पर नहीं छोड़ा जाए।

iii) लड़कियों और महिलाओं के देह व्यापार में लिप्त अभियुक्तों को 20 वर्ष की कैद को अनिवार्य बनाने वाले कानून को कड़ाई से लागू किया जाए।

iv) लड़कियों और महिलाओं के देह व्यापार के लिए दोषी ठहराए गए अपराधी कई जिलों में स्वतंत्र घूम रहे हैं। संबंधित जिला अधिकारियों पर इन अपराधियों को तत्काल गिरफ्तार कर कानून को लागू करने के लिए दबाव डाला जाए।

v) बंबई के देह-बाजार से लौटी महिलाओं को समुचित शिक्षा और रोजगार अिदया जाए।

vi) महिलाओं के प्रति सारे भेदभाव तत्काल रोके जाएँ।

vii) महिलाओं का अपमानजनक चित्रण करने वाले सारे विज्ञापनों पर रोक लगाई जाए।

viii) अश्लील साहित्य और फिल्मों की बिक्री और प्रदर्शन पर रोक लगाई जाए।

जरा सोचिए 2

बलात्कार क्या व्यक्तिगत मनोविकार का फल है या इसका व्यापक संबंध पुरुषों द्वारा महिलाओं पर अधिकार की मानसिकता से है?

हिंसा के खिलाफ इस आंदोलन से यह मतलब कतई नहीं है कि नेपाल में महिला आंदोलन का सरोकार सिर्फ यही मुद्दा है। हम आंदोलन के दूसरे मुद्दों की ओर बढ़ें उससे पहले संक्षेप में यह जान लें कि देह-व्यापार नेपाल में इतनी बड़ी समस्या क्यों है। ऐसा अनुमान है कि भारत के वेश्यालयों में

लगभग 150,000 नेपाली लड़कियाँ और महिलाएँ हैं। मुंबई से लौटी कई महिलाओं को एड्स के एच आई वी विषाणु से बाधित पाया गया है। वहीं ऐसे कई मामले प्रकाश में नहीं आ पाए हैं।

क्या आप जानते हैं? 1

देह व्यापार की समस्या के मूल में गरीबी है। नेपाल की 70 प्रतिशत आबादी गरीबी की रेखा से नीचे जीवन-यापन कर रही है। उसके घरों की 70 प्रतिशत आमदनी कृषि क्षेत्र से होती है जिससे सिर्फ गुज़ारा भर हो पाता है। महिलाएँ अपने जीवन का 50 प्रतिशत समय और श्रम खेती बाड़ी में लगाती हैं तो जलावन की लकड़ी इकट्ठा करने में बड़े-बूढ़ों द्वारा लगाया जाने वाला 66 प्रतिशत समय महिलाओं से मिलता है।

वैसे भी गाँव प्रधान देशों में गरीब महिलाओं का जीवन कठोर और वंचनाओं से भरपूर है। उनके लिए हर दिन लंबे कठोर परिश्रम का होता है, जिसमें वे खेतों में काम करती हैं, चारा, जलावन की लकड़ी और पीने का पानी लाती हैं। पानी की कमी तो उनके सांस्कृतिक जीवन में भी प्रतिबिंबित होती है। एक नेपाली लोकगीत उनकी पीड़ा का मर्मस्पर्शी ढंग से बयान करता है, जिसका हिंदी रूपांतर इस प्रकार है :

मैं बिटिया सनोली गुड़िया
जल भरूँ तो कैसे
जो तो बैठ भरूँ
छोटी लागूं गगरिया से
जो तो उठ भरूँ गगरिया हाय दुखती कमरिया .....

नेपाली लोक कथाएँ और लोकगीत पानी को लेकर महिलाओं के ऐसे ही खट्टे मीठे अनुभवों से भरे हैं। महिला संगठनों ने जल स्रोतों के वाहक, उपयोगकर्ता और प्रबंधकर्ता के रूप में महिलाओं के महत्व को समझ लिया है। नेपाल के बोसोन गाँव के अध्ययन से पता चला है कि औसतन छः सदस्यों और दो पशुओं वाले एक परिवार को प्रति गगरी पानी लाने में 17 घंटे लग जाते हैं। घर की पानी की जरूरतों को पूरा करने के लिए परिवार के एक सदस्य को पूरे समय इसी काम में लगे रहना पड़ता है। इसीलिए दूसरे दक्षिण एशियाई देशों के महिला संगठनों ने भी इस मुद्दे को उठा लिया है।

अनुभव से सीखें 2

कुछ लोक गीतों का संकलन करने का प्रयास करें जो महिलाओं की स्थिति बयान करते हों। इन गीतों को हमारे समकालीन समाज में महिलाओं की दशा से जोड़ने का प्रयास करें।

दक्षिण एशियाई देशों में अपेक्षतया नया परिवर्तन देखने में आया है जो कुछ देशों में अन्य से ज़्यादा है। यह है गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका, जो महिला विकास के साथ-साथ ऐसे मुद्दों को भी उठाने लगे हैं, जिन्हें अभी तक महिला आंदोलन उठाया करता था। इस तरह इन संगठनों और महिला आंदोलन के बीच खासकर बांग्लादेश जैसे कुछ एक देशों में एक घनिष्ठ संबंध विकसित हो गया है। उदाहरण के लिए नेपाल में जुलाई 1992 में नेपाली स्वयंसेवी संगठन वीमेन इन द एन्वायरनमेंट (पर्यावरण में महिलाएँ) ने दीदी वाहिनी नाम से एक अनूठी परियोजना आरंभ की। दीदी वाहिनी एक आदर्श प्रशिक्षण कार्यक्रम है जिसका लक्ष्य नेतृत्व विकास और प्रबंध प्रशिक्षण के ज़रिए महिला स्वयंसेवी संगठनों को मजबूत बनाना है। यह परियोजना सैद्धांतिक मुद्दों का समाधान ही नहीं तलाशती है बल्कि करनी पर भी विशेष जोर देती है। परियोजना के दौरान निम्न प्रकार की क्षमताएँ विकसित की जाती हैं : 1) मिशन का ब्यौरा लिखना; 2) बोर्ड विकास, 3) कार्यक्रम मूल्यांकन, 4) स्वयंसेवियों का उपयोग, 5) धन जुटाना, 6) सामरिक योजना, 7) प्रस्ताव लेखन और 8) कम्प्यूटर और अंग्रेज़ी में प्रशिक्षण।

8.4 श्रीलंका में महिला आंदोलन

भारत की तरह श्रीलंका में भी 19वीं और 20वीं सदी के आरंभ में विभिन्न प्रकार के संघर्ष हुए। इन संघर्षों में मुख्यत: दो वर्ग शामिल थे। पहला वर्ग था बागानों (प्लांटेशन), शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने वाली महिलाओं का, जो आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों के लिए मेहनतकश वर्ग द्वारा छेड़े गए संघर्ष में शामिल हुआ। दूसरा वर्ग था मध्यम वर्गीय महिलाओं का, जिसने मध्यम-वर्ग के पुरुषों और अन्य वर्गों के साथ बराबरी का दरजा पाने के लिए अभियान चलाया। इन महिलाओं ने मौजूदा समाज में आमूल-चूल परिवर्तन की माँग की। महिलाओं की शिक्षा को प्रसार मिला तो पेशेवर मध्यम वर्गीय महिलाओं, खासकर चिकित्सकों और शिक्षकों, के एक वर्ग का उदय हुआ। इससे बीसवीं सदी के पहले के दशकों में महिलाओं में राजनीतिक चेतना बढ़ी। उनमें से कई राष्ट्रवादी संगठनों और राजनीतिक दलों में शामिल हो गईं। वर्ष 1927 में अनेक मध्यम वर्गीय और पेशेवर महिलाओं ने वीमेंस फ्रैंचाइज यूनियन (महिला मताधिकार यूनियन) का गठन किया। इनमें से कई महिलाएँ राष्ट्रवादी और श्रमिक नेताओं की पत्नियाँ थीं। फिर इसी वर्ष के दिसंबर में यूनियन ने एक आम सभा आयोजित की, जिसमें महिलाओं को मतदान का अधिकार देने की माँग की गई। अंतत: 1931 में डोनोमोर संवैधानिक सुधार आयोग ने 21 वर्ष की उम्र से ऊपर की महिलाओं को मताधिकार दे दिया।

क्या आप जानते हैं? 2

शिक्षा ने महिलाओं में बढ़ती जागरूकता को मुख्यत: राजनीतिक और मताधिकारों की लड़ाई में मोड़ा। समाज-कल्याण की ओर भी महिलाएँ सजग थीं। ऐसा ही एक मुद्दा था दहेज, जिसके विरोध में एक आंदोलन उठाया गया। इस बुराई को समाप्त करने की पहली और आखिरी कोशिश 1938 में डा.ए.पी.डी. जोयसा ने की थी। उन्होंने विधानमंडल में दहेज लेने और देने को कानूनन अवैध बनाने का प्रस्ताव रखा था। मगर उनका प्रस्ताव सिर्फ एक मत से खारिज हो गया।

8.4.1 श्रमिक वर्ग का संघर्ष

मध्यम वर्ग के आंदोलनों के बीच में ही मेहनतकश वर्ग के संघर्ष ने भी जन्म लिया। एटॉर्नी जनरल (महाअधिवक्ता) ने 1916 में महिलाओं को श्रम अध्यादेश से मुक्त रखने का विरोध किया। उसकी दलील थी कि 'बागानों में काम कर रहे मज़दूर बड़े आदिम, असभ्य हैं और एक औरत उतनी ही परेशानी खड़ी कर सकती है जितनी कि एक आदमी।' उसके इस फूहड़ बयान से जनता भड़क उठी और वह सड़कों पर उतर आई। अंतत: 1922 में इस कानून को रद्द कर दिया गया। प्लांटेशन (चाय बागान) के क्षेत्र में पहली ट्रेड यूनियन 1931 में बनी। फिर 1945 के बाद इन चाय बागानों में मज़दूरी करने वाली कई तमिल महिलाएँ ट्रेड यूनियन आंदोलन में सक्रिय हुईं।

उससे पहले 1930 के दशक में क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों और समाजवादियों की एक यूथ लीग बनी। वर्ष 1933 में अफ़ीम की बिक्री के विरोध में औपनिवेशिक-विरोधी सूर्यामल आंदोलन शुरू हुआ। इस आंदोलन की सबसे ख्यात नाम सदस्य महिलाएँ ही थीं। कई महिला शिक्षकों और छात्राओं ने पीले सूरजमुखी के फूल को एक प्रतीक बनाया, जिसे उन्होंने ब्रिटिश अधिकारियों के सख्त विरोध के बावजूद भी सड़कों पर लोगों को बेचा।

समकालीन श्रीलंका लंबे समय से चल रहे हिंसक जातीय संघर्ष के दौर से गुजर रहा है। सो वहाँ के महिला आंदोलन भी इसी चिंता को स्वर दे रहे हैं। फेमिनिस्ट फोरम (नारी अधिकारवादी फोरम) ने 1996 में महिला दिवस में जो माँगे उठाईं वे हमें इसकी झलक दे देते हैं। महिलाओं के अधिकारों की रक्षा और उनके प्रोत्साहन के लिए समर्पित यह फोरम लिखता है : 'जातीय हिंसा के फलस्वरूप महिलाएँ जिन-जिन कष्टकारी बदलावों, खतरों और मुश्किलों का सामना कर रहीं हैं फोरम उसके

लिए बेहद चिंतित है। इस हिंसा में महिलाओं की भूमिका का बढ़ता सैन्यीकरण, युद्धरत इलाकों में महिलाओं के खिलाफ़ हिंसा की व्यापकता और सभी समुदायों की महिला शरणार्थियों की विशाल संख्या, ये सब हमें इस संघर्ष का समाधान शांतिपूर्ण और न्यायोचित तरीकों के जरिए करने की माँग उठाने के लिए विवश कर रहे हैं। फोरम किसी भी पक्ष द्वारा संघर्ष के समाधान के लिए हिंसा के तरीकों के इस्तेमाल का विरोधी है। यह (तमिलों के स्व-शासन) हस्तांतरण पैकेज में अंतर्निहित खामियों को स्वीकारते हुए भी उसका समर्थन करता है और सभी पक्षों को आह्वान करता है कि वे रचनात्मक वार्ता में शामिल हों जिससे यह पैकेज बिना किसी देरी के लागू किया जा सके।'

यहाँ उल्लेखनीय है कि महिला आंदोलन चाहे वे बांग्लादेश में हों, श्रीलंका में हों, या पाकिस्तान में हों या भारत में, सभी अलगाववादी हिंसा के विरोधी हैं। इसके बजाए वे एक व्यापक एकता के पक्षधर हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि सांस्कृतिक या साम्प्रदायिक पहचान के नाम पर जो भावनाएँ भड़कायी जाती हैं उनकी शिकार सबसे अधिक महिलाएँ ही बनती हैं।

8.4.2 श्रीलंकाई महिलाओं के सरोकार के महत्वपूर्ण मुद्दे

जो दूसरे महत्वपूर्ण मुद्दे श्रीलंकाई महिलाओं ने उठाए हैं उनके बारे में नीचें बताया जा रहा है।

राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन में सहभागिता

यूँ तो श्रीलंका में राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के पद तक महिलाएँ जा पहुँची हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन में महिलाओं को इतना ही अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त है। बल्कि न्याय-पालिका के ऊँचे पायदानों में वे कहीं नजर नहीं आती हैं और प्रांतीय परिषदों और स्थानीय समितियों में उनका प्रतिनिधित्व नगण्य है।

समान नागरिक कानून

श्रीलंकाई महिलाओं को अपने-अपने जातीय या धार्मिक समुदायों के कानून मानने पड़ते हैं। खासकर विवाह, तलाक, बच्चे के संरक्षण का अधिकार, उत्तराधिकार इत्यादि के मामलों में।

राष्ट्रीयता

मौजूदा श्रीलंकाई कानूनों का कठोर और नारी विरोधी प्रभाव नागरिकता की परिभाषा में नज़र आता है। जिन श्रीलंकाई महिलाओं के पति विदेशी मूल के हैं उनके बच्चों को श्रीलंका की नागरिकता नहीं मिलती और उनके पतियों को रोज़गार भी नहीं दिया जाता। दूसरी ओर उन श्रीलंकाई पुरुषों पर यह कानून लागू नहीं होता, जिनकी पत्नियाँ विदेशी मूल की हैं।

महिलाओं के प्रति हिंसा को रोकने के लिए कानून

हालांकि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने महिलाओं के प्रति हिंसा की छानबीन और उसके निवारण के लिए जो विशेष संवक्ता (Special Rapporteur) नियुक्त किया था, उसने अपनी सिफारिशों में पारिवारिक हिंसा को रोकने के लिए स्थानीय कानून बनाने की जरूरत बताई थी। मगर श्रीलंका की सरकार ने इस दिशा मे फेमिनिस्ट कोई कदम नहीं उठाया। फेमिनस्टि फोरम का कहना है कि परिवार में वैवाहिक बलात्कार, और कौटुम्बिक व्यभिचार जैसी यौन हिंसा को रोकने वाले कानून नदारद हैं या अपर्याप्त हैं।

गर्भपात के कानूनों में सुधार

श्रीलंका में गर्भपात अभी भी वर्जित है। इसके फलस्वरूप सामाजिक या आर्थिक रूप से कमजोर महिलाओं को गर्भपात के लिए अवैध तरीकों का सहारा लेना पड़ता है, जिससे उनका स्वास्थ्य ही नहीं बल्कि जीवन भी खतरे में पड़ता है।

vi) परिवार की परिभाषा में बदलाव

श्रीलंका में परिवारों के कई रूप हैं। उत्तर और दक्षिण में जारी जातीय हिंसा, स्थानीय और अंतरराष्ट्रीय व आर्थिक बदलावों के चलते ऐसे घरों की संख्या बढ़ती जा रही है जिन्हें महिलाएँ चला रही हैं क्योंकि जातीय हिंसा के चलते पुरुष भारी संख्या में या तो गायब हो गए हैं या मर गए हैं। इस सबके बावजूद देश के कानून और नीतियाँ अभी भी यही मानकर बनाए, चलाए जा रहे हैं कि महिलाएँ प्रजनन और बच्चों के पालन-पोषण के दायरे में ही सिमटी हैं।

vii) लैंगिकता का अधिकार

लैंगिकता (सेक्सुएलिटी) के मुद्दे शेष दक्षिण एशियाई देशों की तरह श्रीलंका में भी बड़े नाजुक और जटिल हैं। ब्याहने और माँ बनने के सामाजिक और पारिवारिक दबाव के मूल में नारी सतीत्व और कौमार्य की परंपरागत धारणाएँ हैं। राज्य की नीतियाँ इन्हीं सांस्कृतिक परिपाटियों पर बनाई गई हैं, जिनमें अनब्याही महिलाओं और माताओं को कोई अधिकार नहीं हैं।

viii) गरीबी का स्त्रीकरण

आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण के मद्देनज़र देश में ढाँचागत समायोजन के प्रयासों के चलते अन्य देशों की तरह श्रीलंका में भी गरीबी का स्त्रीकरण हुआ है। चूँकि महिलाएँ ज्यादातर अनौपचारिक क्षेत्र में घरवास आधारित उत्पादन और औपचारिक क्षेत्र में सबसे निचले पायदान पर हैं, सो आर्थिक नीति में होने वाला किसी भी तरह का परिवर्तन या उतार-चढ़ाव उन्हें सबसे ज्यादा प्रभावित करता है। इसमें तब कोई संदेह नहीं रह जाता जब राज्य की नीतियाँ इस धारणा पर चल रही हों कि महिलाएँ अपने पुरुषों की आमदनी में कुछ और जोड़ने के लिए ही कुछ कमाती हैं।

ज़रा सोचिए 3

गरीबी का स्त्रीकरण और महिलाओं के प्रति हिंसा जैसी समस्याओं का समाधान क्या सिर्फ कानून बनाने से हो सकता है?

ix) महिला कामगार

पिछले दशकों में श्रीलंका में महिला श्रमिकों की संख्या काफ़ी बढ़ गई है, मगर देश के कानून उनकी समस्याओं, सरोकारों का निवारण करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। जैसे, काम की परिस्थितियाँ, संगठित होने का अधिकार, या औद्योगिक श्रमिकों के लिए जरूरी न्यूनतम मानकों का क्रियान्वयन।

x) महिलाएँ और मीडिया

रूढ़ियों को चुनौती देने या उन्हें बढ़ावा देने दोनों में मीडिया की महती भूमिका है। इसे देखते हुए फेमिनिस्ट फोरम ने अंग्रेज़ी अखबारों के उन प्रयासों को सराहा है जो उन्होंने महिलाओं के नज़रिए को अपने पाठकों तक पहुँचाने के लिए किए हैं। मगर वहीं फोरम यह भी कहता है कि तमिल और सिंहली समाचार-पत्र महिलाओं को अलोचनात्मक फोरम प्रदान करने से कतराते हैं।

xi) महिलाओं के लिए स्वास्थ्य सुरक्षा

स्वास्थ्य सेवाओं और पोषण स्तर में गिरावट का सबसे बुरा असर महिलाओं पर पड़ा है। इसलिए महिला आंदोलन की माँग रही है कि महिलाओं के पोषण स्तर को उन्नत करने के लिए शासकीय और सामुदायिक उपाय किए जाएँ, जननात्मक रुचि (रिप्रोडक्टिव चॉइस) यानी बच्चे जनने या न जनने का अधिकार महिलाओं को दिया जाए और परिवार नियोजन के लिए तमाम विधियों की पूरी जानकारी महिलाओं को दी जाए, एच आई वी/ एड्स निवारण और उपचार में स्त्रीजाति के प्रति संवेदनशीलता (जेंडर सेन्सिटिविटी) बढ़ाई जाए और एच आई वी/ एड्स जाँच में गोपनीयता की गारंटी दी जाए।

क्या आप जानते हैं?

श्रीलंका में स्वयंसेवी संगठन

हमने देखा है कि महिला अधिकारों के लिए महिला स्वयंसेवी संगठनों ने बढ़-चढ़कर अभियान, आंदोलन चलाए हैं। श्रीलंका में भी यही हुआ है। मगर श्रीलंका में कुछ नए बदलावों को लेकर वहाँ के स्वयंसेवी संगठन बड़े चिंतित हैं जिनसे उनकी स्वायत्तता पर असर पड़ा है। उनकी इस चिंता में महिला स्वयंसेवी संगठन भी शामिल हैं। श्रीलंकाई सरकार ने स्वैच्छिक समाज सेवा संगठन अधिनियम में कुछ विशेष संशोधन पेश किए हैं। वर्ष 1980 में बने मूल अधिनियम में राज्य को स्वयंसेवी संगठनों के कार्यालयों को तलाशने और उनकी बैठकों में हिस्सा लेने का अधिकार है। सरकार नए संशोधनों के जरिए और अधिकार पाना चाहती है, जिसका महिला स्वयंसेवी संगठन जमकर विरोध कर रहे हैं।

दक्षिण एशिया में चल रहे विभिन्न महिला आंदोलनों के वृतांत में हमें एक आम सरोकार नज़र आता है। यह है पूरे समाज के लोकतांत्रिक अधिकारों की दिशा में एक संगठित प्रतिबद्धता। इसलिए आपने देखा होगा कि नेपाली महिला आंदोलन, जिसका उल्लेख हमने आरंभ में किया है, नेपाल में हुई लोकतांत्रिक प्रणाली की पहली-पहली शुरुआतों को प्रतिबिंबित करता है। आप यह देखेंगे की दूसरे आंदोलनों की धुरी भी यही सरोकार है।

8.5 पाकिस्तान में महिला आंदोलन

पाकिस्तान में महिला आंदोलन दोहरे एजेंडे पर काम कर रहा है। एक ओर यह महिलाओं और विकास से जुड़े नाना प्रकार के मुद्दों का व्यावहारिक समाधान तलाशता है और उन पर शोध करता है। दूसरी ओर यह वैधानिक और राजनीतिक सुधारों के लिए सरकार से पैरवी करता है। शेष उपमहाद्वीप की तरह, औपनिवेशिक शासन को समाप्त करने के लिए हुए आंदोलन में पाकिस्तान की महिलाओं ने भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। 1936 के प्रगतिशील आंदोलन में महिलाओं ने शिक्षा, संपत्ति और मताधिकार जैसे अपने मौलिक अधिकारों के लिए आवाज उठाई थी। यह उसी दौर की बात है, जब हिजाज ने नारा दिया था, "तुम्हारे सिर का दुपट्टा सुंदर लगता है, इसकी खूबसूरती और बढ़ जाए अगर तुम इसे अपना परचम बना लो।"

जैसा कि एक पाकिस्तानी महिला विद्वान लिखती हैं : "अलग पाकिस्तान के आंदोलन में महिलाओं ने सचमुच अपने दुपट्टे उतार उन्हें परचम बना लिया था। पाकिस्तानी आंदोलन ने महिलाओं को एक लक्ष्य के लिए मिल-जुलकर काम करने का मौका दिया– यह बात अलग है कि यह लक्ष्य राष्ट्रवादी था।" वह आगे लिखती हैं कि यह वह दौर था जब कराची में हुई आम सभा में औरतों ने बड़ी तादाद में हिस्सा लिया था। मगर इसके विपरीत आज के पाकिस्तान में बेपर्दा महिलाओं का सड़क पर उतर कर राज्य के खिलाफ प्रदर्शन या विरोध करना अनुचित और गरिमा के खिलाफ माना जाता है।

पाकिस्तान का निर्माण होते ही, वहाँ दो महिला संगठन बने। एक था वीमेन्स नेशनल गार्ड जिसकी स्थापना बेगम राणा लियाकत अली खान ने की थी। दूसरा संगठन था वीमेन्स वोलुन्टरी सर्विस (महिला स्वयं सेवा)। उस समय भारत से आए लाखों शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्या सबसे गुरुय थी। अब चूँकि सेवा और देखभाल को महिलाओं का प्राकृतिक दायित्व समझा जाता रहा है, इसलिए संगठनों में इन के इस काम को लेकर कहीं कोई आपत्ति नहीं उठी। यही संगठन आगे चलकर आल पाकिस्तान वीमेन्स एसोसिएशन बना, जिसने कल्याण और समाज सुधार के दायरे में रहकर महिलाओं के स्वास्थ्य, शिक्षा और पारिवारिक कानूनों से जुड़े मुद्दों को उठाया।

8.5.1 पाकिस्तानी महिलाएँ और लोकतंत्र

पाकिस्तान में महिलाओं का पूरी तरह से राजनीतिक सबसे पहला संगठन डेमोक्रेटिक वीमेन्स ऑर्गनाइजेशन (लोकतांत्रिक महिला संगठन) था। यह संगठन मूलत: मध्यम वर्गीय महिलाओं का था, जो ऐसे परिवारों की थीं, जिनका नाता वामपंथी राजनीति से था। लोकतांत्रिक महिला संगठन ने समान काम के लिए समान वेतन, यातायात की सुविधाओं और कामगारों के लिए बुनियादी सुविधाओं के साथ-साथ अ-सैन्यीकरण और शांति के मुद्दों को उठाया।

क्या आप जानते हैं? 4

वर्ष 1955 में संयुक्त लोकतांत्रिक मोर्चा (यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट) महिलाओं के अधिकारों की लड़ाई के लिए बनाया गया। इस संगठन की स्थापना बेगम नसीम जहां ने की थी और इसका मुख्य केंद्र कानूनी सुधार था। इस लड़ाई को ऑल पाकिस्तान वीमेन्स एसोशिएसन ने भी आगे बढ़ाया और कानूनी सुधार के लिए एक आयोग गठित करने की संयुक्त माँग उठाई गई। अंतत: इस आयोग का गठन हुआ और इसकी सिफ़ारिशों के आधार पर 1961 का पारिवारिक कानून अध्यादेश जनरल अयूब खाँ के शासनकाल में जारी किया गया।

सरकार और संविधान सभा में महिलाओं को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने की मांग उठाई गई। बेगम जहांआरा शाहनवाज़ ने महिलाओं को कम से कम 10 प्रतिशत प्रतिनिधित्व दिए जाने की माँग की। वर्ष 1956 के संविधान में महिलाओं के प्रतिनिधित्व के अधिकार को मान्यता मिली और उन्हें दो वोट दिए गए। मगर ऐसा व्यवहार में कभी नहीं हुआ। इसके कई वर्षों बाद 1980 के दशक में वीमेन्स एक्शन फोरम ने दोहरे वोट की माँग दोहराई। इस दोहरे वोट के पीछे यह विचार था कि महिलाओं को एक वोट आम चुनावों में देने का अधिकार हो और दूसरे वोट से उन्हें राष्ट्रीय संसद और प्रांतीय असेम्बिलियों में प्रतिनिधित्व का अधिकार मिल सके। शिक्षा और दूसरे अवसर महिलाओं की पहुँच से बाहर होने के कारण दोहरे वोट को महिलाओं को अधिकार सम्पन्न बनाने या उनके सशक्तीकरण की दिशा में एक सकारात्मक कदम माना गया। इसका लक्ष्य महिलाओं को राजनीति में समता के सिद्धांत पर आगे आने के लिए बढ़ावा देना था। महिलाओं की शिक्षा के लिए सिर्फ महिलाएँ ही वोट देंगी और महिला उम्मीदवारों को वोट सिर्फ महिलाएँ ही देंगी, जिससे जिम्मेदारी सुनिश्चित हो सके। इसके मूल में यही विचार था। मगर दुर्भाग्यवश 1956 के संविधान के तहत पाकिस्तान में कभी चुनाव नहीं हुए और इस दोहरे वोट के अधिकार का सपना अधूरा रह गया।

8.5.2 पाकिस्तान में महिलाओं के अधिकार

जब 1958 में जनरल अयूब खाँ ने फौजी शासन लगाया तो देश में सभी राजनीतिक गतिविधियों पर पाबंदी लग गई। फिर 1964 में फातिमा जिन्ना जब अयूब खाँ के खिलाफ चुनाव मैदान में उतर पड़ीं तो तत्काल सार्वजनिक पदों के लिए खड़ा होने के महिलाओं के अधिकारों पर सवाल उठाए जाने लगे। इधर जमात-ए-इस्लामी ने सार्वजनिक कार्यक्षेत्र में महिलाओं की भूमिका पर प्रश्न उठाए, तो उधर पाकिस्तान के मुल्ला मौलवियों ने फातिमा जिन्ना का समर्थन किया। मगर इस समर्थन के पीछे उनके अपने राजनीतिक हित थे। अयूब खाँ की तानाशाही के खिलाफ जब देशव्यापी आंदोलन छिड़ गया तो इसमें भी महिलाएँ अग्रणी रहीं।

अपने अनुभव से सीखें 3

सामाजिक-लिंग समानता के लिए लोकतंत्र क्या तानाशाही से अधिक सहायक और प्रेरक है? इस विषय पर अपने साथी छात्रों के साथ चर्चा कीजिए।

फिर 1970 के दशक में दौर आया जुल्फीकार अली भुट्टो के शासन का जिसमें महिलाओं को प्रगतिशील उपायों की दिशा में आगे बढ़ने का कुछ मौका मिला। संविधान-निर्माता समिति में दो

महिलाओं को शामिल किया गया, जो शुरू से ही नीति-निर्माण स्तर पर सक्रिय रहीं। संविधान 1973 के 25वें और 27वें अनुच्छेद में यह कहा गया था कि लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा।

जनरल जिआ उल हक के फौजी शासन के दौरान (1977-1988) महिलाओं द्वारा की गई उन्नति को नकारने और इस्लामी कानूनों की आड़ में उन्हें दूसरे दर्जे का नागरिक बनाने के प्रयास हुए। इस दौर में महिलाएँ भारी तादाद में आंदोलन में शरीक हो गईं। वे सरकारी संरक्षण में उठाए गए इस्लामीकरण आंदोलन के निहितार्थों को समझने मे जुट गईं। इस धार्मिक अभियान की आड़ में महिलाओं के लिए आर्थिक और दूसरे अवसरों के द्वार बंद किए जा रहे थे। प्रगतिशील अधिकारों की दिशा में महिलाओं के प्रयासों को रोकने के लिए हदूद अध्यादेश और सबूती कानून बनाए गए। फिर 1981 में इस्लामी कानून के तहत सौ कोड़ों की सजा फहमिदा अल्लाह बक्श को दी गई, तो महिलाओं को लगा कि अब अगर उन्होंने विरोध नहीं किया तो उनका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। यह वह दौर था जब देश में सभी लोकतांत्रिक ताकतों का दमन किया जा रहा था और विरोध, असंतोष की कोई आज़ादी नहीं थीं। इन हालातों में भी महिलाओं ने हिम्मत नहीं हारी, वे संगठित होकर आवाज उठाने लगीं। इसी आवाज का नाम पड़ा महिला एक्शन फोरम।

एक्शन फोरम ने महिलाओं के अधिकारों के लिए ही आवाज नहीं उठाई बल्कि इसने फौजी तानाशाही को भी अपने आंदोलन का निशाना बनाया और लोकतंत्र बहाली की माँग की। फोरम ने 1973 के संविधान को बहाल करने की माँग की और ज़ोर देकर कहा कि सिर्फ चुने हुए जनप्रतिनिधियों को ही कानून बनाने का अधिकार है। अल्पसंख्यकों के अधिकारों और लोकतांत्रिक स्वतंत्रता के लिए लड़ने वाले लोगों व संगठनों को फोरम ने खुला समर्थन दिया। छात्रों, वकीलों, सांस्कृतिक संगठनों और प्रगतिशील राजनीतिक दलों के कुछ कार्यकर्ताओं ने फौजी शासन और तानाशाही के खिलाफ एक संयुक्त मोर्चा बनाया।

महिलाओं के लिए अलग विद्यालय की स्थापना और दर्शकों वाले खेल-कूदों में महिलाओं की भागीदारी पर रोक लगाने जैसे कई सरकारी महिला विरोधी काररवाइयों का महिला एक्शन फोरम ने विरोध किया। महिला एक्शन फोरम की स्थापना के वर्षों में सिंध के देहात में महिलाओं ने लोकतंत्र बहाली आंदोलन में हिस्सा लिया। इस आंदोलन के समाप्त होने पर महिलाओं ने सिंधियाणी तहरीक के नाम से एक जन-संगठन बनाया, जिसका जनाधार देहात था। सिंधियाणी तहरीक ने शिक्षा, स्वास्थ्य और मादा शिशु हत्या जैसे ज्वलंत मुद्दों को उठाया। यही नहीं उसने 'करो कारी' जैसे जघन्य कृत्यों के खिलाफ भी आवाज उठाई जिसमें सामंती प्रथाओं से मुँह मोड़ने वाले पुरुषों और महिलाओं को जान से मार दिया जाता है।

पहचान पत्रों पर धार्मिक पहचान के प्रकटन के सवाल को भी महिला आंदोलन ने उठाया और पासपोर्ट के फार्म पर कादियानिस की निंदा की। धार्मिक अल्पसंख्यकों के अधिकारों की बात उठाई गई। सरकार ने अश्लीलता-विरोधी विधेयक लाने का प्रयास किया तो महिला आंदोलन ने इसका विरोध किया। यह विधेयक लोगों के निजी जीवन में सीधा सरकारी हस्तक्षेप था। यह विधेयक पुलिस को 'अनैतिक गतिविधियों का पता लगाने के लिए किसी भी घर में बिना वारंट तलाशी लेने का अधिकार देता था। यह निजी जीवन की स्वतंत्रता पर एक कुठाराघात था। पाकिस्तान के महिला आंदोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि इन संघर्षों के बिना देश में हालात हर स्तर पर बदतर हो गए होते। हालांकि ऐसे कानूनों को न तो बदला गया और न ही उनकी जगह नए कानून बनाए गए, लेकिन महिला आंदोलनों के दबाव में इन्हें लागू भी नहीं किया जा सका है। हदूद अध्यादेश के तहत तय की गई सजा भी किसी को नहीं दी जा सकी है और यह सब महिला आंदोलन की मजबूती के चलते ही संभव हुआ है। अपने ऐतिहासिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में पाकिस्तान का महिला आंदोलन एक परिवर्तनकारी शक्ति रहा है।

8.6 बांग्लादेश में महिला आंदोलन

अभी तक आप एक हद तक उन तमाम मुद्दों के बारे में जान गए होंगे जिन्हें इस क्षेत्र के महिला आंदोलन समय-समय पर उठाते रहे हैं। आपने यह भी देखा होगा कि महिला आंदोलन एक व्यापक दर्शन लेकर चलते हैं! चाहे वह देश श्रीलंका हो, या पाकिस्तान, नेपाल हो या भारत, महिला आंदोलन हमेशा से अल्पसंख्यकों समेत सभी के लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए लड़ते आए हैं। तमाम प्रचलित धारणाओं के विपरीत महिला आंदोलनों के पास एक न्यायप्रिय सामाजिक व्यवस्था का दर्शन है जो सिर्फ आर्थिक या पारिवारिक दायरे तक सीमित नहीं है। बल्कि जिसका आधार यह समेकित समझ है कि किस तरह आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और पारिवारिक कारक एक दूसरे से बंधे हैं। महिलाओं की स्थिति और उनकी भूमिका को ये सब कारक तय करते हैं।

यही दूर दृष्टि हमें बांग्लादेश के महिला आंदोलनों के वृतांतों में नज़र आती है। दूसरे देशों की तरह यहाँ भी हमारा वृतांत बांग्लादेश के महिला आंदोलनों के दस्तावेज़ों पर आधारित है। ऐसा ही एक दस्तावेज़ इस प्रकार शुरू होता है :

"तीसरी दुनिया और दक्षिण एशिया का एक सबसे गरीब, पिछड़ा और पराश्रित देश होते हुए भी बांग्लादेश एक गुट-निरपेक्ष, स्वतंत्र और लोकतांत्रिक देश है। लोकतंत्रीकरण का बुनियादी सिद्धांत यही है कि सभी नागरिकों के अधिकारों को आदर और गारंटी मिले चाहे वे किसी भी लिंग, जाति या धर्म के हों। नागरिक अधिकारों को हासिल करना भी महिला आंदोलनों का पहला और मुख्य उद्देश्य है।"

8.6.1 महिलाएँ और मुक्ति आंदोलन

इस पर हम पीछे ही चर्चा कर चुके हैं। भारत और अन्य देशों की तरह बांग्लादेश की महिलाओं ने भी अपने देश के मुक्ति आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। आज बांग्लादेश की महिलाएँ कई मुद्दों पर लड़ रही हैं। कभी ये मुद्दे राजनीति, अर्थव्यवस्था, संस्कृति से तो कभी वर्गों और पेशों से संबंधित समस्याओं से जुड़ी रहती हैं।

ज़रा सोचिए 4

इस दिशा में महिला आंदोलन की संभावित भूमिकाएं क्या हो सकती हैं?

लोकतांत्रिक अधिकार अकेले कहाँ तक सामाजिक-लिंग समानता ला सकते हैं? महिला संगठनों ने इन मुद्दों पर काम किया है :

- संविधान में घोषित समान अधिकारों को हासिल करना। सरकार को राष्ट्रसंघ के कन्वेंशन को पूरी तरह से अनुमोदित करना चाहिए और उसे लागू करने के लिए कदम उठाने चाहिए।
- कानूनों में सुधार।
- कामगार महिलाओं की मजदूरी में अंतर, मातृत्व अवकाश, गत्ते में बढोत्तरी, नियुक्ति पत्र जारी करना, अनिवार्य ओवर टाइम, कार्यस्थलों पर दूधमुँहे बच्चों के लिए शिशु सदन, छंटनी, आवास, हॉस्टल और संचार, ट्रेड यूनियन संबंधी दूसरी समस्याएँ।

इन संगठनों ने ये माँगें उठाई हैं :

i) कृषि में महिलाओं के श्रम को मान्यता दी जाए।

ii) घर में महिलाओं के श्रम को आर्थिक मायनों में मान्यता मिले।

पारिवारिक हिंसा, हत्या, बलात्कार, दहेज, तेजाब फेंके जाने, असुरक्षा, बाल विवाह, महिलाओं का वस्तु की तरह उपभोग और महिलाओं पर होने वाले अन्य प्रकार के अत्याचारों के खिलाफ अलग-अलग

महिला संगठन और संयुक्त महिला फोरम दोनों संघर्ष कर रहे हैं। नर्सों, स्त्री-रोग विशेषज्ञों, गारमेंट उद्योग श्रमिकों के संगठनों के साथ-साथ वेश्या परिषद भी अपनी माँगों के लिए लड़ रहे हैं। ये माँगें इस प्रकार हैं :

i) संविधान में दिए गए महिलाओं के समान अधिकारों को जीवन के (सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक) सभी क्षेत्रों में कानूनन स्थापित किया जाए। इसके लिए उन तमाम कानूनों को बदलना जरूरी है जो मौलिक संवैधानिक अधिकारों का हनन करते हैं।

ii) रोजगार में महिलाओं को विशेष लाभ देने के लिए कानून बनाए जाएँ जिससे समाज में उनकी हैसियत बढ़े। संसद में महिलाओं के लिए आरक्षित सीटों के लिए सीधा चुनाव हो।

iii) महिला कामगारों और श्रमिकों के साथ-साथ नर्सों, महिला शिक्षकों, अधिकारियों, क्लर्कों, चिकित्सकों, इंजीनियरों की समस्याओं पर ध्यान दिया जाए ताकि वे हॉस्टल, यातायात सुविधा, मातृत्व अवकाश, किराया भत्ता, इत्यादि लाभ ले सकें। महिलाओं और पुरुषों के लिए वेतन समान हो।

iv) फिल्म, टेलीविज़न, समाचार पत्रों आदि मीडिया में महिलाओं को भोग की वस्तु के रूप में चित्रित करने पर रोक लगाई जाए। इसके साथ-साथ प्रतिक्रियावादी (कठमुल्लाओं आदि) ताकतों के महिलाओं पर तमाम तरह की पाबंदियाँ लगाने के प्रयासों का विरोध किया जाए।

v) राजनीतिक दलों का महिलाओं पर एक सुस्पष्ट एजेंडा हो और निर्णय प्रक्रिया में वे और अधिक महिलाओं को शामिल करें।

बांग्लादेश में महिला आंदोलन 'फतवा जैसे घृणित कार्य' के खिलाफ भी आवाज उठा रहा है, 'जो कई वर्षों से बेरोकटोक चल रहा है क्योंकि सरकार की ओर से इन्हें रोकने के लिए कोई कारवाई नहीं की जाती।' महिला आंदोलन ने हर जिले को चुनाव क्षेत्र घोषित करने की माँग भी की है। आरक्षित सीटों को इस तरह से बदला जाए कि आम चुनावों में महिला उम्मीदवार सीधे जनता द्वारा चुनी जाएं। हर चुनाव क्षेत्र में हर मतदाता को दो वोट देने होंगे। एक वोट सामान्य सीट के उम्मीदवार के लिए, दूसरा महिलाओं के लिए आरक्षित सीट के लिए।

8.6.2 पेयजल के लिए आंदोलन

आपको नेपाल में पीने के पानी की समस्या और छोटी लड़कियों की दुःखभरी कहानी याद होगी कि उन्हें किस तरह अपने से बड़ी गगरी में पानी लाना पड़ता है। बांग्लादेश में भी यह एक घोर समस्या है। इस समस्या को बांग्लादेश के महिला संगठनों ने खूब उठाया है, जिसमें नेशनल एसोसिएशन फॉर रिसोर्स इंप्रूवमेंट ('नारी' यानी राष्ट्रीय संसाधन विकास एसोसिएशन) जैसा संगठन भी शामिल है। वर्ष 1993 में बांग्लादेश की महिलाओं ने महिला व पर्यावरण पर एक कार्यशाला आयोजित की, जिसमें उन्होंने इस विषय पर एक टास्क फोर्स बनाया। इस टास्क फोर्स के अनुसार, "हमने पानी को हमारा मुख्य सरोकार माना। हमने भारत से कहा कि गंगा के पानी के बंटवारे की समस्या दोनों देशों के लिए चिंता का कारण है।" उन्हें यह एहसास हो चला है कि "पानी का देश या देश में पानी" के रूप में जाना जाने वाला उनका देश जब प्यास से तड़पेगा तो उसका सबसे ज्यादा असर महिलाओं पर ही पड़ेगा।

'नारी' के अनुसार ऐसी कार्यशालाओं का उद्देश्य सिर्फ महिला, गरीबी, पर्यावरण और विकास के बीच रिश्तों को परिभाषित करना ही नहीं था। बल्कि 'बांग्लादेश में एक-दूसरे के साथ मिलकर काम करना और महिला विकास व पर्यावरण के क्षेत्र में क्षेत्रीय सहयोग की संभावनाओं की तलाश करना' भी था। टास्क फोर्स ने भारत और बांग्लादेश के बीच पानी के बंटवारे की समस्या को महत्वपूर्ण माना है और पानी के बंटवारे के लिए महिलाएँ नामक संगठन की स्थापना की। इस संगठन ने आगे चलकर पानी के बंटवारे के लिए लोगों की पहल (पीपुल्स इनिशिएटिव फार वाटर शेयरिंग) का बड़ा रूप ले लिया, जिसमें भारत, बांग्लादेश, नेपाल और भूटान के नागरिक संगठन शामिल हैं।

महिला आंदोलनों के दस्तावेजों से जो एक विशेष बात बड़े जोर से उभर कर सामने आती है वह है महिला अधिकारों को हासिल करने में लोकतंत्रीकरण की भूमिका के बारे में जागरूकता। महिला आंदोलन का तर्क है कि "नागरिक अधिकारों को हासिल करना महिला आंदोलन का पहला और मुख्य उद्देश्य है।"

8.7 भारत में महिला आंदोलन

अब हम इस इकाई के अंतिम भाग पर आते हैं। आपमें से कई ने भारत में महिला आंदोलनों के विषय में पढ़ा होगा। जिन्होंने इसे नहीं पढ़ा है संभवत: वे भी भारत में घटे घटनाचक्र से परिचित होंगे। शेष उपमहाद्वीप की तरह राजनीतिक आंदोलनों में महिलाओं की भागीदारी देश के औपनिवेशिक शासन विरोधी संघर्षों से शुरू हुई। भारत में 19वीं सदी में हुए समाजिक सुधार आंदोलन ने महिलाओं की दयनीय स्थिति को उठाया। हालांकि इसका मुख्य सरोकार स्वर्ण हिंदू महिलाओं की समस्याएं थीं जैसे: सती, बाल-विवाह, विधवाओं से दुर्व्यवहार, विधवा विवाह पर रोक। परंतु आंदोलन ने जन साधारण का ध्यान महिला मुद्दों की ओर खींचा। इसका परिणाम यह रहा कि राष्ट्रवादी आंदोलन को ये सरोकार या मुद्दे विरासत में मिले।

क्या आप जानते हैं?

यह माना जाता था कि महिलाएं अगर शिक्षित और आधुनिक भारतीय नागरिकों की माँ की भूमिका निभाने में सक्षम हो जाएं तभी भारतीय समाज प्रगति कर सकेगा। मगर यह कहना गलत होगा कि राष्ट्रीय आंदोलन ने महिलाओं को सिर्फ आधुनिक शिक्षित पत्नियां और माँ बनने को सीखा दी थी। आंदोलन का सबसे बड़ा योगदान यह था कि इसने महिलाओं को सार्वजनिक कर्म क्षेत्र में उतारा था।

इस आंदोलन के दौरान दो तरह की लामबंदी हो रही थी। एक तरफ राष्ट्रीय आंदोलन की ओर मध्यम वर्ग की महिलाएँ आकर्षित हो रही थीं। गांधी जी के असहयोग आंदोलन ने हजारों साधारण ग्री महिलाओं को सड़कों पर ला उतारा। दूसरी ओर किसान और मेहनतकश वर्ग की महिलाएँ साम्यवादी आंदोलन की अगुवाई में जुझारू संघर्षों में भागीदारी कर रही थीं। फिर स्थानीय स्तर पर जनजातीय और किसान आंदोलन भी चल रहे थे जिनका संगठन और नेतृत्व दोनों स्थानीय थे। सार्वजनिक कार्यक्षेत्र में महिलाओं का उतरना एक ऐसी प्रक्रिया थी जिसे बदला नहीं जा सकता था। आधुनिक भारत में अब सार्वजनिक जीवन में महिलाओं की उपस्थिति निश्चित थी। कुछ हद तक यह इस क्षेत्र में महिला प्रधानमंत्रियों की उपस्थिति का कारण बना हालांकि ये सभी महिलाएँ अभिजात्य और महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवारों की थीं।

8.7.1 स्वतंत्रता के बाद की गतिविधियाँ

स्वतंत्रता के बाद महिला आंदोलन अपेक्षतया ठंडा पड़ गया। दरअसल यह सोचा जा रहा था कि एक स्वतंत्र सरकार मिल जाने के बाद राष्ट्र का विकास और पुनर्निर्माण किया जाएगा। सो महिलाओं की समस्याओं को भी राज्य दूर करेगा। पाकिस्तान की तरह यहाँ भी नामी महिला नेता शरणार्थियों के पुनर्वास और राहत कार्यों में जुट गईं। इनमें से कई विकास कार्यों से भी जुड़ीं। अखिल भारतीय महिला कान्फ्रेंस जैसे महिला संगठन सक्रिय बने रहे तो इस बीच अविभाजित भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े राष्ट्रीय भारतीय महिला फेडरेशन जैसे संगठनों का भी उदय हुआ। मगर महिला आंदोलन में वह सक्रियता नहीं रही जो स्वतंत्रता से पहले हुआ करती थी।

लेकिन साठवें दशक के आते-आते इसमें काफी बदलाव आ गया। विकास की प्रक्रिया से हुए मोहभंग से ट्रेड यूनियन और किसान आंदोलनों को जन्म दिया। महिलाओं ने इन आंदोलनों में महती भूमिका

निभाई। गहराते आर्थिक संकट और जन आंदोलनों के राजनीतिक दमन के चलते अंततः 1975 में देश में आपातकाल (इमरजेंसी) की घोषणा कर दी गई। भारत के इतिहास में यह महत्वपूर्ण मोड़ था।

भारतीय राजसत्ता द्वारा लोकतांत्रिक अधिकारों के हनन का विरोध करने के लिए एक व्यापक जनांदोलन हुआ। मानवाधिकार एक महत्वपूर्ण मुद्दा बन गए। उनके साथ-साथ महिला-अधिकारों का मुद्दा भी उठा। एक तरफ पुराने राजनीतिक दलों और उनके महिला संगठनों ने अपनी गतिविधियों को तेज कर दिया। जैसे भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन की घटक अखिल भारतीय जनवादी महिला संघ ने महिलाओं की लड़ाई में नेतृत्व की भूमिका निभाई। दूसरी ओर अनेक स्वतंत्र महिला संगठन भी महिलाओं के मुद्दों को लेकर सड़कों पर उतर आए। मथुरा नाम की एक नाबालिग लड़की के साथ बलात्कार के कुकृत्य ने आग में घी का काम किया। सारे देश में महिला संगठन न्याय और पुरातन बलात्कार कानूनों को बदलने की मांग करने लगे। महिला कामगारों के लिए समान मज़दूरी, मातृत्व अवकाश, काम की परिस्थितियाँ, पारिवारिक कानून जैसे पुराने मुद्दों के साथ अब हिंसा का मुद्दा भी आ जुड़ा। अभी कुछ ही समय पहले राजस्थान विश्वविद्यालय में हुए एक सामूहिक बलात्कार कांड की आपको जानकारी होगी कि राजनीतिक दलों ने इस कांड को दबाने के लिए किस तरह के हथकंडे अपनाए और किस दृढ़ निश्चय से महिला आंदोलन ने न्याय की लड़ाई लड़ी। इस बलात्कार कांड का दोषी एक मंत्री का रिश्तेदार है जो अभी तक कानून की पकड़ से बाहर है। इस उदाहरण से आपको यह एहसास हो गया होगा कि महिला आंदोलन के लिए अपनी बात समाज तक पहुंचाना कितना कठिन है।

8.7.2 स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका

आप अक्सर यह सुना करते होंगे कि महिला कार्यकर्ता वे लोग हैं जो बड़े अभिजात्य व संपन्न हैं और आम भारतीय के जीवन की कठोर सचाईयों से जिनका दूर तक कोई नाता नहीं है। मगर सचाई यही है कि जब दहेज और बहूदाह की विकराल समस्या हमारे सामने खड़ी हो तो उसकी लड़ाई महिला आंदोलन ही लड़ता है। यह उन्हीं के प्रयासों का फल है कि कानूनों और राज्य के संस्थागत बंदोबस्त में सकारात्मक परिवर्तन हुए हैं। पुलिस तंत्र में महिला सेल इसी आंदोलन के दबाव के फलस्वरूप ही अस्तित्व में आए हैं।

अन्य देशों की तरह भारत में भी कुछ वर्षों से स्वयंसेवी संगठनों का उदय हुआ है जो सामान्य विकास कार्यों और महिला विकास के लिए काम कर रहे हैं। मगर महिला आंदोलन के लिए यह जरूरी है कि अपनी विशिष्ट राजनीतिक पहचान बनाए रखे ताकि वह एक स्वयंसेवी संगठन की तरह न बन जाए। दक्षिण एशियाई देशों जैसे गरीब समाजों के लिए स्वैच्छिक क्षेत्र की मौजूदगी जरूरी है जो आम लोगों की जरूरतों जैसे पीने का पानी, या गरीब महिलाओं को कर्ज की सुविधा इत्यादि समस्याओं का समाधान निकालने में मददगार हों। मगर इसके साथ महिला आंदोलन भी उतना ही जरूरी है जो उन तमाम तरीकों को एक व्यापक नजरिए से देख सके जिनसे अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था आम आदमी के जीवन पर प्रभाव डालती है। उदाहरण के लिए स्वयंसेवी संगठनों द्वारा महिलाओं को जनन स्वास्थ्य सेवाएँ सुलभ कराना ही पर्याप्त नहीं (जैसा कि अंतरराष्ट्रीय सहायता संगठनों ने एजेंडा तय किया है)। मगर एक शक्तिशाली महिला आंदोलन भी उतना ही जरूरी है जो विश्व अर्थव्यवस्था और राष्ट्रीय नीतियों द्वारा हमारे समाज की समस्याओं और विशेष रूप से महिलाओं की समस्याओं के लिए तय किए गए एजेंडों का विश्लेषण करे, उन पर सवाल उठाए और जरूरत पड़ने पर उनका विरोध भी करे।

अनुभव से सीखें 4

उन लोगों और विशेषकर महिलाओं से मिलिए जो 1975-77 के दौरान जवान थे। क्या आपातकाल सामाजिक-लिंग समानता के विरुद्ध था? अपनी नोटबुक में कुछ नोट लिखिए।

8.8 सारांश

आपने यह इकाई पढ़ी होगी, तो आपको यह बात जरूर नज़र आई होगी कि महिला आंदोलनों का फलक बड़ा व्यापक है। हम आपको दक्षिण एशिया के समकालीन महिला आंदोलनों की मुख्य विशेषताएँ बताएँगे। इस क्षेत्र को औपनिवेशिक शासन के खिलाफ हुए राजनीतिक संघर्ष मे महिलाओं की सक्रिय भागीदारी की विरासत मिली है। सार्वजनिक जीवन में मध्यमवर्गीय महिलाओं का एक अपना निजस्थान है। औपनिवेशिक शासन विरोधी आंदोलन के साथ ही दक्षिण एशिया में मेहनतकश वर्गों और किसानों के जुझारू आंदोलनों की समृद्ध परंपरा रही है जिसमें महिलाओं ने भागीदारी की थी। इस क्षेत्र को विरासत में प्रगतिशील आंदोलनों की परंपरा भी मिली है, जो महिला आंदोलन के इस संकल्प में प्रतिबिंबित होती है कि वह एक पंथ निरपेक्ष सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए लड़ेगा। महिला आंदोलन एक वृहद पंथ निरपेक्ष और लोकतांत्रिक दर्शन लेकर चलते हैं। वे बढ़ती धार्मिक कट्टरता और जातीय उग्र-राष्ट्रवाद का विरोध कर रहे हैं। महिला अधिकारों के लिए लोकतंत्र और सभी के लिए समान अधिकारों चाहे वे अल्पसंख्यक हों या बहुसंख्यक की लड़ाई जरूरी है। वे क्षेत्र के विभिन्न देशों में चल रहे महिला आंदोलनों के बीच सहयोग और एकता की जरूरत को समझते हैं। अब स्वयंसेवी संगठन ज्यादा से ज़्यादा ऐसी परियोजनाएँ चला रहे हैं, जिनका उद्देश्य महिलाओं की दशा को सुधारना और उन्हें अधिकार संपन्न बनाना है ताकि वे उन निर्णयों को अपने हाथ में ले सकें जिनसे उनका जीवन प्रभावित होता है। यहाँ यह दोहराना जरूरी है कि स्वयंसेवी संगठनों और महिला आंदोलनों के बीच सहयोग आवश्यक है मगर वहीं यह बेहद जरूरी है कि दक्षिण एशिया का मानव समाज महिला आंदोलनों को स्वतंत्र रहने दे। अंततः भारत और दूसरे दक्षिण एशियाई देशों के महिला आंदोलनों द्वारा उठाए जा रहे मुद्दों में भारी समानता देखकर आपको आश्चर्य जरूर हुआ होगा। यही समानताएँ उपमहाद्वीप की महिलाओं को संयुक्त कारवाई और सांझा एजेंडे का आधार देती हैं।

8.9 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

स्वायत्ता	:	किसी कानूनी या सांस्कृतिक हस्तक्षेप के बिना स्वतंत्र रहकर कार्य करने की योग्यता और सामर्थ्य।
औपनिवेशिक	:	किसी एक राष्ट्र द्वारा किसी दूसरे राष्ट्र पर राजकीय नियंत्रण और प्रभुता।
सहभागिता	:	किसी भी योजना या कार्यक्रम में हर स्तर और हर तरीके से हिस्सेदारी।
स्थिति	:	सामाजिक ढांचे में किसी विशेष भूमिका या स्थिति से मिलने वाली प्रतिष्ठा और मान्यता।

8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अग्रवाल, बीना (1994) *ए फील्ड ऑफ वन्स ओन : जेंडर एंड लैंड राइट्स इन साउथ एशिया*. नई दिल्ली : ओक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

इकाई 9 विश्वस्तरीय बहस : मुद्दे और रुझान

रूपरेखा

9.0 लक्ष्य और उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 सामाजिक-लिंग समानता की ओर विश्वस्तरीय प्रयास

- 9.2.1 सामाजिक-लिंग समानता पर पहल
- 9.2.2 अंतरराष्ट्रीय महिला सम्मेलन
- 9.2.3 महिलाओं के लिए प्राथमिकता के प्रसंग समानता, विकास और शांति

9.3 नैरोबी और बेइजिंग सम्मेलन

- 9.3.1 नैरोबी सम्मेलन और आशावादी कार्यनीतियाँ
- 9.3.2 बेइजिंग सम्मेलन के उद्देश्य
- 9.3.3 कार्य मंच और बेइजिंग घोषणा पत्र
- 9.3.4 बेइजिंग सम्मेलन में भारत की देशीय रिपोर्ट

9.4 बालिका

- 9.4.1 बाल अधिकारों की दिशा में विश्वस्तरीय प्रयास
- 9.4.2 बालिका : परिस्थितिगत विश्लेषण
- 9.4.3 दक्षेस देशों में बालिका की स्थिति
- 9.4.4 भारत में बालिका

9.5 सारांश

9.6 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

9.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.0 लक्ष्य और उद्देश्य

इस इकाई में हमने सामाजिक-लिंग समानता पर विश्वस्तरीय बहस को अपनी चर्चा का विषय बनाया है। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप :

- अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक-लिंग समानता के लिए चल रहे प्रयासों के बारे में बता सकेंगे,
- महिलाओं पर महत्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय दस्तावेजों मसलन नैरोबी सम्मेलन की आशावादी रणनीतियाँ और कार्यमंच और बेइजिंग घोषणा पत्र के मुख्य प्रसंगों पर रोशनी डाल सकेंगे,
- बेइजिंग सम्मेलन में भारत की भूमिका के बारे में बता सकेंगे, और
- दक्षेस देशों में बालिका से जुड़े मुद्दे और समस्याओं पर चर्चा कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आपको सामाजिक-लिंग समानता पर चल रही विश्वस्तरीय बहस के बारे में बताया गया

है। पहले वर्ष 1975 को अंतरराष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया गया और उसके तुरंत बाद 'महिला दशक' की घोषणा हुई। तभी से सामाजिक-लिंग समानता से जुड़े मुद्दों, संकल्पनाओं और कार्य विधियों पर दुनिया भर में बहस की जा रही है और उसकी पैरवी की जा रही है। इन बहसों का सबसे महत्वपूर्ण प्रतिबिंब हमें महिलाओं पर आयोजित होने वाले विभिन्न अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों में मिलता है। इकाई के अनुभाग 2.2 में इन मुद्दों के बारे में बताया गया है। अगले अनुभाग में नैरोबी और बेइजिंग में राष्ट्र संघ के तत्वावधान में हुए अंतरराष्ट्रीय महिला सम्मेलनों और उनके परिणामों के बारे में विस्तार से जानकारी दी गई है। उसके बाद बेइजिंग सम्मेलन में भारत की भूमिका पर संक्षेप में चर्चा की गई है। इकाई के आखिरी भाग में हमने अंतरराष्ट्रीय स्तर पर और दक्षेस देशों में बालिका की समस्याओं के बारे में जानकारी दी है क्योंकि बालिका के सभी सरोकार महिलाओं से जुड़े हैं।

9.2 सामाजिक-लिंग समानता की ओर विश्वस्तरीय प्रयास

इकाई के इस भाग में हम आपको सामाजिक-लिंग समानता के बारे में विशेषकर महिलाओं पर हुए अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों के माध्यम से समझाएँगे। इसमें हम प्राथमिकता की थीमों पर विशेष ध्यान देंगे।

9.2.1 सामाजिक-लिंग समानता पर पहल

सामाजिक-लिंग समानता को पहली बार 1945 में राष्ट्र संघ में एक मौलिक अधिकार का दर्ज़ा मिला। जैसा कि इकाई में बताया गया है, अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार के संदर्भ में 'सामाजिक-लिंग समानता' की वैधानिक अवधारणा सार्वजनीन मानवाधिकार घोषणा पत्र (1948) और महिलाओं के प्रति हर प्रकार के भेदभावों के उन्मूलन कनवेंशन (कनवेंशन ऑन द एलिमिनेशन ऑफ ऑल फार्म्स ऑफ डिसक्रिमिनेशन अगेन्स्ट वीमेन, 1979) में प्रतिस्थापित है। महिलाओं के सामने आने वाली रुकावटों और उनसे बरते जाने वाले भेदभावों को विश्व समुदाय का ध्यान आकर्षित करने और इनमें बदलाव लाने के लिए राष्ट्र संघ ने 1975 को अंतरराष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया। इसी वर्ष राष्ट्र संघ ने मैक्सिको शहर में अंतरराष्ट्रीय महिला वर्ष पर एक विश्व सम्मेलन भी बुलाया।

महिलाओं के मुद्दों के बढ़ते अंतरराष्ट्रीय महत्व को देखते हुए राष्ट्र संघ की महासभा ने 1976-1985 को 'राष्ट्र संघ महिला दशक : समानता, विकास और शांति' घोषित किया। इसे इतिहास की भूलों को सुधारने के एक अंतरराष्ट्रीय प्रयास की शुरुआत बताया जाता है। महिला वर्ष और महिला दशक ने मिलकर महिलाओं के सरोकारों, विशेषकर सामजिक-लिंग समानता, विकास प्रक्रिया में पूर्ण भागीदारी और शांति के प्रसार को अंतरराष्ट्रीय एजेंडे में सबसे ऊपर रखा। महिला दशक के कुछ ठोस दूरगामी परिणाम निकले। इनमें से एक था पूर्णत: महिलाओं के कल्याण के लिए समर्पित राष्ट्र संघ के दो निकायों का गठन। ये हैं यूनिफेम (राष्ट्र संघ महिला कोष) और इनस्ट्रॉ यानी अंतरराष्ट्रीय महिला उत्थान अनुसंधान और प्रशिक्षण संस्थान)। यूनिफेम महिलाओं के लाभ के लिए नूतन विकास गतिविधियों के लिए आर्थिक सहायता देता है, तो इनस्ट्रॉ महिलाओं के उत्थान के लिए अनुसंधान और प्रशिक्षण संबंधी क्रिया-कलापों में लगा है। महिला भेदभाव उन्मूलन कनवेंशन (1979) का अपनाया जाना महिला समानता के मार्ग में एक मील का पत्थर साबित हुआ। यह सरकारों को महिलाओं के सम्पूर्ण विकास और उत्थान के लिए समुचित उपाय करने के लिए प्रतिबद्ध बनाता है ताकि पुरुषों से समानता के आधार पर उन्हें भी मानवाधिकारों और मौलिक स्वतंत्रताओं के प्रयोग और उनका लाभ उठाने की गारंटी मिले (महिला भेदभाव उन्मूलन कनवेंशन, राष्ट्र संघ जून 1996)।

राष्ट्र संघ महिला दशक की उपलब्धियों की समीक्षा के लिए 1985 में नैरोबी में बुलाए गए विश्व-सम्मेलन के साथ महिला दशक का समापन हुआ। तभी से महिलाओं के मुद्दों को मुख्यधारा में लाने

और उन्हें हर स्तर पर सभी मुद्दों की धुरी बनाने के प्रयास चल रहे हैं। राष्ट्र संघ के पर्यावरण और विकास सम्मेलन (रियो डी ज़ेनेरो, 1992), विश्व मानवाधिकार सम्मेलन (वियाना, 1993), अंतरराष्ट्रीय जनसंख्या एवं विकास सम्मेलन (काहिरा, 1994), विश्व सामाजिक विकास शिखर सम्मेलन -(कोपेनहेगन, 1995) और चौथा विश्व महिला सम्मेलन (बेइजिंग, 1995) जैसे तमाम विश्वस्तरीय सम्मेलनों ने महिलाओं के सरोकारों को अंतरराष्ट्रीय एजेंडे का एक हिस्सा बना दिया है।

9.2.2 अंतरराष्ट्रीय महिला सम्मेलन

राष्ट्र संघ ने महिलाओं पर कई विश्व सम्मेलन आयोजित किए हैं। पहला सम्मेलन मैक्सिको शहर में 1975 में हुआ था जिसमें 6000 महिलाओं ने भाग लिया। उन्होंने समानता, विकास और शांति के लिए काम करने का संकल्प लिया, जो महिलाओं पर आयोजित होने वाले सभी आगामी अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों का मुख्य थीम बने रहे हैं। इस सम्मेलन ने महिलाओं के उत्थान के लिए पहली विश्व कार्ययोजना प्रस्तुत की। सरकारों और गैर- सरकारी संगठनों के लिए कार्रवाई का यह एक ब्लू प्रिंट था। इसने राष्ट्रीय कार्रवाई, अंतराष्ट्रीय सहयोग और शांति के मुख्य कार्यक्षेत्र निर्धारित किए। ये हैं : राजनीतिक सहभागिता, शिक्षा और प्रशिक्षण, स्वास्थ्य और पोषण, परिवार, जनसंख्या, आवास, अनुसंधान और जनसंचार माध्यम। राष्ट्र संघ के तत्वावधान में दूसरा अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन 1980 में कोपेनहेगन में हुआ जिसमें 8000 महिलाओं ने हिस्सा लिया। यूं तो इस सम्मेलन के उपविषय रोज़गार, स्वास्थ्य और शिक्षा थे, लेकिन इसका आयोजन मुख्यत: महिला दशक के पूर्वार्द्ध में हुई प्रगति की समीक्षा और मूल्यांकन करने के लिए किया गया था। सम्मेलन ने महिला दशक के उत्तरार्ध 1976-85 के लिए एक कार्य योजना बनाई। तीसरे अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन कीनिया की राजधानी नैरोबी में 1985 में हुआ। इस सम्मेलन में 15000 महिला प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। सम्मेलन के अंत में भाग लेने वाले सभी देशों की सरकारों ने एकमत से सन् 2000 तक महिला उत्थान की आशावादी कार्यनीति को अंगीकार किया। यह जीवन के सभी क्षेत्रों में महिला के भविष्य निर्माण का ब्लू प्रिंट था। इसमें सन् 2000 तक महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए सरकारों और विश्व समुदाय के लिए विशेष कार्यक्षेत्रों की पहचान की गई थी। इस सम्मेलन के साथ ही महिला दशक का समापन हुआ। फिर वर्ष 1990 में महिलाओं की स्थिति पर गठित आयोग कमीशन ऑन द स्टैटस ऑव वीमेन ने नैरोबी आशावादी कार्यनीतियों के कार्यान्वयन की पंच-वर्षीय समीक्षा और मूल्यांकन किया। इसका परिणाम निराशाजनक निकला क्योंकि आयोग ने पाया कि विश्व के अनेक हिस्सों, खासकर विकासशील देशों में महिलाओं की स्थिति में प्रगति के बजाए और ह्रास आया है। महिलाओं के उत्थान और सामाजिक-लिंग समानता की राह में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए आयोग ने कई कदम उठाने की सिफारिश की। फिर सितंबर, 1995 में बेइजिंग में चौथा महिला विश्व सम्मेलन हुआ, जो अब तक के तमाम प्रयासों का चरम बिंदु था। 4 सितंबर से शुरू हुए इस सम्मेलन से पहले स्वयं सेवी संगठनों के मंच एनजीओ फोरम ने 30 अगस्त से 8 सितंबर, तक हूरैरू में एक विशद चर्चा रखी जिसमें लगभग 36,000 महिलाओं ने भाग लिया था। यह विशाल स्वतंत्र सम्मेलन समानता, विकास और शांति की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम माना गया। उधर बेइजिंग सम्मेलन में आशावादी कार्यनीतियों के कार्यान्वयन की समीक्षा और मूल्यांकन किया गया। इसके अंत में 'कार्यमंच' (प्लेटफार्म फॉर एक्शन) को अपनाया गया, जो विश्व के तमाम देशों में महिलाओं के उत्थान के लिए एक ब्लू प्रिंट है।

9.2.3 महिलाओं के लिए प्राथमिकता के प्रसंग : समानता, विकास और शांति

राष्ट्र संघ की महासभा ने 1975 को अंतरराष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित करते हुए यह सोचा था कि यह वर्ष पुरुषों और महिलाओं में समानता को बढ़ावा देने, विकास के प्रयासों में महिलाओं को जोड़ने और विश्व शांति को मज़बूत बनाने में महिलाओं के योगदान को बढ़ाने के लिए गहन प्रयासों को समर्पित होगा। सो सम्मेलन में आए कई प्रतिनिधियों ने खुद को समानता, विकास और शांति के विषय से जोड़ा। उन्होंने जोर देकर कहा कि ये तीन अंतरराष्ट्रीय बुनियादी सरोकार परस्पर जुड़े हैं और किसी

एक क्षेत्र में प्रगति शेष दो क्षेत्रों में होने वाली प्रगति से अभिन्न हैं। सो विकास व शांति के लिए समानता जरूरी है क्योंकि राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय असमानताएँ खुद की जड़ों को गहरा ले जाते हैं और तरह-तरह के तनावों को जन्म देते हैं। फलतः महिला दशक ने (1976-85) समानता, विकास और शांति की थीम को अपने शीर्षक का अंग बना लिया।

समानता लक्ष्य और माध्यम दोनों है जिसमें समाज के सभी सदस्यों के साथ कानून के तहत समान व्यवहार किया जाता है। इसमें उन्हें समान अधिकार और अपनी नैसर्गिक विद्याओं व कुशलता को विकसित करने के समान अवसर मिलते हैं ताकि वे सभी राष्ट्रीय राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास में भागीदारी कर सकें और इससे मिलने वाले परिणामों का लाभ ले सकें। महिलाओं के लिए समानता का मतलब है उन सभी अधिकारों की प्राप्ति, जिनसे उन्हें वंचित रखा गया है। विकास का मतलब है पूर्ण विकास। यानी मानव जीवन के सभी आयामों में विकास। आर्थिक और अन्य संसाधनों के साथ मानव जाति का शारीरिक, नैतिक, मानसिक और सांस्कृतिक विकास ही इस परिभाषा को पूरा करता है। विकास में महिलाओं की भूमिका समग्र सामाजिक और आर्थिक विकास से सीधे जुड़ी है। यह सभी समाजों के विकास के लिए बुनियादी जरूरत है। महिलाओं के लिए शांति राष्ट्रीय स्तर पर युद्ध, हिंसा और शत्रुतापूर्ण काररवाइयों के बंद हो जाने से ही कायम नहीं हो सकती है। बल्कि इसके लिए समाज के भीतर आर्थिक और सामाजिक न्याय, समानता और सभी मानवाधिकार और मौलिक अधिकारों की प्राप्ति भी उतनी ही जरूरी है (नैरोबी फारवर्ड-लुकिंग स्ट्रेटजीज फॉर द एडवांसमेंट ऑफ वीमेन, नैरोबी कीनिया, 1985, 7-8)।

यह तय हुआ था कि अंतरराष्ट्रीय महिला स्थिति आयोग इनमें से हर कार्यक्षेत्र के तहत सामाजिक प्रसंगों को चिन्हित करेगा, जिन पर अमुक वर्ष की सारी गतिविधियां केन्द्रित रहेंगी। प्राथमिकता की थीमों को 1991-96 से ही सूचीबद्ध किया गया है।

समानता के संदर्भ में इनमें से कुछ थीम इस प्रकार हैं : असुरक्षित महिलाएँ, विधिसम्मत या कानूनन और वस्तुगत अधिकारों में भेद, कानूनी साक्षरता, समान महत्व के कार्य के लिए समान वेतन और जनसंचार माध्यमों में सामाजिक-लिंग रूढ़ियों को बढ़ावा देने की प्रवृत्ति को रोकना। विकास के लिए थीमें इस प्रकार हैं : विकास नीतियों और नियोजन में महिलाओं को प्रभावशाली ढंग से जोड़ना, नितांत गरीब महिलाएँ, शिक्षा, साक्षरता और प्रशिक्षण को प्रोत्साहन, स्वास्थ्य और पोषण। अंत में 'शांति' के लिए सूचीबद्ध की गई थीमें हैं : शरणार्थी और विस्थापित महिलाएँ, परिवार व समाज में महिलाओं के खिलाफ होने वाली हिंसा का उन्मूलन (*वीमेन: चैलेंजेज टू द ईयर 2000*, राष्ट्र संघ, न्यू यार्क, 1991, 86-87)।

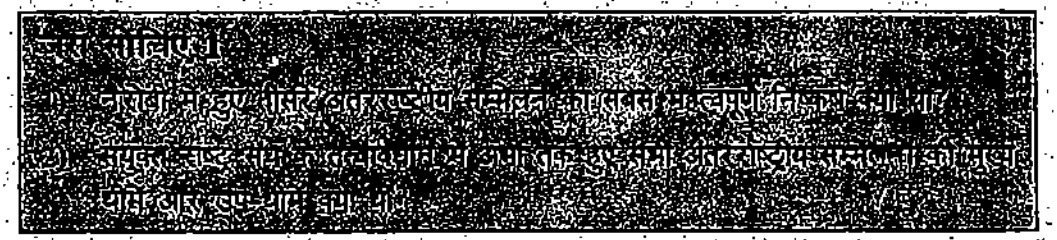

9.3 नैरोबी और बेइजिंग सम्मेलन

इकाई के इस भाग में हम नैरोबी और बेइजिंग में हुए सम्मेलनों के मुख्य दस्तावेजों के बारे में बताएँगे और बेइजिंग सम्मेलन में भारत की भूमिका की चर्चा भी करेंगे।

9.3.1 नैरोबी सम्मेलन और आशावादी कार्यनीतियाँ

राष्ट्र संघ के तत्वावधान में तीसरा अंतरराष्ट्रीय महिला सम्मेलन 15-26 जुलाई, 1985 को कीनिया की राजधानी नैरोबी में हुआ था। इसके साथ ही 'महिला दशक' का समापन भी हुआ। इस सम्मेलन ने 'नैरोबी आशावादी कार्यनीति' को अंगीकार किया जिसके बारे में आप यहाँ जानेंगे।

महिला उत्थान के लिए नैरोबी आशावादी कार्यनीतियों ने 1986 से 2000 तक की अवधि के दौरान सरकारों और अंतरराष्ट्रीय समुदाय द्वारा काररवाई के विशिष्ट कार्यक्षेत्रों का निर्धारण किया। यह दस्तावेज महिला दशक की बाधाओं को दूर करने और महिला उत्थान के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए ठोस उपाय बताता है। नैरोबी आशावादी कार्यनीति दस्तावेज महिलाओं की हैसियत पर अंतरराष्ट्रीय चिंता को दोहराता है। इसके साथ-साथ यह महिलाओं के उत्थान और सामाजिक-लिंग आधारित भेदभाव के उन्मूलन के लिए एक कार्यगत ढांचा प्रदान करता है ताकि अंतरराष्ट्रीय समुदाय एक नई प्रतिबद्धता के साथ इस दिशा में कार्य करें।

महिला दशक के आरंभ में यह आशा की जा रही थी कि तेज आर्थिक और औद्योगिक विकास इन देशों के आर्थिक और सामाजिक विकास में महिलाओं की भागीदारी को बढ़ाएँगे। नैरोबी महिला उत्थान आशावादी कार्यनीति दस्तावेज बताता है कि ये आशाएँ झूठी साबित हुई हैं। इसका कारण आर्थिक संकट के स्थायी बने रहना बल्कि उसका और गंभीर हो जाना है, विशेषकर विकासशील देशों में। इसका दुष्प्रभाव इन देशों की महिलाओं पर पड़ा है। इस दस्तावेज में राष्ट्र संघ महिला दशक के उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में हुई प्रगति और रुकावटों की समीक्षा और मूल्यांकन किया गया है। इसमें मूलभूत कार्यनीतियाँ और राष्ट्रीय स्तर पर इनके कियान्वयन के लिए उपाय दिए गए हैं।

9.3.2 बेइजिंग सम्मेलन के उद्देश्य

चौथा अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन 4-15 सितंबर, 1995, के बीच बेइजिंग में हुआ था। इससे पहले हूरैरू में 30 अगस्त से 8 सितंबर के बीच एनजीओ फोरम ने एक समानांतर सम्मेलन किया। बेइजिंग सम्मेलन के निम्न उद्देश्य थे :

1) वर्ष 2000 तक महिला उत्थान के नैरोबी आशावादी कार्यनीतियों के उद्देश्यों की रोशनी में 1985 से महिलाओं के विकास की समीक्षा और मूल्यांकन।
2) इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नीति निर्धारण और कार्यान्वयन के मूल-स्तर पर महिलाओं और पुरुषों को लामबंद करना।
3) दुनिया में महिलाओं की उन्नति में बाधाओं के रूप में पहचाने गए महत्वपूर्ण सरोकारों पर केन्द्रित एक कार्य मंच अपनाना।
4) संयुक्त राष्ट्र संघ सहित अंतरराष्ट्रीय समुदाय द्वारा महिलाओं के उत्थान के लिए 1996-2001 के बीच प्राथमिकता की कारवाइयों का निर्धारण।

9.3.3 कार्य मंच और बेइजिंग घोषणा पत्र

चौथे अंतरराष्ट्रीय महिला सम्मेलन ने 15 सितंबर, 1995 को बेइजिंग घोषणा पत्र और कार्य मंच (प्लेटफॉर्म फॉर एक्शन) अपनाया।

बेइजिंग घोषणा पत्र सम्मेलन में भाग ले रही सरकारों की तरफ से सभी महिलाओं के लिए समानता, विकास और शांति के लक्ष्यों की दिशा में काम करने का संकल्प करता है। यह महिलाओं की नानाविध चिंताओं को स्वीकारता है और यह भी मानता है कि इस दिशा में उन्नति हुई तो है मगर यह असमान है जबकि सारी विषमताएँ और बाधाएँ जस-की तस बनी हुई हैं। सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों ने संकल्प लिया कि वे सारे विश्व में महिलाओं के उत्थान और उनकी स्थिति में गुणात्मक सुधार लाने की दिशा में तमाम सीमाओं और बाधाओं को हटाने को प्रतिबद्ध हैं। प्रतिनिधियों ने स्त्रियों और पुरुषों के लिए समान अधिकार और मानवीय गरिमा की अपनी प्रतिबद्धता को दोहराया। साथ ही महिलाओं और बालिका के मानवाधिकारों के पूर्ण कार्यान्वयन को सुनिश्चित करने का संकल्प भी किया गया।

कार्य मंच (प्लेटफॉर्म फॉर एक्शन) में बयान, विश्वस्तरीय कार्यगत ढांचा, सरोकार के अतिमहत्वपूर्ण क्षेत्र, सामरिक उद्देश्य और काररवाई, संस्थागत और वित्तीय प्रबंधों से जुड़े अध्याय हैं। इसका

उद्देश्य महिला उत्थान के लिए नैरोबी आशावादी कार्यनीतियों का शीघ्र कार्यान्वयन और आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक निर्णय प्रक्रिया में पूर्ण और बराबर की साझेदारी के जरिए महिलाओं की सार्वजनिक और निजी जीवन के कार्यक्षेत्रों में सक्रिय भागीदारी में सारी बाधाओं का दूर करना है।"

यह कार्य-मंच काररवाई का एक एजेंडा है जिसका लक्ष्य सभी महिलाओं के मानवाधिकारों और मौलिक स्वतंत्रताओं को प्रोत्साहन देना और उनकी रक्षा करना है ताकि वे इन्हें सारे जीवन भोग सकें। यह कार्य-मंच बलपूर्वक कहता है कि महिलाओं के सरोकार समान हैं, जिनका समाधान सारे विश्व में सामाजिक-लिंग समानता के समान लक्ष्य की दिशा में मिल-जुलकर काम करके ही किया जा सकता है। यह महिलाओं की स्थिति-परिस्थितियों की विविधता को सम्मान और महत्व देता है और स्वीकार करता है कि कुछ महिलाओं को सशक्तिकरण में विशेष बाधाओं का सामना करना पड़ता है। यह कार्य-मंच एक शांतिपूर्ण, न्यायप्रिय और मानवोचित विश्व की रचना की दिशा में सभी से तत्काल और संगठित प्रयास करने का आह्वान करता है– एक ऐसा विश्व जो मानवाधिकारों और मौलिक स्वतंत्रता की नींव पर खड़ा हो। इसके लिए सरकारों, अंतरराष्ट्रीय संगठनों, संस्थाओं की ओर से जबरदस्त प्रतिबद्धता की जरूरत है (*प्लेटफॉर्म फॉर एक्शन एंड द बेइजिंग डिक्लेयेरेशन*, संयुक्त राष्ट्र संघ, फरवरी 1996, पृ. 1-30)।

क्या आप जानते हैं?

सरोकारों के अतिमहत्वपूर्ण क्षेत्र

प्लेटफार्म फॉर एक्शन यानी कार्य-मंच का मसौदा तैयार करने वाले सरोकार के 12 अतिमहत्वपूर्ण क्षेत्रों की सूची बनाई है जो महिलाओं के उत्थान में बाधक माने गए हैं। मौजूदा बाधाओं को हटाने के लिए यह कार्य-मंच सामरिक उद्देश्यों और कार्रवाइयों के बारे में बताता है जो सरकारों, अंतरराष्ट्रीय समुदाय, गैर-सरकारी संगठनों और निजी क्षेत्र द्वारा की जानी चाहिए।

- महिलाओं पर गरीबी का स्थायी और बढ़ता बोझ।
- स्वास्थ्य सुरक्षा और संबंधित सेवाओं, सुविधाओं में असमानताएँ और उनका अभाव और उन तक असमान पहुँच।
- महिलाओं के खिलाफ हिंसा।
- महिलाओं पर युद्ध और सशस्त्र संघर्षों का प्रभाव। इन महिलाओं में वे महिलाएँ भी शामिल हैं, जो विदेशी आधिपत्य में जी रही हैं।
- उत्पादन क्रिया-कलापों के सभी स्वरूपों में आर्थिक ढांचे, सत्ताधिकार और संसाधनों तक पहुँच में असमानता।
- सभी स्तर पर सत्ताधिकार और निर्णय प्रक्रिया में हिस्सेदारी में पुरुषों और महिलाओं के बीच असमानता।
- महिलाओं के उत्थान को बढ़ावा देने के लिए हर स्तर पर अपर्याप्त व्यवस्था।
- महिलाओं के अधिकारों के प्रति आदरभाव की कमी, उनको अपर्याप्त प्रोत्साहन और सुरक्षा।
- संचार माध्यमों में, विशेषकर मीडिया में महिलाओं का रूढ़िवादी चित्रण, उन तक उनकी असमान पहुँच और उनकी सहभागिता में असमानता।
- बालिका से निरंतर भेदभाव और उसके अधिकारों का हनन।

(*प्लेटफॉर्म फॉर एक्शन एंड द बेइजिंग डिक्लेयेरेशन*, संयुक्त राष्ट्र, फरवरी, 1995, 31-155)

9.3.4 बेइजिंग सम्मेलन में भारत की देशीय रिपोर्ट

बेइजिंग सम्मेलन दो स्तर पर आयोजित किया गया था– एक सरकारी और दूसरा स्वयं सेवी संगठनों के स्तर पर। मगर दोनों में भारत की भागीदारी प्रभावी थी।

इसके लिए भारत सरकार ने एक देशीय रिपोर्ट तैयार की और उसे बेइजिंग सम्मेलन में रखा। यह रिपोर्ट कोर ग्रुपों की सहायता और विविध मुद्दों पर देशव्यापी विचार-विमर्श से बनाई गई थी। इस रिपोर्ट में महिलाओं से जुड़े लगभग सभी महत्वपूर्ण मुद्दों को शामिल किया गया है। जैसे महिलाओं पर वृहत-आर्थिक नीतियों का प्रभाव, अत्यंत गरीबी में जी रही महिलाएँ, अर्थव्यवस्था में उनका योगदान, निर्णय प्रक्रिया में महिलाएँ, उनकी शैक्षिक और स्वास्थ्य संबंधी जरूरतें, कानूनी पहलू, महिलाओं के खिलाफ हिंसा, महिलाओं की स्थिति, महिला आंदोलन और भविष्य का परिप्रेक्ष्य।

कुल मिलाकर देशीय रिपोर्ट ने भारत में महिलाओं की दशा के अलावा उनकी हैसियत को ऊँचा उठाने में सरकार की सीमाओं और विकास के लक्ष्य से महिलाओं के सशक्तिकरण में उसके नज़रिए में परिवर्तन को रेखांकित किया है। नारी-अधिकार, शिक्षा, रोज़गार और स्वास्थ्य के क्षेत्र में भारत ने काफी प्रगति की है। संविधान में 1993 में हुए 73वें और 74वें संशोधन के बाद सभी ग्रामीण और शहरी स्थानीय राजनीतिक निकायों में 33 प्रतिशत सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित कर दी गई हैं। ऐसा अनुमान है कि सिर्फ देहात में इससे लगभग 10 लाख महिलाएँ इन स्थानीय निकायों की सदस्य और अध्यक्ष बनेंगी। इन सब उपलब्धियों के बावजूद रिपोर्ट स्वीकारती है कि कुछ विशेष महत्वपूर्ण क्षेत्रों में तत्काल ध्यान दिए जाने की जरूरत है। ये इस प्रकार हैं :

- महिलाओं के उत्थान के लिए अपर्याप्त संस्थागत कार्यप्रणाली।
- बालिका से स्थायी और संस्थागत भेदभाव।
- गरीबी का स्त्रीकरण।
- वृहत् आर्थिक नीतियों में सामाजिक-लिंग अज्ञानता।
- अर्थव्यवस्था और पर्यावरण रक्षा में महिलाओं के योगदान की उपेक्षा।
- निर्णय करने वाले ढाँचों और प्रक्रियाओं में महिलाओं की नगण्य भागीदारी।
- साक्षरता, शिक्षा और स्वास्थ्य में लिंग-जनित फासले।
- महिलाओं के प्रति हिंसा की बढ़ती घटनाएँ।
- वैधानिक अधिकारों को प्राप्त करने में महिलाओं के सामने आने वाली बाधाएँ।
- सामाजिक-लिंग आधारित सामाजिक नियम।
- जनसंचार माध्यमों (मीडिया) में महिलाओं का नकारात्मक चित्रण और लिंग-रूढ़िबद्ध धारणाओं का शाश्वतीकरण।

भारतीय देशीय रिपोर्ट और प्लेटफॉर्म फॉर एक्शन और बेइजिंग घोषणा पत्र के प्रति स्वयं-सेवी संगठनों की प्रतिक्रिया बड़ी तीखी और खुली रही है। भारत में स्वयं सेवी संगठनों के स्तर पर इस प्रक्रिया की शुरुआत इस उद्देश्य के लिए विशेष रूप से गठित इंटर-एजेंसी फेसीलिटेटिंग कमेटी फॉर बेइजिंग (यानी बेइजिंग के लिए अंतर-एजेंसी सुगमीकरण समिति) ने की, जोकि द्वि या बहुपार्श्वी दान दाता एजेंसियों और अंतरराष्ट्रीय स्वयं सेवी संगठनों का ग्रुप है। इस कमेटी ने बेइजिंग 95 समन्वय इकाई के लिए धन प्रदान किया, जिसका उद्देश्य स्वयं सेवी संगठनों को बेइजिंग सम्मेलन के लिए संगठित करना था। समन्वय इकाई का गठन दिसंबर 1993 में हुआ। इकाई ने दूर-दराज में सक्रिय संगठनों व कार्यकर्ताओं से संपर्क साधा ताकि उनसे विचार-विमर्श कर बेइजिंग सम्मेलन के लिए एजेंडा तय किया जाए। इसने राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्वयं सेवी और महिला संगठनों के साथ मिलकर

व्यापक, सामाजिक और राजनीतिक सहभागिता के लिए अभियान

सौजन्य : श्री.एस.आर., नई दिल्ली

एक नेटवर्क स्थापित किया। इस तरह इसने व्यापक-आधार वाली भागीदारी और सहयोग जुटाया और महिलाओं के सरोकारों और विभिन्न क्षेत्रों और परिस्थितियों में उनके जीवन को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण कारकों को चिन्हित किया। समन्वय इकाई ने मुद्दा आधारित कार्यशालाओं और सेमिनारों के आयोजन, इनमें ज़मीनी स्तर के या जन मूल-स्तरीय (ग्रासरूट्स) गुटों और स्वयं सेवी संगठनों की भागीदारी को सुगम बनाने, विभिन्न स्तरों पर जनसंपर्क और नेटवर्क बनाने के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय महिला सम्मेलन से संबंधित जानकारी और सामग्री का प्रचार करने का काम किया। समन्वय इकाई के अलावा कई महिला संगठनों, ग्रुपों और व्यक्तियों ने स्वयं इस दिशा में पहल की। इनमें से कुछ ने राष्ट्र संघ के प्रस्तावित प्लेटफॉर्म फॉर एक्शन के मसौदे की आलोचना की। उनका कहना था कि मसौदे में जो कुछ कहा गया था उसकी कोई जरूरत नहीं थी और जिसे बताए जाने की जरूरत थी उस पर मसौदा चुप था। मसौदे ने उन विषयों को भी कोई महत्व नहीं दिया था जिन्हें विशेष महत्व दिए जाने की जरूरत थी। देश के सात राष्ट्रीय महिला संगठनों ने बेइजिंग सम्मेलन के लिए एक वैकल्पिक दस्तावेज तैयार किया गया जिसमें उन तमाम महत्वपूर्ण मुद्दों को उठाया गया था जिन्हें अभी तक छुआ नहीं गया था। इस दस्तावेज का शीर्षक था टुवार्ड्स बेइजिंग-ए पर्सपेक्टिव फ्रॉम इंडियन वीमेंस मूवमेंट (बेइजिंग की ओर : भारतीय महिला आंदोलन का नज़रिया) जिसे बेइजिंग सम्मेलन से पहले प्रकाशित कर प्रचारित किया गया। यह पेपर भारत के कई महिला संगठनों और गुटों के बीच महिला सरोकार के अतिमहत्वपूर्ण मुद्दों पर आम सहमति को दर्शाता है। इस दस्तावेज पर फरवरी, 1995 में दिल्ली में एक सभा बुलाई गई। इस सभा में देश के अलग-अलग हिस्सों से आए 200 कार्यकर्ताओं ने भाग लिया, जिसमें इस दस्तावेज को अंतिम रूप दिया गया। यह

दस्तावेज महिलाओं की स्थिति का ब्योरा देता है मगर यह कोई स्थितिगत दस्तावेज नहीं है। बल्कि इसका एक सीमित उद्देश्य था– विश्व के विभिन्न देशों में सक्रिय अन्य महिला आंदोलनों और संगठनों को भारतीय महिला आंदोलन के कुछ सरोकारों से परिचित कराना। ये सरोकार इस प्रकार हैं :

- नई आर्थिक नीतियों, रूढ़िगत स्थायीकरण की नीतियों और ढांचागत समायोजन का महिलाओं पर प्रभाव
- महिला, स्वास्थ्य और जनसंख्या नीतियाँ
- महिला और शिक्षा
- साम्प्रदायिकता, धार्मिक कट्टरवाद और महिलाएँ
- भारत में महिलाओं पर हिंसा
- महिला और कानून
- महिला और मीडिया
- महिला और परिवार
- महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता।

इन सरोकारों के अलावा यह दस्तावेज कई और सिफारिशें करता है जैसे महिलाओं के लिए संसद, राजनीतिक पार्टियों, ट्रेड यूनियनों और अन्य संगठनों में आरक्षण जिससे हर स्तर पर उनकी राजनीतिक सहभागिता बढ़े, समान काम के लिए समान वेतन जैसे कानूनों का कठोर पालन, और चौदह वर्ष की उम्र तक नि:शुल्क और अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा के अधिकार को मौलिक अधिकारों में शामिल किया जाना (टुवार्ड्स बेइजिंग : ए पर्सपेक्टिव फ्रॉम द इंडियन वीमेंस मूवमेंट, नई दिल्ली, 1995)

जरा सोचिए-2

इस अनुभाग का ध्यान से पढ़िए। अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर रेखांकित और सरकार व स्वयंसेवी संगठनों के अतिमहत्वपूर्ण सरोकारों में आपको कोई तुलना नजर आती है?

9.4 बालिका

सामाजिक-लिंग समानता पर कोई भी बात, बहस बालिका की समस्याओं पर ध्यान दिए बिना अधूरी रह जाती है। इस अनुभाग में हम बाल अधिकारों की दिशा में चल रहे अंतरराष्ट्रीय प्रयासों के बारे में बता रहे हैं, और बालिका की स्थिति का विश्लेषण दे रहे हैं। इसके साथ-साथ दक्षेस क्षेत्र में बालिका के मुद्दों को किस तरह समझा जाता है यहाँ हम उसी के बारे में बता रहे हैं, जहाँ हमने भारत पर विशेष ध्यान दिया है।

9.4.1 बाल अधिकारों की दिशा में विश्वस्तरीय प्रयास

बच्चों के अधिकारों का हनन मानवाधिकारों का हनन है। बाल अधिकारों के हनन को प्रकाश में लाने के लिए राष्ट्र संघ मानवाधिकार आयोग ने एक विशेष संवक्ता नियुक्त किया जिसका दायित्व आयोग के लिए तथ्य जुटाना और उनका विश्लेषण करना था। अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार 15 वर्ष से कम उम्र के आठ करोड़ बच्चे मजदूरी कर रहे हैं। वेश्यावृत्ति में लगे 18 वर्ष से कम उम्र के बच्चों की संख्या 20 लाख से अधिक है जिनमें से 10 लाख एशिया मूल के हैं। मजदूरी और यौन शोषण के लिए अधिकांश बच्चों को समाज के कमजोर वर्गों से लिया जाता है।

बच्चों के उत्थान के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने दिसंबर 1946 में राष्ट्र संघ बाल कोष (यूनिसेफ) की स्थापना की, जो इस दिशा में पहला बड़ा कदम था। वर्ष 1948 में सार्वजनीन मानवाधिकार घोषणा पत्र और फिर 1966 में अपनाए गए इसके दो अंतरराष्ट्रीय प्रतिज्ञा पत्र (कवनेंट) ने यह माना कि बाल अधिकारों की रक्षा जरूरी है (इन दोनों प्रतिज्ञा पत्रों के बारे में आप पिछली इकाई में पढ़ चुके हैं। वर्ष 1959 का बाल अधिकार घोषणा पत्र राष्ट्र संघ का पहला दस्तावेज था जो पूर्णत: बच्चों के अधिकारों को समर्पित किया गया था। फिर 1975 में हुए महिलाओं के प्रति सभी प्रकार के भेदभावों के उन्मूलन कनवेन्शन (सीईडीएडब्ल्यू) और 1990 विश्व बाल शिखर सम्मेलन के घोषणा पत्र ने लड़कियों और महिलाओं के स्वास्थ्य, शिक्षा और रोजगार के समान अवसरों के अधिकारों को मान्यता दी। राष्ट्र संघ महासभा ने 1989 में बाल अधिकार कनवेंशन को अंगीकार किया। यह कनवेंशन आह्वान कहता है कि जीवित रहने, सुरक्षा और विकास के सभी अधिकार बच्चों के लिए भी लागू हों। इस कनवेंशन में बच्चे के यौन और आर्थिक शोषण से मुक्त रहने के अधिकार, अपना स्वतंत्र मत रखने के अधिकार, शिक्षा, स्वास्थ्य सुरक्षा और आर्थिक अवसर के अधिकार को स्थान दिया गया है। सितंबर 1995 तक 178 देशों ने इस कनवेंशन पर हस्ताक्षर कर दिए थे। कनवेंशन के तहत एक बाल अधिकार समिति गठित की गई है जिसका काम सरकारों को अपने कानूनों और प्रथाओं में इस संधि के अनुरूप परिवर्तन लाने में सहायता और उनकी काररवाइयों की निगरानी या मॉनीटर करना है।

भारत में बालिका : अत्यधिक बोझ ढोते हुए

सौजन्य : कपिल कुमार, इन्नू, नई दिल्ली

9.4.2 बालिका: परिस्थितिगत विश्लेषण

लड़कियों को जन्म लेने के समय से ही प्राय: हेय दृष्टि से देखा जाता है। लाखों लड़कियाँ ऐसे

दातावरण में बड़ी होती हैं जिसमें उन्हें उपेक्षा, काम के बोझ और तमाम तरह की प्रताड़नाओं का शिकार होना पड़ता है। सिर्फ इसलिए कि वे स्त्रीजात हैं। कई देशों में उन्हें अपने भाइयों से कम भोजन दिया जाता है, कठोर श्रम करने के लिए मजबूर किया जाता है, कम शिक्षा दी जाती है और उन्हें समान और चिकित्सा सुविधाएँ कम सुलभ रहती हैं। उनका विवाह कम उम्र में कर दिया जाता है और जल्दी व बार-बार गर्भधारण से उनका जीवन खतरे में रहता है। लगभग 8.6 करोड़ लड़कियों को प्राथमिक पाठशाला सुलभ नहीं है (यह संख्या लड़कों से 4.30 करोड़ अधिक है)। कोई 500 करोड़ बच्चे प्राथमिक पाठशाला में प्रवेश लेते हैं, जिनमें से 10 करोड़ बच्चे बीच में छोड़ देते हैं। इनमें से 60 प्रतिशत लड़कियाँ होती हैं। दुनिया के सौ करोड़ निरक्षर लोगों में तीन-तिहाई महिलाएँ हैं। शिक्षा का विशेष महत्व है क्योंकि शिक्षित या पढ़ी-लिखी महिलाएँ देर से विवाह करती हैं और बच्चे भी कम ही पैदा करती हैं। राष्ट्र संघ द्वारा 115 देशों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि जन्म के समय बच्चे की आयु संभाविता किसी अन्य कारक के बजाए माँ की साक्षरता या शिक्षा से अधिक जुड़ी है। माँ की शिक्षा शिशु मृत्युदर को कम करने और पारिवारिक स्वास्थ्य को सुधारने में भी सहायक है।

बहरहाल निरक्षरों की तादाद अधिक होने, जागरुकता और स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी के कारण लड़कियों को ही अधिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। भारत में हुए एक अध्ययन से पता चला है कि 57 प्रतिशत लड़कों को स्तनपान कराया जाता है जबकि स्तनपान करने वाली बालिकाओं की संख्या सिर्फ 30 प्रतिशत है। अफ्रीका में 75-95 प्रतिशत लड़कियों को लौह (आयरन की कमी से होने वाले अरकतता) एनीमिया यानी खून की कमी का रोग प्रभावित करता है। इस रोग के चलते 20 प्रतिशत मातृ मौतें होती हैं जिसका मतलब यह है कि 20 प्रतिशत गर्भवती महिलाएँ शिशु जनन के दौरान या उसके बाद मर जाती हैं। सारे विश्व में 15-19 वर्ष की लड़कियों की मृत्यु का मुख्य कारण गर्भावस्था के दौरान पैदा होने वाली जटिलताएँ हैं। गर्भावस्था और शिशु-जनन से जुड़े कारणों से मरने वाली पांच लाख महिलाओं में एक-चौथाई इन्हीं जटिलताओं के कारण अपना जीवन खो देती हैं। इनमें से 99 प्रतिशत विकासशील देशों में होती हैं। कामगार लड़कियों को काम से जुड़े कई तरह के खतरों का सामना करना पड़ता है। भारत में माचिस बनाने की फैक्टरियों में लड़कियाँ अक्सर 5-7 वर्ष की उम्र से काम करने लग जाती हैं और उन्हें हर दिन 10-12 घंटे काम करना पड़ता है। उन्हें कोई छुट्टी नहीं मिलती। विश्व में लगभग 10 करोड़ बच्चे अपने जीवन का एक हिस्सा सड़कों पर आवारा बिताते हैं और इन आवारा बच्चों में 30 प्रतिशत लड़कियाँ हैं। जो लड़कियाँ घरेलू नौकरानियों का काम करती हैं उन्हें यौन शोषण का शिकार सबसे ज्यादा बनना पड़ता है। (*द गर्ल चाइल्ड फॉर द बेइजिंग कान्फ्रेंस*, राष्ट्र संघ, न्यूयार्क, मई 1995, 1-6)।

अनुभव से सिखें

पिछले एक माह के समाचार पत्रों से बालिका से संबंधित खबरों का संकलन कीजिए।
इस संकलित सूचना के आधार पर समकालीन विश्व में बालिका पर एक टिप्पणी लिखिए।

9.4.3 दक्षेस देशों में बालिका की स्थिति

बाल अधिकारों विशेषकर बालिका के अधिकारों के लिए अंतरराष्ट्रीय प्रतिबद्धता को समय-समय पर क्षेत्रीय घोषणाओं ने दोहराया है और उन्हें सशक्त बनाया है। ऐसा ही एक प्रयास दक्षिण एशिया सहयोग संगठन (दक्षेस या सार्क) ने किया है। दक्षेस ने 1990 को 'बालिका वर्ष' घोषित किया। इस वर्ष के दौरान बांग्लादेश, भूटान, भारत, पाकिस्तान, मालदीव, नेपाल और श्रीलंका इन सात देशों के इस संगठन ने अपने-अपने देशों में लड़कियों की निम्न स्थिति पर अपने प्रयास केन्द्रित किए। दक्षेस देशों ने इस क्षेत्र में बालिका की उत्तरजीविता और समग्र विकास के प्रति अपनी चिंता को जाहिर किया। इन देशों ने मिलकर बालिका के उत्थान के लिए कार्यक्रम बनाए, जिनका लक्ष्य इस प्रकार है :

- बालिका के महत्व के बारे में जन चेतना बढ़ाना,
- लड़कियों के जीवित रहने और विकास के लिए आवश्यक सुविधा सेवाएँ उन तक पहुँचाना,
- बाल विकास, स्वास्थ्य, पोषण और शिक्षा के कार्यक्रमों में उनकी भागीदारी सुनिश्चित करना,
- विवाह की उम्र बढ़ाना,
- एक ऐसा वातावरण तैयार करना जिसमें लड़कियाँ उत्पादक और विश्वास से भरपूर युवतियों में विकसित हो सकें।

इनमें अधिकांश देशों ने बालिका पर ठोस शोध कार्य किया है और उसके विकास और उत्थान के लिए बहु-क्षेत्रीय कार्यनीतियों की योजना बनाने और अनुभव बाँटने के लिए अनेक सेमिनार और कार्यशालाएँ की हैं। मीडिया कार्यक्रमों, प्रदर्शनियों, प्रतियोगिताओं और सांस्कृतिक कार्यक्रमों ने जनता में जागरूकता बढ़ाई है। पाकिस्तान की राजधानी इस्लामाबाद में दक्षेस देशों के महिला विकास मंत्रियों की सभा जून 1990 में हुई जिसमें 1991-2000 को बालिका दशक घोषित करने की सिफारिश की गई। फिर नवंबर 1990 में मालदीव की राजधानी माले में सातों दक्षेस देशों के राज्याध्यक्षों की शिखर वार्ता हुई, जिसमें इस सिफारिश को मान लिया गया। इस तरह 1999-2000 को दक्षेस बालिका दशक घोषित कर दिया गया। (द चाइल्ड:एन इनवेस्टमेंट इन फ्यूचर, यूनिसेफ 1991, 27-28)

दक्षेस सदस्य देशों के राज्याध्यक्षों द्वारा 1990 में माले में की गई प्रतिज्ञा को पूरा करने की दिशा में भारत सरकार ने अलग से एक राष्ट्रीय कार्य योजना तैयार की जो राष्ट्रीय बाल नीति (1974) और बाल कार्य योजना (1992) पर आधारित है। यह राष्ट्रीय कार्य योजना भारत में बालिका की उत्तरजीविता, रक्षा और विकास के लक्ष्यों पर केन्द्रित है, जिसमें कमजोर वर्गों की बालिकाओं और किशोर लड़कियों की आवश्यकताओं पर विशेष बल दिया गया है (दक्षेस बालिका दशक 1991-2000 के लिए राष्ट्रीय कार्य योजना, नई दिल्ली)

9.4.4 भारत में बालिका

देश की जनसंख्या में 37 प्रतिशत लोग 15 वर्ष से कम उम्र के हैं। भारतीय संविधान में बच्चों की रक्षा, विकास और कल्याण के लिए प्रावधान किए गए हैं। संविधान का अनुच्छेद 24 जोखिम भरे काम-धंधों में बच्चों को रखने से रोकता है, तो अनुच्छेद 39 (ई और एफ) में कहा गया है कि राज्य अपनी नीति एक स्वस्थ वातावरण में बच्चों को विकसित होने के अवसर और सुविधाएँ देने की दिशा में चलाएगा। बाल न्याय अधिनियम, बाल मजदूर (निषेध और नियमन अधिनियम, अनैतिक देह व्यापार (निवारक) अधिनियम और बाल विवाह (निरोध) अधिनियम जैसे कई कानून बच्चों के अधिकारों की काफी हद तक गारंटी देते हैं। भारत सरकार ने 1974 में एक राष्ट्रीय बाल नीति बनाई जो घोषणा करती है कि जन्म से पहले और बाद में और उनके वर्धन काल के दौरान सभी बच्चों के पूर्ण शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विकास के लिए पर्याप्त सेवाएँ राज्य उपलब्ध कराएगा।

इन सभी प्रयासों के बावजूद बालिका को भारत में बराबर का दर्जा नहीं दिया गया है। भ्रूणावस्था और जन्म से लेकर नारीत्व की आयु तक उसे तरह-तरह के भेदभाव और नुकसान सहने पड़ते हैं।

भारत की कुल जनसंख्या का कोई एक चौथाई हिस्सा 19 वर्ष तक के उम्र की लड़कियाँ हैं। हर वर्ष भारत में लगभग 1.5 करोड़ लड़कियाँ जन्म लेती हैं। मगर जैविक दृष्टि से लड़कों से ज्यादा शक्तिशाली होने के बावजूद भी उनमें से एक चौथाई लड़कियाँ अपना 15वां जन्मदिन नहीं देख पाती हैं। मादाभ्रूण हत्या और शिशु हत्या के कारण ही देश में स्त्री-पुरुष अनुपात कम है। आयुगत मृत्यु दरें बताती हैं कि 35 वर्ष की उम्र तक हर आयु स्तर पर पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ अधिक मरती हैं (कंट्री रिपोर्ट : द गर्ल चाइल्ड एंड एडोलसेंट गर्ल, 1995, 108-144)। बाल विवाह आम हैं, जिससे लड़कियाँ शारीरिक रूप से परिपक्व होने से पहले ही गर्भवती बन जाती हैं। प्रति एक लाख

सजीव जन्मों में 324 की मातृ मृत्यु दर और प्रति हजार सजीव जन्मों में 80 की उच्च शिशु मृत्यु दर इसी की वजह से है (1990)। बौद्धिक, मानसिक रूप से भी बालिका अविकसित रहती है क्योंकि उसे प्राय: विद्यालय जाने का मौका नहीं दिया जाता है। वर्ष 1989-90 में प्राथमिक पाठशाला के स्तर पर लड़कों की नामांकन दर 115.5 थी, तो लड़कियों के लिए यह दर 83.6 थी। उन बालिकाओं में जो औपचारिक शिक्षा में प्रवेश पाती है; 49.4 प्रतिशत छठी कक्षा तक पहुँचने से पहले और 67.6 प्रतिशत नौवीं कक्षा में पहुँचने से पहले ही स्कूल छोड़ देती हैं (दक्षेस बालिका दशक के लिए राष्ट्रीय कार्य योजना, नई दिल्ली 1991)।

परिवार और एक अनिश्चित भविष्य के लिए, मछली पकड़ते हुए

सौजन्य : कपिल कुमार, इंनू, नई दिल्ली

ऐसा अनुमान है कि एक लड़की वर्ष में 315 दिन रोजाना औसतन 10 घंटे काम करती है। इस तरह वह अपने परिवार को इतना वार्षिक श्रमदान करती है कि न्यूनतम मजदूरी से उसका मूल्य लगभग 220 रुपया होगा। उसका बचपन समाप्त होते-होते वह अपने परिवार को आर्थिक शब्दों में लगभग 40,000 रुपये का योगदान कर चुकी होती है। इतने बड़े योगदान के बावजूद भी उसे परिवार पर बोझ समझा जाता है खासकर जब परिवार को दहेज देना होता है। विवाह और दहेज ही मुख्यत: गरीबों को कर्ज में डुबाते हैं। जवान लड़कियों को अक्सर बलात्कार, कौटुम्बिक व्यभिचार और यौन-उत्पीड़न का शिकार बनाया जाता है। बलात्कार के दर्ज मामलों में 25 प्रतिशत लड़कियाँ 16 वर्ष से कम उम्र की होती हैं। आर्थिक मजबूरियों के कारण लड़कियाँ वेश्यावृत्ति में फंस जाती हैं। कई तरुण बालिकाओं से भिक्षावृत्ति कराई जाती है और उन्हें सड़कों पर असहाय छोड़ दिया जाता है। (इंडिया कंट्री रिपोर्ट, बेइजिंग कांफ्रेंस, सितंबर 1995, 108-14)।

दक्षेस बालिका दशक 1991-2000 के लिए राष्ट्रीय कार्य योजना ने बालिका की उत्तरजीविता, रक्षा और विकास के लिए मार्ग दर्शक सिद्धांत, लक्ष्य और कार्यक्रम रखा। कार्य योजना बालिका के भूख,

निरक्षरता, अज्ञान और शोषण से मुक्त करने के अधिकार को सम्मान देती है (दक्षेस बालिका दशक के लिए राष्ट्रीय कार्य योजना, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1992)।

इसके अलावा केन्द्र और राज्य सरकारों ने बालिका के उत्थान के लिए अपने-अपने स्तर पर योजनाएँ बनाई हैं। समेकित बाल विकास योजना (आइ सी डी एस) को व्यापक रूप देकर उसमें किशोर लड़कियों को भी शामिल किए जाने का प्रस्ताव है। यूनिसेफ 1949 से ही भारत के साथ मिलकर बाल शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, पानी और पोषण के क्षेत्रों में काम कर रहा है। (विदरणिका यूनिसेफ इन इंडिया : ए पार्टनरशिप फॉर चिल्ड्रेन, नई दिल्ली)। यूनिसेफ ने 90 के दशक में बच्चों के विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सामाजिक-लिंग विषमता कम करने की प्रमुख रणनीति अपनाई। इसने बालिका को दी जाने वाली प्राथमिकता को समर्थन दिया और यह सिफारिश की कि 1990 के दशक में यूनिसेफ के सारे कार्यक्रम और कार्यनीतियाँ बालिका की स्थिति और उसकी जरूरतों खासकर पोषण, स्वास्थ्य और शिक्षा को विशेष रूप से संबोधित करें जिससे सामाजिक-लिंग विषमताएँ दूर हों (द गर्ल चाइल्ड : एन इनवेस्टमेंट इन फ्यूचर, यूनिसेफ, नई दिल्ली, 1991)। बेइजिंग में हुए विश्व महिला सम्मेलन द्वारा अनुमोदित कार्य मंच और बेइजिंग घोषणा पत्र ने भी बालिका के प्रति निरंतर भेदभाव और उसके अधिकारों के हनन को अतिमहत्वपूर्ण सरोकार माना है (1995, 145-55)। सम्मेलन में भारत की ओर से देशीय रिपोर्ट ने भी बालिका और किशोर बालिकाओं के मुद्दे को अति महत्वपूर्ण माना है (1995, 108-114)। रिपोर्ट बताती है कि नीति निर्माताओं, योजनाकारों, प्रशासकों को प्रभावित करने और कार्यान्वयन कार्यप्रणाली को सामाजिक-लिंग मुद्दों के प्रति संवेदनशील बनाना और बालिका की एक सकारात्मक छवि का प्रचार करना महत्वपूर्ण कार्यनीतियाँ हैं जिन्हें उनके समग्र विकास के लिए चलाया जा रहा है (वही, पृ. 114)।

9.5 सारांश

इस इकाई में हमने सामाजिक लिंग-समानता पर चल रही अंतरराष्ट्रीय बहस के मुद्दों पर चर्चा की। इकाई के 9.2 अनुभाग में हमने इस दिशा में किए जा रहे अंतरराष्ट्रीय प्रयासों के बारे में बताया। फिर अगले 9.3 अनुभाग में हमने नैरोबी (1985) और बेइजिंग (1995) में हुए दो महत्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय महिला सम्मेलनों और बेइजिंग सम्मेलन में भारत की भूमिका के बारे में बताया। बालिका और महिलाओं की समस्याएँ एक-दूसरे से जुड़ी हैं। इकाई के 9.4 अनुभाग में बालिका के मुद्दे पर चर्चा की है जिसे अंतरराष्ट्रीय, दक्षेस और भारत, सभी स्तरों पर अतिमहत्वपूर्ण माना जाता है।

9.5 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

समीक्षा : मूल्यांकन

ब्लूप्रिंट : किसी योजना की छपी रूपरेखा

प्रतिज्ञापत्र (कवनेंट) : एक बंधनकारी समझौता या वचन

घोषणा : औपचारिक रूप से जाहिर करना

वस्तुत: : वास्तव में या असल में

विधितः : कानूनन, अधिकार से

समर्थन : किसी दावे या कथन का अनुमोदन करना

निगरानी (मॉनीटर) : किसी कार्यक्रम को सुनना, जानना और उसका मूलयांकन करना

कार्यमंच : सम्मेलन या सभा में किसी भी दल द्वारा अपनाया जाने वाला कार्यक्रम

रणनीतियाँ/कार्यनीतियाँ : कार्यक्रम सूझबूझ से नियोजित उपाय

9.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भारत सरकार, (1995) कंट्री पेपर : बेइजिंग 1995, फोर्थ वर्ल्ड कांफ्रेंस ऑन इंडिया, नई दिल्ली.

प्लेटफार्म फॉर एक्शन एंड द बेइजिंग डिक्लेयरेशन (कार्यमंच और बेइजिंग घोषणा पत्र), 1996, संयुक्त राष्ट्र संघ, न्यू यार्क.

संदर्भ

बंदोपाध्याय, शेखर (1995) "कास्ट, विडो रिमैरिज एंड द रिफार्म ऑफ पॉपुलर कल्चर इन कोलोनियल बंगाल'' भारती रे (संपा.) *फ्राम द सीम्स ऑफ हिस्ट्री : एसेज ऑन इंडियन वीमेन,* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

बनर्जी, हिमानी (1995) "एटायर्ड इन वर्च्यू : द डिसकोर्स ऑन शेम (लज्जा) एंड क्लोथिंग ऑफ द भद्रमहिला इन कोलोनियल बंगाल'' भारती रे (संपा.) *फ्रॉम द सीम्स ऑफ हिस्ट्री : एसेज ऑन इंडियन वीमेन,* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

बर्टो, डी. (1990) "ओरल हिस्ट्रीज एप्रोचेज टू एन इंटनेशनल सोशल मूवमेंट'' ओयेन, ई. (संपा.) *कम्पैरेटिव मेथडॉलॉजी,* थ्योरी एंड प्रैक्टिस. लंदन : सेज पब्लिकेशंस.

ब्लूमेर एच.. (1951) "सोशल मूवमेंट्स'', ए.एम. (संपा.) *प्रिंसिपल्स ऑफ सोसायटी.* न्यू यार्क : बैनीज डी. नोल्ड़ी.

सेंटर फॉर वीमेंस डेवेलपमेंट स्टडीज (1995) *क्रनफ्रंटिंग माइरिएड ऑप्रेशंस : चाइसेज फ्रॉम द इंडियन वीमेंस मूवमेंट,* नई दिल्ली.

चक्रवर्ती, उमा (1988) "बियांड द एल्टेकेरियन पैराडाइम : टुवार्डज ए न्यू अंडरस्टैंडिंग ऑफ जेंडर रिलेशंस इन अर्ली इंडियन हिस्ट्री'' *सोशल साइंटिस्ट,* 16:8.

चक्रवर्ती, उमा (1995) "कनसेप्चुएलाइजिंग ब्राहिमिनिकल पैट्रियार्की'', *इकॉनमिक पॉलिटिकल वीकली,* अप्रैल 5, 1993.

चटर्जी, पार्था (1989) "द नेशनलिस्ट रेज्यूलूशन फॉर द वीमेंस क्वेश्चन'' के. संगारी, और एस. वैद (संपा.) *रिकास्टिंग वीमेन.* नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

चौधरी, मैत्रेयी (1993) *इंडियन वीमेंस मूवमेंट: रिफॉर्म एंड रिवायल.* नई दिल्ली : रेडिएंट पब्लिशर्स.

चौधरी, प्रेम (1995) "पॉपुलर परेसेप्शंस ऑफ विडो रिमैरिज इन हरियाणा : पास्ट एंड प्रेजेंट'' रे (संपा.) *फ्रॉम द सीम्स ऑफ हिस्ट्री : एसेज ऑन इंडियन वीमेन.* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

चौधरी, प्रेम (1989) "कस्टम्स इन ए पीजेंट इकॉनमी : वीमेन इन कोलोनियल हरियाणा'', के. संगारी और एस. वैद (संपा.) *रिकास्टिंग वीमेन.* नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

सीआइपीसीसीडी (1988) "सार्क गाइड बुक ऑन वीमेन इन डेवेलपमेंट''. नई दिल्ली : सीआइपीसीसीडी.

"कमेटी आन द स्टेटस ऑफ वीमेन इन इंडिया 1974 : टुवार्ड्स इक्वैलिटी''. नई दिल्ली : भारत सरकार.

दत्ता , वी. एन. (1988) *सती : विडो बर्निंग इन इंडिया.* दिल्ली : मनोहर.

देसाई, एन. और पटेल, वी (1989) *क्रिटिकल रिव्यू ऑफ रिसर्चेज इन वीमेंस स्टडीज* 1975-1988, *मिमियो.*

देसाई, नीरा और विभूति पटेल (1990) चेंज एंड चैलेंज इन इंटरनेशनल डिकेड 1975-1985 दूसरा संस्करण, मुंबई : पॉपुलर प्रकाशन.

देसाई, नीरा (1986) "फ्रॉम आट्रिक्यूलेशन टू एकॉमोडेशन : वीमेंस मूवमेंट इन इंडिया'' तीला दुबे और अन्य द्वारा (संपा.) *विजिबिलिटी एंड पॉवर : एसेज ऑन वीमेन इन सोसायटी एंड डेवेलपमेंट,* नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

देसाई, नीरा (1990) *स्ट्रगल्स एंड स्ट्रेंथ्स : एनालिसिस ऑफ डिकेड एंड ए हाफ ऑफ वीमेंस मूवमेंट इन इंडिया,* मिमियो.

घनागरे, डी.एन. (1983) *पीजेंट मूवमेंट इन इंडिया* 1920-1950, बंबई : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

एंजेल्स, डगमार (1996) *बियोंड परदा? वीमेन इन बंगाल* 1890-1939. दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

आयरमैन, आर., और जैमिसन (1991) *सोशल मूवमेंट्स : ए कागनीटिव एप्रोच*. कैम्ब्रिज : प्रॉलिटी प्रेस.

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया (1988) *नेशनल पर्सपेक्टिव प्लान फॉर वीमेंस डेवेलपमेंट* 1988-2000 ए.डी. नई दिल्ली : मानव संसाधन विकास मंत्रालय.

गेसफील्ड, जे.आर. (संपा.) (1971) *प्रोटेस्ट, रिफॉर्म एंड रिवॉल्ट : ए रीडर इन सोशल मूवमेंट्स. न्यू यार्क* : जॉन वाइली एंड संस.

हैबर्ली, आर. (1972) "टाइप्स एंड फंक्शंस ऑफ सोशल मूवमेंट्स'' *इंटरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज*, न्यू यार्क : मैकमिलन कंपनी एंड फ्री प्रेस.

ह्यूमनस्केप सोशल इशू ऑन वीमेन, नवंम्बर, 1995.

कन्नाबिरन, वी., ललिता, के. और अन्य (1989) *वी वेर मेकिंग हिस्ट्री*. नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

कार्लेकर, मलाविका (1992) *वॉइस फ्रॉम विदिन : अर्ली पर्सनल नैरेटिव्स ऑफ बंगाली वीमेन*. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

कृष्णाराज, मैत्रेयी (1995) *रिमेकिंग सोसायटी फॉर वीमेंस वीज़न : पास्ट एंड प्रेजेंट*. इंडियन एसोसिएशन ऑफ वीमेंस स्टडीज.

कुमार, राधा (1993) *वाइसेज फ्रोम इंडियन वीमेन-टुवार्डज बेइजिंग*, जुलाई.

मणि, लता (1980) "कंटेंशियस ट्रेडिशंस : द डिबेट ऑन सती इन कोलोनियल इंडिया'', के.संगारी और एस. वैद (संपा.) *रिकास्टिंग वीमेन*. नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

मेलुक्सी, ए. (1992) "फ्रंटियर लैंड : क्लेटिटव एक्शंस बिटवीन एक्टर्स एंड सिस्टम्स'' मारिया, डी, और आयरमैन, आर. (संपा.) स्टडींग कलेक्टिव एक्शन, लंदन, सेज पब्लिकेशंस मेलुक्सी, ए. (1996) "सिंबॉलिक चैलेंज ऑफ कंटेम्पोरेरी मूवमेंट्स'' बुएशलर, एस.एम., और जे. साइल्की (संपा.) *सोशल मूवमेंट्स. पर्सपेक्टिव्स एंड इशूज*. कैलीफोर्निया : मेफील्ड पब्लिशिंग कंपनी.

मुखर्जी, मुकुल (1995) "वीमेंस वर्क इन बंगाल 1880-1930 : ए हिस्टॉरिकल एनालिसिस'' भारती रे (संपा.) *फ्रॉम द सीम्स ऑफ हिस्ट्री*. नई दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

राव, एम.एस.ए. (1987) सोशल मूवमेंट्स एंड सोशल ट्रांसफॉरमेशन : ए स्टडी ऑफ टू बैकवार्ड क्लासेज मूवमेंट इन इंडिया. नई दिल्ली : मनोहर.

रॉय, कुमकुम (1995) "व्हेर वीमेन आर वरशिप्ड, दियर द गॉड्स रिजॉइस'' उर्वशी भूटालिया और तानिका सरकार (संपा.) *वीमेन एंड द हिंदू राइट*. नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

संगारी, कुमकुम (1993) "द एमिनिटीज ऑफ डॉमेस्टिक लाइफ : क्वेश्चन ऑफ लेबर'' *सोशल साइंटिस्ट*, अंक 244-46.

संगारी, कुमकुम और सुदेश वैद (संपा.) (1989) *रिकास्टिंग वीमेन : एसेज इन कोलोनियल हिस्ट्री*. नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

सेमिनार (1989) *न्यू सोशल मूवमेंट्स*, मार्च, अंक 355.

सेन, इलिना (1990) *ए स्पेस विदिन द स्ट्रगल, वीमेंस पार्टिसिपेशन इन पीपुल्स मूवमेंट्स.* नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

सिंहराय, डी.के. (1992) *वीमेन इन पीजेंट मूवमेंट्स : नक्सलाइट एंड आफ्टर.* नई दिल्ली : मनोहर.

सिंहराय, डी.के. (1995) "पीजेंट मूवमेंट्स एंड वीमेंस एम्पावरमेंट'' *इकॉनमिक पॉलिटिकल वीकली,* सित. 16.

टॉच, एच (1965) *रिराइटिंग हिस्ट्री : द लाइफ एंड टाइम्स ऑफ पंडिता रमाबाई.* नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

चक्रवर्ती, उमा (1989) "व्हटएवर हैपन्ड टू द वेदिक देवदासी? ओरिएंटलिज्म, नेशनलिज्म एंड ए स्क्रिप्ट फॉर पास्ट'' संगारी और वैद (संपा.) *रिकास्टिंग वीमेन.* नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

विल्सन, आर.एफ. (1973) *इंट्रोडक्शन टू सोशल मूवमेंट्स,* न्यू यार्क : बेसिक बुक्स.

वीमेन एंड मीडिया ग्रुप (1991) ट्रायल बाई फायर : ए रिपोर्ट ऑफ रूप कंवर्स डैथ'' 1987 जनता महिला विशेषांक, जनवरी 6.

जाल्ड, एम.एन. (1978) "द ट्रेजेक्ट्री ऑफ सोशल मूवमेंट इन अमेरिका'' क्रीशवर्ग, एल., और मिस्जटाल, बी. (संपा.) *रिसर्च इन सोशल मूवमेंट्स, कनफ्लिक्ट एंड चेंज,* खंड 10, लंदन : जै प्रेस इंक.

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

CWED-01
महिला सशक्तिकरण एवं
विकास में आधार पाठ्यक्रम

खंड
3
महिला स्वालंबन : समस्याएं और रणनीतियां

खंड प्रस्तावना

इकाई 10
महिला आंदोलन और प्रतिक्रिया में राज्य की पहल 5

इकाई 11
बेहतर कानूनों के लिए जारी संघर्ष–भाग एक 19

इकाई 12
बेहतर कानूनों के लिए जारी संघर्ष–भाग दो 30

इकाई 13
आर्थिक संसाधन: पहुंच, अधिकार, उपयोग और उत्पादन 43

इकाई 14
शिक्षा और स्वास्थ्य 55

खंड प्रस्तावना: महिला स्वालंबन: समस्याएं और रणनीतियां

इस पाठ्यक्रम के पहले दो खंड लिंग की सामाजिक रचना और सामाजिक लिंग समानता के लिए संघर्ष थे। हमने यह बताने का प्रयास किया है कि समाज किस तरह से महिलाओं या समाज में उनकी भूमिका की धारणा की रचना करता है। इस सामाजिक रचना के मूल में आर्थिक कारकों की सक्रिय भूमिका होती है। यही सामाजिक रचना महिलाओं की अविरल पराधीनता को वैचारिक आधार और औचित्य प्रदान करती है। पाठ्यक्रम का दूसरा खंड सामाजिक-लिंग समानता की दिशा में हो रहे संघर्षों का वृतांत प्रस्तुत करता है। इन संघर्षों के फलस्वरूप समाज में महिलाओं की स्थिति में निश्चित परिवर्तन आया है। मगर समस्याओं का इन संघर्षों से चोली दामन का साथ रहा है।

इस खंड में हम सामाजिक-लिंग समानता वाले समाज की स्थापना की दिशा में आने वाली समस्याओं और संभावित रणनीतियों पर रोशनी डालेंगे।

इकाई 10: महिला आंदोलन और प्रतिक्रिया में राज्य की पहल पर है। यह विषय काफी विस्तृत है इसलिए हमने अपनी चर्चा को कुछ नवीन मुद्दों तक सीमित रखा है। जैसे महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता। इस इकाई में हमने पंचायती राज संस्थाओं, उनकी महिला विषयक समस्याओं और संभावित स्वालंबन युक्तियों पर चर्चा की है।

इकाई 11: का विषय बेहतर कानूनों के लिए चल रहे संघर्ष-भाग एक है। इसमें हम महिला आंदोलन के विभिन्न परिप्रेक्ष्यों और महिलाओं के लिए कानूनी न्याय सुलभ कराने में इसकी प्रभाविता पर चर्चा करेंगे। यहां हम महिलाओं की स्थिति पर गठित कमेटी की रिपोर्ट और महिला विकास के लिए राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य योजना, इन दो महत्वपूर्ण दस्तावेजों पर भी चर्चा करेंगे।

इकाई 12: बेहतर कानूनों के लिए चल रहे संघर्ष-भाग दो एक तरह से पिछली इकाई का ही विस्तार है। इसमें हम महिलाओं से जुड़े दंडात्मक (फौजदारी) और वैयक्तिक कानूनों पर विस्तार से चर्चा करेंगे। यहां यह बताने का प्रयास किया गया है कि सामाजिक-लिंग न्याय की दिशा में तरह-तरह के विधान, कानून बनाए जाने के बावजूद भी हमारे कानून न्याय से बहुत दूर हैं।

इकाई 13: का विषय आर्थिक संसाधन: पहुंच, अधिकार, उपयोग और उत्पादन है। यह इकाई अपने शीर्षक के अनुरूप महिलाओं की आर्थिक स्थिति के बारे में बताती है। उनकी आर्थिक स्थिति काफी हद तक उनकी सामाजिक स्थिति तय करती है। यहां हमने यह बताने का प्रयास किया है कि उनकी यही सामाजिक स्थिति उनकी समग्र आर्थिक स्थिति को प्रभावित करती है। कुछ सरकारी संस्थाओं और उनकी समस्याओं के बारे में भी यहां बताया गया है।

इकाई 14: यह इकाई भारत में महिलाओं की शैक्षिक और स्वास्थ्य स्थिति के बारे में है। स्वास्थ्य और शैक्षिक सूचक शिक्षा और स्वास्थ्य के बीच संबंध दर्शाते हैं। जहां तक महिलाओं का संबंध है ये दोनों सूचक घोर निराशाजनक हैं। यहां भी महिलाओं की सामाजिक परिस्थितियां ही उनकी सामान्य शिक्षा और स्वास्थ्य स्थिति का मुख्य कारण हैं।

इकाई 10 महिला आंदोलन और प्रतिक्रिया में राज्य की पहल

रूपरेखा

10.0 लक्ष्य और उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 चिरस्थायी असमानताएं: एक परिचय

10.2.1 बुनियादी सूचक

10.2.1 समग्रतावादी दृष्टिकोण

10.3 भूमंडलीकरण और महिला सशक्तिकरण

10.3.1 उदारीकरण

10.4 महिला और राजनीतिक सहभागिता

10.4.1 पंचायती राज अधिनियम और उसके निहितार्थ

10.4.2 पंचायती राज का यथार्थ

10.4.3 छाया प्रत्याशियों का चलन

10.5 महिलाओं के सामने आने वाली बाधाएं

10.5.1 सामाजिक ढांचा

10.5.2 निरक्षरता

10.5.3 आर्थिक बाधाएं

10.6 स्वालंबन युक्तियां

10.6.1 स्वालंबन युक्तियों की आवश्यकता

10.6.2 स्वालंबन युक्तियों के माध्यम के रूप में प्रशिक्षण

10.7 सारांश

10.8 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.0 लक्ष्य और उद्देश्य

बुनियादी पाठ्यक्रम के तीसरे खंड की यह पहली इकाई है। पीछे के खंडों में हमने यह जाना कि महिलाओं की वंचना, उनकी उपेक्षा के पीछे किस तरह से एक सामाजिक प्रक्रिया काम करती है जो उन्हें निम्नतर स्थिति में समेटे रखती है। इस उपेक्षित दशा से बाहर निकलने के लिए महिलाओं ने संघर्ष किया है। इस पहलू के बारे में हम आपको खंड-2 में बता चुके हैं। मगर तमाम संघर्षों के बावजूद महिलाओं को अभी काफी लंबा सफर तय करना है। इस खंड में महिलाओं को सक्षम बनाने, उन्हें स्वालंबी, स्वतंत्र बनाने में आने वाली कठिनाइयों के बारे में बताया जा रहा है। इस इकाई में हम यह बताएंगे कि राज्य की ओर से तमाम पहलों और हस्तक्षेपों के बावजूद महिलाओं की स्थिति

में कोई संतोषजनक सुधार नहीं हुआ है। हालांकि कुल मिलाकर राज्य की तरफ से महिलाओं के प्रश्न पर काफी पहल हुई है। यहां हम आपको व्यापक तस्वीर की एक झलक दिखाने के लिए राज्य की ओर से हुई कुछ विशेष पहलों के बारे में बताने जा रहे हैं। इस इकाई का लक्ष्य:

- आपको महिलाओं की दशा से परिचित कराना है,
- एक वृहत्तर परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता के बारे में बताना है,
- महिलाओं के मुद्दों को उभरते सामाजिक चलनों और राज्य की ओर से किए जा रहे हस्तक्षेपों जैसे पंचायती राज अधिनियम की रोशनी में देखना है; और
- संभावित स्वालंबन युक्ति के बारे में सोचना है।

चिरस्थायी असमानताओं के बारे में बताने का प्रयोजन यहां यही है कि विद्यार्थियों को उन मुद्दों की कुछ बुनियादी जानकारी मिल जाए जो महिलाओं की दशा को हमेशा निराशाजनक बनाए रखते हैं। समाज़ में उभरती नई प्रक्रियाओं, नए ज्ञानों ने नई तरह की स्थितियां पैदा कर दी हैं जो सरसरी तौर पर पंथ-निरपेक्ष और बेड़ियों को तोड़ने वाली दिखाई तो जरूर देती हैं मगर वे समाज में महिलाओं की स्थिति को हाशिए की ओर ले गई हैं। उस ज्ञान और शिक्षा का प्रयोजन अधूरा ही रह जाता है अगर हम उसका प्रयोग कुशल रणनीति से और स्थिति की मांग के अनुसार नहीं कर सकें। महिलाओं की दशा का मूल्यांकन करने के पीछे हमारा मुख्य प्रयोजन यही है कि इससे उसकी एक अलोचनात्मक समझ विकसित हो।

10.1 प्रस्तावना

रिपोर्टों और अध्ययनों से हमें सिर्फ यही पता नहीं चलता है कि महिलाओं को सामाजिक-लिंग समानता की दिशा में अभी और लंबा सफर तय करना है, बल्कि हमारे जीवन में रोजमर्रा घटने वाली घटनाएं यह बताती हैं कि महिलाओं का दमन, उत्पीड़न एक यथार्थ है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि अनेक महिलाओं ने एक लंबा सफर तय कर निरक्षर, अनपढ़, परिवार और पति पर आश्रित गृहणियों से आज पेशेवर और कामकाजी महिलाओं का दर्जा हासिल किया है। मगर पूर्वाग्रहों से ग्रस्त विचार, धारणाएं अभी भी जस की तस बनी हुई हैं चाहे वह कार्यस्थल, बसों, ट्रेनों में उनका यौन उत्पीड़न हो या घर के काम का दोहरा बोझ हो। महिलाओं को अभी भी कई मायनों में उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है।

यह इकाई महिलाओं की दशा पर बुनियादी सूचकों और विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं से उसके संबंध के नजरिए से सरसरी चर्चा करती है क्योंकि बुनियादी सूचक इन व्यापक सामाजिक प्रक्रियाओं का प्रतिबिंब हैं। महिलाओं की राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी के लिए राज्य ने जो एक बड़ा महत्वपूर्ण हस्तक्षेप किया है, हम उसी की यहां चर्चा करेंगे–यह है पंचायती राज अधिनियम।

इस इकाई के पहले भाग में कुछ विशेष बुनियादी सूचकों के जरिए महिलाओं की आम स्थिति को समझाने का प्रयास किया गया है जो हमें समाज में महिलाओं के स्थान के बारे में बताते हैं। शिक्षा की सुलभता, स्वास्थ्य, मृत्युदर, प्रजनन दर इत्यादि सूचक हमें महिलाओं की हैसियत के बारे में आंकड़ों के रूप में बताते तो हैं मगर इनसे वास्तविक कारणों का पता नहीं चलता है। महिलाओं के सरोकारों के समाधान के लिए राज्य कई बार महिलाओं को शुद्धत: एक ऐसी श्रेणी मानकर पहल करता है कि जिसे सरकारी प्रलोभनों की जरूरत है। यहीं पर महिलाओं को एक वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देखना जरूरी हो जाता है। इसलिए महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए चल रहे विशिष्ट सरकारी कार्यक्रमों का विश्लेषण करने के बजाए अर्थव्यवस्था और राज्यतंत्र में महिलाओं की भूमिका और सहभागिता और इस मामले में राज्य के नजरिए का हम यहां विश्लेषण करेंगे। इसलिए इस इकाई का अगला भाग अर्थव्यवस्था की दशा और महिलाओं के लिए उसके निहितार्थों की चर्चा करता है। आगे

इकाई में चूंकि इस मुद्दे पर गहराई से चर्चा की गई है इसलिए यहां हमने इस पर सामान्य, परिचयात्मक चर्चा की है। कुछ ही समय पहले पंचायती राज अधिनियम पारित कर राजनीतिक प्रक्रिया में वृहत्तर पैमाने पर महिलाओं की भागीदारी की दिशा में सरकार ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया। हमने यहां इस मुद्दे का विश्लेषण यथासंभव हर कोण से करने का प्रयास किया है। महिलाओं की स्थिति का वस्तुगत मूल्यांकन और महिलाओं को समर्थवान बनाने की दिशा में संभावित युक्तियां विकसित करने के लिए यह जरूरी है। महिलाओं के प्रश्न के समाधान के लिए हमने कुछ संभावित विकल्प भी सुझाए हैं। अपने जीवन अनुभवों से आप शायद इनसे भी बेहतर विकल्प सुझा सकते हैं।

10.2 चिरस्थायी असमानताएं: एक परिचय

भारतीय संविधान की नजर में भारतीय महिलाओं को पुरुषों के बराबर का दर्जा हासिल है। मगर वास्तविकता इससे कोसों दूर है। इसका खुलासा 1974 में भारत में महिलाओं की स्थिति पर जारी की गई आंखें खोल देने वाली एक रिपोर्ट से हो जाता हैं, कालांतर में हुए अध्ययनों और रिपोर्टों ने जिसकी पूरी-पूरी पुष्टि की है।

महिला आंदोलन के सतत प्रयासों और महिलाओं के उत्थान के लिए विशेष कानूनों और नीतियों के जरिए छुट-पुट सरकारी आश्वासनों के बावजूद भारत में महिलाओं की स्थिति बेहद निराशाजनक है।

10.2.1 बुनियादी सूचक

भारतीय नारी की यह निराशाजनक दशा तब और स्पष्ट हो जाती है जब हम महिलाओं की स्थिति की ओर संकेत करने वाले कुछ बुनियादी सूचकों पर गौर करते हैं। उदाहरण के लिए स्त्री-पुंजाति अनुपात को लें तो 1901 में प्रति हजार पुरुषों के अनुपात में स्त्रियों की संख्या 972 थी जो 1991 में 927 पाई गई। जैविक दृष्टि से स्त्रियां पुरुषों से अधिक शक्तिशाली और सहनशील होती हैं, आयु संभाविता पहले से ज्यादा है, प्राकृतिक आपदाओं के दौरान संकट प्रबंधन पहले से बेहतर हो गया है और फिर सामान्य स्वास्थ्य सुविधाएं भी पहले से अच्छी हो गई हैं। इन सब तथ्यों के बावजूद स्त्री-पुंजाति अनुपात में यह उत्तरोत्तर कमी आई है। 21वीं सदी में प्रवेश करते हुए भारत में स्त्री शिक्षा की 39.42 प्रतिशत की दर घोर निराशाजनक है। इधर गरीबी की रेखा के नीचे जीवन यापन करने वाली महिलाओं की संख्या में कमी आने के बजाए उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है, 1947 में यह संख्या कुल आबादी का 30 प्रतिशत थी जो 50वें स्वतंत्रता दिवस के आते-आते 52 प्रतिशत हो चुकी थी। इससे गरीबी का तेजी से स्त्रीकरण हो रहा है। महिलाओं के प्रति हिंसा से संबंधित आंकड़े बताते हैं कि बलात्कार, बाल-यौनउत्पीड़न, दहेज हत्याओं, घरेलू हिंसा, मादा शिशु हत्या और मादाभ्रूण हत्या की घटनाओं में भारी वृद्धि हो रही है।

हम जब कभी जनसांख्यिक सूचकों की चर्चा कर रहे हों या महिलाओं की स्थिति की बात कर रहे हों तो हम समाज में महिलाओं की दशा के वस्तुगत संकेत की बात कर रहे होते हैं जिसमें व्यक्तिपरक दृष्टिकोण की कोई गुंजाइश नहीं रहती। "उदाहरण के लिए जैसा कि शर्मा (1980) साग्रह पूर्वक कहते हैं, सामाजिक रूप से उच्च स्थिति वाले कई समूहों में, महिलाएं पुरुषों पर अपनी आर्थिक और गैर-आर्थिक निर्भरता के लिए गर्व महसूस करती हैं। अपने जीवन पर स्त्रियों का नियंत्रण जितना कम रहता हैं उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा उतनी ही ज्यादा मिलती दिखाई देती है। अत: यही कारण है कि अनेक लेखकों ने उत्तरी भारत की महिलाओं में यह प्रवृत्ति देखी है कि जैसे ही उनके घर की आर्थिक स्थिति सुधरती है वे श्रम-शक्ति से बाहर निकल जाती हैं।" (बसु, 1992:53)।

हालांकि सुख या संतुष्टि की महिलाओं की धारणा की तुलना जनसांख्यिक सूचकों से करना बचकानापन होगा, मगर खोजों से पता चलता है कि महिलाओं की स्थिति के घटक इस प्रकार हैं:

क) "बाहरी दुनिया से संपर्क और प्रभाव की सीमा

ख) बाहरी दुनिया से पारस्परिक-व्यवहार और विशेषकर आर्थिक पारस्परिक व्यवहार की सीमा; और

ग) घर में और घर से बाहर निर्णय की स्वायत्तता का स्तर।" (बसु)

ये सभी घटक तो यही दर्शाते हैं कि महिला संगठनों, राज्य के तमाम प्रयासों, स्वयंसेवी संगठनों की भागीदारी और व्यक्तिगत स्तर पर की गई पहलों के बावजूद महिलाओं की स्थिति में कोई गुणात्मक सुधार नहीं आया है। महिलाओं की दशा को सुधारने के लिए कई तरह के विधान बनाए गए हैं, तो सरकार की तरफ से कई तरह उपाय भी किए गए हैं। इन सरकारी उपायों का रुझान अक्सर कल्याणकारी होता है जो जन-निरपेक्ष (टॉप-डाउन) का नजरिया तो लेकर चलते हैं मगर वे महिलाओं को कहीं भी शामिल नहीं करते कि जिससे वे स्वालंबी, स्वतंत्र बनें। सरकार और समाज की ओर से इस तरह की सोच और कुछ नहीं बल्कि कृपाभाव है। इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि विधान और दूसरे उपायों के रूप में किया जाने वाला सरकारी हस्तक्षेप अत्यधिक दोषपूर्ण रहता है। कई बार तो कानून इस तरह से बनाए जाते हैं कि वे खुद-ब-खुद अप्रभावशाली साबित हो जाते हैं। मुट्ठीभर कानून और नीतियां बनाना रोग की जड़ में जाकर उसे दूर करने के बजाए लक्षणों को देखकर उसका उपचार करने जैसा है।

भारत में महिलाओं की जो स्थिति है वह सामाजिक लिंगसोच (जेंडर) की सामाजिक रचना का परिणाम है। यह हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक ढांचों में गुंथी हुई है जो सामाजिक-लिंग जनित भूमिकाओं और अधिकारक्षेत्रों को परिभाषित करते हैं, उन्हें तय करते हैं। महिलाओं को अगर सचमुच अधिकार संपन्न बनाना है तो सबसे पहले जरूरी है कि इन सामाजिक-सांस्कृतिक पहेलियों को बूझ लिया जाए और फिर उनके समाधान के लिए रणनीतियां बनाई जाएं।

10.2.2 समग्रतावादी दृष्टिकोण

उदाहरण के लिए मादाशिशु हत्या/भ्रूणहत्या विरोधी विधान पास कर लेना ही काफी नहीं है। बल्कि समस्या के समाधान के लिए एक समग्रतावादी दृष्टिकोण जरूरी है। हमें गरीबी, सामाजिक नियम, जिनके चलते बेटी को बोझ तो बेटों को बुढापे में सहारा देने वाला आर्थिक निवेश माना जाता है, ऐसे विविधरूपी कारकों को समझना होगा जो समस्या के मूल में हैं।

इस का यही आशय है कि कानूनी और संवैधानिक उपाय अपने-आप में बेहद महत्वपूर्ण हैं, मगर वहीं वे पर्याप्त नहीं कहे जा सकते। इन उपायों के अलावा महिलाओं को कुछ स्वालंबन के साधन, युक्तियां प्रदान करना जरूरी है जो उन्हें सामाजिक-लिंग विशिष्ट समस्याओं और बाधाओं को पार करने में सहायक हों। इससे भी जरूरी है महिलाओं और उनकी जरूरतों, नैसर्गिक प्रतिभाओं को अच्छी तरह से समझना ताकि ये स्वालंबन युक्तियां सफल हो सकें।

एक छोटा सा उदाहरण इस बात को समझाने के लिए काफी होगा। गरीब, अनपढ़, देहाती औरतों के व्यावसायिक प्रशिक्षण कार्यक्रम के लिए सरकारी ग्रांट (धनराशि) के लिए आवेदन करते समय एक कार्यान्वयन एजेन्सी ने प्रशिक्षण केन्द्र के परिसर में एक शिशु सदन चलाने के लिए थोड़ी धनराशि अतिरिक्त मांगी। असल में ऐसे कार्यक्रमों में गरीब महिलाएं इसलिए भाग नहीं ले पातीं क्योंकि उन्हें अपने दुधमुंहे, छोटे बच्चों के देखभाल की चिंता रहती है। शिशु सदन खुल जाने से उनकी यह चिंता दूर हो जाती और वे आसानी से प्रशिक्षण ले सकती थीं। ऐजेंसी की इस दलील को ठुकरा कर बोर्ड ने शिशु सदन के लिए धन देने से मना कर दिया। फलस्वरूप जिस वर्ग को लक्ष्य मानकर यह प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाया गया था, उसी वर्ग की महिलाएं इसमें हिस्सा नहीं ले पाईं। जिन महिलाओं ने इस प्रशिक्षण का लाभ उठाया वे शिक्षित थीं, संपन्न घरों की थीं, अर्ध-शहरी और अविवाहित थीं। इनमें से अधिकांश ने यह प्रशिक्षण जरूरत के तौर पर नहीं बल्कि दसवीं कक्षा की परीक्षा के बाद गर्मियों की छुट्टीयों में शौकिया तौर पर प्राप्त किया। आपको ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाएंगे जो महिलाओं की दशा के प्रति सामान्य उदासीनता को दर्शाते हैं। छठी पंचवर्षीय योजना

दस्तावेज ने, जिसमें महिला और विकास पर एक पृथक अध्याय था, भी स्वीकारा था कि सामाजिक लिंग-समानता लाने में सरकार असफल रही है। योजना दस्तावेज स्पष्ट कहता है कि आर्थिक स्वतंत्रता, शिक्षा की समान सुलभता, दक्षता प्रशिक्षण और परिवार नियोजन सेवाओं के बिना समानता की संवैधानिक गारंटी एक स्वप्न ही रहेगी (इंदू अग्निहोत्री और वीणा मजूमदार द्वारा उद्धत 1955:23)।

इन स्वालंबन युक्तियों के साथ-साथ महिलाओं के लिए यह भी जरूरी है कि वे उन तमाम असमान सामाजिक ढांचों को चुनौती दें, जिनमें उन्हें जकड़ा गया है। अभी हम इसमें विस्तार से नहीं जाएंगे। इस इकाई में हमने पीछे कहा है कि महिलाओं की दशा को एक समेतिक और वृहत्तर नजरिए से देखने की जरूरत है। इस इकाई में हमने खुद को बुनियादी व्यापक युक्तियों तक सीमित रखा है, जिसमें हम महिलाओं की स्थिति पर नजर डालेंगे। आगे इकाई में हम महिलाओं की सामान्य दशा पर आर्थिक व्यवस्था के प्रभावों की चर्चा करेंगे।

10.3 भूमंडलीकरण और महिला सशक्तिकरण

हम एक ऐसे विश्व में जी रहे हैं, जो एक विशाल भूमंडलीय गांव में सिमटता जा रहा है। विश्व के हिस्से में प्रचलित प्रथाएं, नीतियां और शासन व्यवस्थाएं अब विश्व के दूसरे हिस्से को प्रत्यक्ष या अपरोक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। ये प्रभाव सत्ताधिकार की राजनीति के बारे में बताते हैं। दूसरी तरह से कहें तो भूमंडलीकरण की शक्ति की परिभाषा परस्पर जुड़े एक ऐसे विश्व के रूप में कर सकते हैं, जिसमें आधुनिक संचार माध्यम महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं और जिसमें अंतरराष्ट्रीय एजेन्सियों और संस्थाओं का हस्तक्षेप अधिक होता है, अधिकारों, नागरिकता इत्यादि संबंधी मानक अवधारणाएं विकसित होती हैं। इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसकी आर्थिक प्रणाली कहीं ज्यादा एकीकृत रहती है। जैसे तरह-तरह के सामान, उत्पाद बनाए तो कहीं और जाते हैं लेकिन उपलब्ध वे हमारे स्थानीय बाजार में रहते हैं। सो पेप्सी और कोका कोला जैसे पेय भारत के दूर दराज के गांवों तक में देखे जा सकते हैं जो यही बताते हैं कि किसी भी बहुराष्ट्रीय कंपनी के मार्ग में न तो अब कोई सीमाएं हैं और न बाधाएं हैं। ये बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियां स्थानीय बाजारों में प्रवेश कर उस छोटे से क्षेत्र की थोड़ी-बहुत आत्म-निर्भरता को भी समाप्त कर देती हैं। इसके फलस्वरूप परंपरागत आर्थिक प्रणालियां टूटकर बिखर जाती हैं।

10.3.1 उदारीकरण

आज के भूमंडलीकरण और उदारीकरण के दौर में जब समूची अर्थव्यवस्था डांवाडोल हो रही हो, महिलाओं को और बड़ी चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। आर्थिक नीतियों में उदारीकरण की जो बात हर कोई करता है वह असल में "स्पर्धा" और विकल्प के नाम पर रक्षात्मक अवरोधों को दूर करना है। इसका मतलब है अधिक निजीकरण और इससे भी बढ़कर सामाजिक कल्याण क्षेत्र के कार्यक्रमों से राज्य का हाथ खींच लेना जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, सेवा, बाल और वृद्धजन कल्याण इत्यादि। और महिलाओं को ही इसका बोझ, पीड़ा सबसे ज्यादा उठानी पड़ती है। बढ़ती मंहगाई, बेरोजगारी, तनख्वाह में कटौती और आवश्यक वस्तुओं और सार्वजनिक सेवाओं, सुविधाओं में कटौती के कारण परिवारों के अस्तित्व पर जो संकट घिर आते हैं उसका सामना महिलाओं को रोज करना पड़ता है। जब शिक्षा सेवाओं में कटौती होती है तो इसका सबसे अधिक बुरा असर महिलाओं पर पड़ता है। सिकुड़ते सरकारी क्षेत्र में रोजगार के घटते अवसरों और निजी क्षेत्र में कड़ी स्पर्धा से उपजी कठिनाइयों से तो मुख्यत: समाज के उपेक्षित तबकों को ही जूझना पड़ता है। सो ऐसी कठिन परिस्थितियों में महिलाओं को विशेषकर उन महिलाओं को जो अशिक्षित, अर्धशिक्षित और औद्योगिक दृष्टि से अकुशल या अर्द्ध कुशल हैं, कुछ ज्यादा ही कष्ट उठाने पड़ते हैं क्योंकि अपने लिंग के कारण वे पहले ही अधिक उपेक्षित रहती हैं।

अनुभव से सीखें 1

क्या आप सोचते हैं कि फैशन उद्योग में वृद्धि का संबंध भूमंडलीकरण से है? पत्र-पत्रिकाओं को ध्यान से पढ़िए और फिर नोट लिखिए कि आप महिलाओं और फैशन उद्योग के बारे में क्या सोचते हैं?

इन परिस्थितियों में महिलाओं को एक मंच देने के अलावा कोई और विकल्प नहीं रह जाता जिससे वे अपनी जरूरतों के लिए आवाज उठाएं, देश की लोकतांत्रिक प्रक्रिया में पूरी तरह से भागीदारी करें और सामाजिक-सांस्कृतिक आर्थिक निर्णय प्रक्रियाओं में सक्रिय भागीदार बनें।

इकाई के अगले भाग मे हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि निर्णय-प्रक्रिया में भागीदारी में महिलाएं कहां तक आगे पहुंची हैं।

10.4 महिलाएं और राजनीतिक सहभागिता

संसद और राज्य विधान सभाओं में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत सीटें आरक्षित करने के प्रस्तावित विधेयक को लेकर राष्ट्रीय नेताओं ने संसद में अभी हाल ही में जो हंगामा खड़ा किया वह उनके पाखंड, कुंठा और असुरक्षा की भावना को दर्शाते हैं, जो असल में पुरुष वर्चस्ववाद के स्तंभ बने खड़े हैं। यह सच है कि महिला आरक्षण एक ऐसी जटिल और गहरी समस्या का एकमात्र समाधान नहीं है। मगर इसमें कोई संदेह नहीं है कि महिलाओं को निर्णय-प्रक्रिया में शामिल करने की दिशा में यह सकारात्मक कदम है। यह अपने आप में संतोषजनक बात है कि ऐसे तमाम विरोधों के बावजूद पंचायती राज अधिनियम ने गांव की हजारों महिलाओं को राजनीतिक तंत्र में सक्रिय भागीदार बनने का अवसर प्रदान किया है।

10.4.1 पंचायती राज अधिनियम और उसके निहितार्थ

कई उतार-चढ़ावों, समितियों और शुरुआती हिचकों के दौर से गुजरने के बाद 73वें और 74वें संवैधानिक संशोधन अधिनियमों ने जमीनी स्तर के लोकतंत्र की अवधारणा की रचना नए सिरे से की। इन संशोधनों का मिला-जुला नाम ही पंचायती राज अधिनियम है, जिसने पंचायत व्यवस्था के परंपरागत स्वरूप को तोड़ा। खुली चुनाव प्रक्रिया के जरिए इस अधिनियम ने समाज के उपेक्षित, वंचित तबकों को पंचायत में पहुंचने का कानूनन अधिकार दिया। इसमें महिलाओं के लिए एक तिहाई सीटें आरक्षित रखी गईं। इस कार्यगत रूपरेखा के आधार पर हर राज्य ने अपने पंचायती राज अधिनियम बनाए। इसने ग्रामीण भारत के समूचे सामाजिक ढांचे में एक संभावित क्रांति का सूत्रपात किया।

इससे महिलाओं को पुरुष और स्त्री अधिकार-क्षेत्र के बीच की विभाजन रेखा को मिटाने का अधिकार मिला। वे अब "आंतरिक" अधिकार-क्षेत्र से निकल कर समानता के आधार पर "बाहरी" अधिकार-क्षेत्र में पुरुषों के बराबर भाग ले सकती हैं। विशेषकर उत्तरी भारत में तो यही हुआ जहां नातेदारी के ढांचे और गहरे सामाजिक-लिंग-भेदों को जन्म देते हैं।

10.4.2 पंचायती राज का यथार्थ

पंचायत के चुनाव भारत के लगभग सभी राज्यों में हो चुके हैं। जैसा कि अधिनियम में प्रावधान किया गया था, पंचायत राज संस्थाओं में चुनकर आने वाले जनप्रतिनिधियों में एक तिहाई महिलाएं थीं। मगर क्या इसने उनके जीवन में कोई गुणात्मक परिवर्तन किया है। क्या इस अधिनियम ने एक झटके में उन तमाम सामाजिक लिंग-अवरोधों को उखाड़ फेंका है, जिन्हें परंपरा ने युगों तक बनाए रखा है?

इस प्रश्न का उत्तर "हां" और "नहीं" दोनों हैं। इसमें संदेह नहीं है कि महिलाएं आज निर्वाचित पंचायत राज संस्थाओं का हिस्सा हैं। निस्संदेह वे घर की चारदीवारी से बाहर निकली हैं और वे सार्वजनिक अधिकार क्षेत्र में अधिकार से प्रवेश कर सकती हैं। देश की राजनीतिक प्रक्रिया में सक्रिय हिस्सेदारी करने का उन्हें मौका मिला है।

इन सब परिवर्तनों को छोड़ कर ग्राम पंचायत स्तर पर कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है, जो सबसे निचली सीढ़ी है। महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता अभी भी पितृसत्तात्मक प्रभुत्व की मोहताज है जो उन्हें किसी भी कार्यक्षेत्र में स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार, अनुमति नहीं देता।

10.4.3 छाया प्रत्याशियों का चलन

हाल में हुए पंचायती चुनावों में एक रोचक चलन देखने में आया है। इनमें ऐसी महिलाएं चुनकर आई हैं जो "छाया" या "डमी" उम्मीदवार कही जाती हैं (यह चलन उच्च स्तरीय विधान मंडलों में कोई नया नहीं है)। जब कुछ सीटों को महिलाओं के लिए आरक्षित कर दिया गया तो उस क्षेत्र के संभावित पुरुष प्रत्याशियों या पहले सरपंच या पंच रह चुके लोगों ने अपनी मां, पत्नी, चाची, भाभी इत्यादि नजदीकी संबंधियों के नाम नामांकन-पत्र दाखिल किए। इस तरीके से उन्होंने नियंत्रण को "परिवार के भीतर" ही कायम रहने दिया। इन महिला उम्मीदवारों या प्रतिनिधियों से जब चुनाव प्रक्रिया के बारे में पूछा गया तो उन्होंने उत्तर दिया कि सब काम उनके परिवार के पुरुष सदस्यों ने ही किए हैं। जब उनसे पंचायत के कामकाज के बारे में पूछा जाता है तो अक्सर यही उत्तर मिलता है: "सब कुछ तो उन्होंने ही किया, मुझे कुछ नहीं पता।"

कई महिला प्रतिनिधि पंचायत की बैठकों में भाग लेती हैं तो उनके साथ हमेशा उनके परिवार का कोई पुरुष सदस्य होता है। सामाजिक नियमों में बंधी महिलाएं इन बैठकों में यदा कदा ही बोलती हैं, यह काम साथ आए उनके पुरुष संबंधी ही करते हैं। इन महिलाओं की भूमिका बस कारवाई के रजिस्टर पर अपने हस्ताक्षर करने तक सीमित होती है। इस गैर-भागीदारी के ऐसे कई मामले प्रकाश में आए हैं जिनमें पंचायत की बैठकें चुनी गई महिला प्रतिनिधियों के बिना ही की जाती हैं और बाद में कारवाई रजिस्टर पर उनके हस्ताक्षर ले लिए जाते हैं। ऐसी महिला प्रतिनिधियों के उदाहरणों की भी कमी नहीं है जिन्हें यह जानकारी ही नहीं है कि पंचायत की सदस्य वे चुनी गई हैं, उनके पति नहीं। इस प्रकार निर्णय-प्रक्रिया में महिलाओं की सहभागिता को बढ़ाने के लिए तरह-तरह के उपाय तो किए गए हैं, मगर यथार्थ में गिनी-चुनी महिलाएं ही निर्णय-प्रक्रिया में भागीदारी कर पा रही हैं। महिलाओं की युगों से चली आ रही परंपरागत भूमिका ही सामाजिक ढांचे को, उसकी रूढ़ियों को तोड़ने में बाधक बन रही है।

अगले भाग में हम महिलाओं के सामने आने वाली तरह-तरह की बाधाओं में से कुछ के बारे में बताएंगे। मगर इससे पहले यहां उठे कुछ मुद्दों के बारे में सोचें।

जरा सोचिए 1

1) क्या आप सोचते हैं कि राज्य को महिलाओं के लिए स्वास्थ्य और शिक्षा जैसी बुनियादी सुविधाएं प्रदान करनी चाहिए? अगर आप ऐसा सोचते हैं तो इसके कारण दीजिए।

2) क्या आप सोचते हैं कि महिलाओं के उत्थान के लिए कानून बनाने से पहले महिलाओं के बारे में बुनियादी धारणाओं को बदलना जरूरी है?

10.5 महिलाओं के सामने आने वाली बाधाएं

वैधानिक अधिकारों के बावजूद निर्णय-प्रक्रिया में महिलाओं की सक्रिय हिस्सेदारी में सबसे बड़ी बाधा खुद सामाजिक ढांचा है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था की रूढ़ियों में जकड़ी होने के

कारण महिलाओं को उतनी सक्रियता से हिस्सेदारी करने की "अनुमति" नहीं मिलती जितनी उनसे आशा की जाती है। आइए अब यह देखें कि महिलाएं अपने दैनिक जीवन में खुद उन भूमिकाओं में किस तरह से बंधा महसूस करती हैं, जिन भूमिकाओं को अंजाम देने की उनसे हमेशा अपेक्षा की जाती है।

10.5.1 सामाजिक ढांचा

महिलाओं से जब पूछा गया कि पंचायत की नई-नई सदस्य बनने पर उन्हें किस तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है तो उनका उत्तर था: "कोई मुश्किल नहीं। सारा काम तो पति करता है।"

परदे में या घूंघट में रहने की प्रथा सामाजिक रचना की उपज है जो महिलाओं को पूरी तरह से भाग लेने से रोकती है।

ऐसा ही समानांतर रुझान ग्राम सभा में भाग लेने वाली महिलाओं में भी देखने में आता है। ग्राम सभा गांव के उन सभी वासियों के लिए एक खुला मंच है जिन्हें मत देने का अधिकार हो। यह लोकतांत्रिक भावना से सामयिक मुद्दों पर विचार-विमर्श करने का सिर्फ एक मंच मात्र ही नहीं है बल्कि यह पंचायत से जवाबदेही की मांग करने का भी एक माध्यम है। सो ग्राम सभा जैसे मंच में महिलाओं की भागीदारी से उन्हें उस सामाजिक ढांचे को चुनौती देने की शक्ति मिलेगी जिसकी बेड़ियों में वे जकड़ी होती हैं।

एक रोचक बात यह है कि ये सामाजिक सीमाएं ही पंचायत सदस्यों के जनसांख्यिक स्वरूप को तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। जैसे: ऐसा शायद ही कहीं देखने में आए कि कोई अविवाहित महिला पंचायत की सदस्य चुनी गई हो। यह सच है कि ग्रामीण भारत में विवाह के समय लड़कियों की औसत आयु अभी भी काफी कम रहती है, मगर यह भी सच है कि किसी विवाहित बेटी का बाप अपनी बेटी या अपने परिवार की प्रतिष्ठा को दांव पर लगाना कभी नहीं चाहेगा।

राजनीतिक सहभागिता को प्रभावित करने वाला एक और कारक आयु है। एक नव नवेली दुल्हन की तुलना में थोड़ा सा उम्रदराज़ महिला जिसके बच्चे बड़े हो गए हों, जिसे हर कोई चाची या मौसी के रिश्ते से बुलाता हो, उसे कहीं ज्यादा आजादी हासिल होती है। इसके उदाहरणों की कोई कमी नहीं है कि जब कभी एक सुशिक्षित नव-नवेली वधु समाज में ऐसी कोई सक्रिय भूमिका अदा करना चाहती है तो अक्सर उसका पति और ससुराल वाले उसे सख्ती से रोक देते हैं। सो उसे ऐसे सारे दायित्व अपने पति या ससुराल वालों को सौंप कर संतोष कर लेना पड़ता है।

समाज के यही नियम गांव की "बेटी" को "बहू" से ज्यादा स्वतंत्रता देते हैं। जब कुछ बिना घूंघट की महिलाओं से इसका कारण पूछा जाता है तो उनका उत्तर होता है: "ये तो हमारा पीहर है। यहां हमें कोई रोक-टोक नहीं है"।

सामाजिक संरचना की एक और उपज ग्रामीण क्षेत्रों में मौजूद कठोर जाति-व्यवस्था है। सवर्ण जाति के पुरुष जो अभी तक पंचायतों पर कब्ज़ा जमाए हुए थे वे इस नई व्यवस्था से बेहद घबराए और बौखलाए हुए हैं। वे उन पर अपना नियंत्रण छोड़ने को राजी नहीं हैं। इसलिए छोटी जाति की महिलाओं को जातिगत और सामाजिक-लिंग सोच जनित दोनों तरह के पूर्वाग्रहों का शिकार बनना पड़ता है।

सामाजिक संरचना ढांचे के अलावा महिलाओं के सामने आने वाली सबसे बड़ी बाधा निरक्षरता है।

10.5.2 निरक्षरता

हमारे देश में निरक्षर जनसंख्या में महिलाओं का तबका शायद सबसे बड़ा होगा। स्थिति में कोई सुधार नहीं लाया गया है। महिला निरक्षरता की इस बेहद निराशाजनक स्थिति के कई कारण हैं।

सुकन्या बाई - बोरोडिया गांव, मध्य प्रदेश
सौजन्य : देबल के. सिहंराय, इग्नू, नई दिल्ली

मगर महिलाओं की इतनी भारी संख्या का निरक्षर होने का मुख्य कारण शिक्षा और महिलाओं को लेकर प्रचलित सामाजिक धारणाओं का जटिल जाल है। पंचायत की सदस्य बनने वाली महिलाओं से जब पूछा गया कि वे कहां तक पढ़ी हैं तो ज्यादातर ने खेदपूर्वक सिर हिलाकर कहा: "हम तो अनपढ़ हैं, हमें कुछ नहीं आता।" दरअसल लड़कियों को शिक्षित करना पैसे और समय की बर्बादी समझा जाता है। जब कभी यह पूछा जाता है कि लड़की स्कूल क्यों नहीं जाती तो अक्सर यही सुनने को मिलता है, "पढ़ लिखकर क्या करेगी। उसका काम तो घर में है।" यह आम दृष्टिकोण निम्न वर्गों और अशिक्षित लोगों में ही नहीं मिलता बल्कि शिक्षित और संपन्न वर्गों के लोग भी यही दृष्टिकोण लेकर चलते हैं। फिर अगर कोई महिला शिक्षित और कामकाजी है, स्वालंबी है तो भी उसे अपने घर में इतनी स्वतंत्रता नहीं है कि वह निर्णय-प्रक्रिया का हिस्सा बन सके। महिलाओं को अक्सर धन अर्जन के लिए नौकरी करने के साथ-साथ घर के दायित्वों को भी पूरा करने का बोझ अकेले उठाना पड़ता है क्योंकि घर के दायित्व संभालने की अपेक्षा स्वाभाविक रूप से महिलाओं से ही की जाती है।

शिक्षा का अधिकार हमारे संविधान में निर्दिष्ट राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों में एक है। बारबार यही मांग उठाई जाती रही है कि शिक्षा के अधिकार को मौलिक अधिकार का दर्जा दिया जाए।

कई महिलाओं के सामने सबसे बड़ी बाधा उनकी घरेलू जिम्मेदारियां बन जाती हैं। महिलाओं के लिए अपने घर के काम-काजों और छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर पंचायत की बैठकों में भाग लेना मुश्किल हो जाता है। सो उनके घर के मर्द ही बैठकों में उनकी जगह ले लेते हैं।

10.5.3 आर्थिक बाधाएं

महिलाओं के दिमाग में अक्सर आर्थिक बाधाओं का बोझ रहता है क्योंकि पंचायत की बैठक में हिस्सा

लेने पर उन्हें अपनी रोज की दिहाड़ी गंवानी पड़ती है। कुछ ही लोगों को यह जानकारी है कि पंचायत की हर बैठक में भाग लेने की एवज में उन्हें निश्चित राशि का भुगतान करने का प्रावधान है। फिर यह लाभ कुछ गिने-चुने लोगों को ही मिल पाता है।

उपरोक्त सभी बाधाओं से महिलाएं अगर पार पा जाएं तो फिर वे राजनीतिक दलों और स्वार्थी गुटों के बीच द्वंद्व का शिकार बन जाती हैं। फिर वे कितने ही प्रयास क्यों न कर लें लाल-फीताशाही, नौकरशाही की टालमटोल, ग्राम सेवकों या सरकारी विभागों के कर्मचारियों की अनुपस्थिति ये सभी उनके लिए एक और बड़ी बाधा बन जाते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महिलाओं का राजनीतिक सशक्तिकरण करना निश्चित ही एक भगीरथ प्रयत्न है। सबसे पहले इन में से कुछ बाधाओं को दूर करना तो बेहद जरूरी है। इस इकाई के अगले भाग में हम महिलाओं को स्वालंबी बनाने वाली कुछ युक्तियों पर पंचायती राज अधिनियम के मद्देनजर चर्चा करेंगे।

अनुभव से सीखें 1

स्त्री होने के नाते आपको कौन-कौन सी बाधाओं का सामना करना पड़ता है? अपने अनुभव लिखिए और उसे अपने अध्ययन केंद्र की अन्य छात्राओं से तुलना करके देखिए।

10.6 स्वालंबन युक्तियां

ऊपर हुई चर्चा से यह साफ ज़ाहिर हो जाता है कि कानूनी या वैधानिक प्रावधान ही पर्याप्त नहीं हैं। मगर तस्वीर इतनी निराशाजनक भी नहीं है। हज़ारों की संख्या में महिलाएं चुनकर राजनीतिक क्षेत्र में आ रही हैं। वे संक्रमणकाल से गुजर रही हैं जिसे पूरा होने में कुछ समय अवश्य लगेगा। अपने दायित्वों का पूरा लाभ उठाने और उनका निर्वाह पूरे समर्पण भाव और सहजता से करने के लिए महिलाओं को कुछ विशेष स्वालंबन युक्तियों से लैस किए जाने की जरूरत है। उन्हें ऐसी सहायक व्यवस्था या सुरक्षा युक्तियां प्रदान की जानी चाहिए जो उन्हें कठिनाइयों को दूर करने और अधिक स्वतंत्रता से काम करने में उनके लिए सहायक हों।

10.6.1 स्वालंबन युक्तियों की आवश्यकता

पंचायत का चुनाव लड़ने से पहले जो महिलाएं किसी स्वयंसेवी संगठन, महिला मंडल या विकास कार्य से सक्रिय रूप से जुड़ी थीं, उनकी सफलता से यह स्पष्ट हो जाता है कि महिलाओं के लिए ऐसी ही कुछ स्वालंबन युक्तियों की आवश्यकता है। जहां कहीं भी ऐसी महिलाओं को चुना गया है उन्हें आत्म-विश्वास से भरपूर और अपनी जिम्मेदारियों के निर्वाह में सक्षम पाया गया है। स्वयं सेवी संगठनों, महिला मंडलों की गतिविधियों या किसी किस्म के विकास कार्य से उनके जुड़ाव ने उन्हें बुनियादी दक्षताओं से लैस किया है जो उन्हें तमाम कठिनाइयों के बावजूद पंचायत के काम-काजों को सफलतापूर्वक अन्जाम देने में बड़े सहायक साबित होते हैं। ऐसी महिलाएं जानकार, राजनीतिक रूप से सचेत, सामाजिक प्रासंगिकता वाले विभिन्न मुद्दों के प्रति संवेदनशील होती हैं। फिर उन्हें अड़ियल, हठी गांव वासियों और सरकारी अधिकारियों को समझाना-बुझाना, उनसे अपनी बात मनवाना भी खूब आता है।

इस तरह की तैयारी के दौर से गुजरने के अलावा ऐसी महिलाओं को स्वयंसेवी संगठनों और अन्य संस्थानों से बराबर समर्थन मिलता रहता है। राजनीतिक प्रतिनिधियों के रूप में यह उनकी शक्ति को और प्रभावशाली बनाता है।

उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि महिलाओं को किस तरह की "स्वालंबन युक्तियों" से लैस किए जाने की जरूरत है ताकि वे ऐसी बड़ी चुनौती का सफलता से सामना कर सकें।

यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्वयंसेवी संगठनों द्वारा निरंतर प्रदान की जाने वाली स्वालंबन युक्तियां परिवर्तन की पूरी प्रक्रिया को सहज बना देती हैं। मगर दूसरी ओर तात्कालिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए इन्हें दोहराना कठिन हो सकता है। सो वैकल्पिक और यथेष्ठ रणनीतियों का पता लगाने और उन्हें मूर्त देने की जरूरत है। लेकिन इसके लिए गहन प्रयासों की आवश्यकता है जो महिलाओं के सभी बड़े तबकों तक पहुंचे।

10.6.2 स्वालंबन युक्ति के माध्यम के रूप में प्रशिक्षण

महिलाओं के इस तरह के लक्षित समूह के विशिष्ट, लक्ष्योन्मुखी स्वालंबन युक्तियों के विकास के लिए प्रशिक्षण संभवत: एक आदर्श माध्यम हो सकता है।

सरकार विभिन्न पंचायती राज संस्थाओं के लिए चुने गए प्रतिनिधियों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाती है। मगर ये कार्यक्रम मुख्यत: सरपंचों और उनसे ऊंचे पंचायत पदों के लिए हैं। इन कार्यक्रमों में ग्राम/वार्ड पंचों के लिए कोई स्थान नहीं है, जिन्हें कि स्वालंबन युक्तियों की जरूरत सबसे ज्यादा पड़ती है। तिस पर ये कार्यक्रम सामाजिक-लिंग (जेंडर) प्रशिक्षण कार्यक्रम भी नहीं हैं, इसलिए ये महिलाओं की विशेष जरूरतों को पूरा नहीं करते। इनकी एक बड़ी कमजोरी यह है इन कार्यक्रमों में सारी जानकारी को "एक बार" में बता दिया जाता है, जिससे व्यवस्था में नए-नए आए अधिकांश प्रशिक्षणार्थियों के लिए सभी कुछ याद रख पाना कठिन हो जाता है। आदर्श स्थिति तो यह रहती कि इन कार्यक्रमों में प्रशिक्षण कार्यशालाएं एक श्रृंखला में आयोजित की जाती जिसमें आरंभिक प्रशिक्षण के बाद छोटे मगर गहन रिफ्रेशर कोर्स कराए जाते। दूसरी तरह से कहें ये कार्यक्रम निरंतर चलने वाली स्वालंबन युक्ति हों।

इस तरह के प्रशिक्षण का मुख्य लक्ष्य चुनी जाने वाली महिला प्रतिनिधियों में सामर्थ्य का विकास होना चाहिए। प्रशिक्षण कार्यक्रम में ये बातें शामिल की जानी चाहिए:

- आत्म-विश्वास का विकास/लामबंदी/प्रेरणात्मक प्रशिक्षण
- पंचायत अधिनियम, कानूनी और प्रक्रिया संबंधी जटिलताओं पर जानकारी
- सरकारी अधिकारियों से निपटने के लिए दिशा-निर्देश
- सामाजिक मुद्दों पर संवेदनशील बनाना
- काम चलाने योग्य साक्षरता।

प्रशिक्षण ओडियो-विजुवल माध्यम, चार्ट, चित्र, कठपुतली के शो, नाटकों, गीतों के जरिए दिया जाना चाहिए।

स्थानीय स्वयंसेवी संगठनों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, अध्यापकों इत्यादि के साथ एक नेटवर्क स्थापित किया जाए जो संकटकालीन स्थितियों में सहायता और मार्गदर्शन कर सकें।

महिला जन-प्रतिनिधियों को लक्ष्य बनाने के अलावा ग्राम सभा की सभी महिलाओं को कुछ बुनियादी प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। पंचायती राज संस्थाओं में सीटों का आरक्षण चक्रण द्वारा निर्धारित किया जाता है। सो कल हो सकता है ग्राम सभा से भी कुछ महिलाएं चुनी जाएं। इसलिए उन्हें पहले से तैयार रखे जाने की जरूरत है। समूचे समुदाय को लक्ष्य बना कर चलना सबसे जरूरी और चुनौती भरा कार्य है। उसे अल्पकालीन प्रशिक्षण शिविरों और विभिन्न ओडियो-विजुअल तकनीकों के जरिए संवेदनशील बनाए जाने की आवश्यकता है। यह धीरे-धीरे बुनियादी तंत्र में उनके संक्रमण को आसान बनाएगा और फिर महिलाओं को स्वालंबन युक्तियों की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। महिलाओं को अगर आगे लाना है और उन्हें वास्तव में राजनीतिक प्रक्रिया में सच्चा भागीदार बनाना है तो उसके लिए ये सभी प्रयास जरूरी हैं।

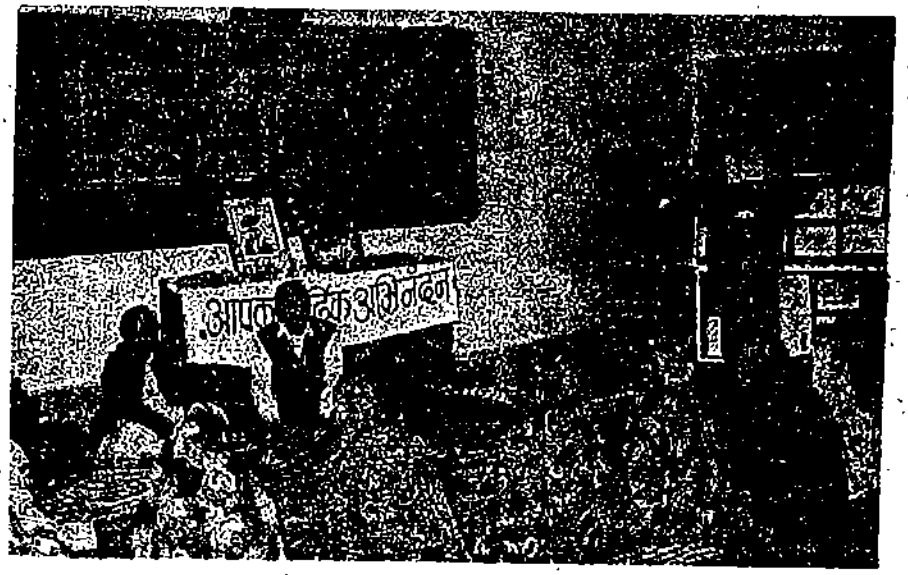

पंचायत सदस्यों के लिए प्रशिक्षण
सौजन्य : आशा मिश्रा, भोपाल

क्या आप जानते हैं? 1

"हमारे समाज का सबसे बड़ा अभिशाप हमारी बेहद पेचिदा, भ्रष्ट, ऊपर से भारी, क्रमपरंपरावादी प्रशासनिक व्यवस्था है जो हमारे शासकों को उनके औपनिवेशक आकाओं से विरासत में मिली है। यह व्यवस्था बेलगाम है, जिसमें कोई उत्तरदायी नहीं है। जनसाधारण के पास ऐसे साधन नहीं है कि वे सरकार के खिलाफ अपनी शिकायत का समाधान पा सकें। उनकी इस असहाय स्थिति को देश के नियम और कानून और बिगाड़ते हैं, जो इतने जटिल हैं। और ऐसी अपरिचित भाषा में बनाए गए हैं कि आम आदमी विशेषकर महिलाएं, उन्हें न तो समझ सकती हैं और न ही उनका विरोध कर सकती हैं। यह वजह है कि सरकार बुनियादी मानवाधिकारों का खुल्लम-खुल्ला उल्लघन करती है और कोई अंगुली नहीं उठती।

(मधु किश्वर, 1991 : 45)

ज़रा सोचिए 2

1) समाज में महिलाओं की स्थिति महिलाओं के लिए शिक्षा प्राप्त करना किस तरह से कठिन बनाती है?

2) महिलाएं अब धन कमाती हैं और आजीविका अर्जन भी कर रही हैं, मगर अपने कमाए धन को अपनी मर्जी से खर्च करना उनके लिए कठिन क्यों होता है?

3) क्या आप सोचते हैं कि प्रशिक्षण से महिलाओं में आत्म-विश्वास पैदा होगा और वे अपनी परंपरागत भूमिकाओं के दायरे से बाहर निकलेंगी?

10.7 सारांश

महिलाओं के संघर्ष और प्रतिक्रिया में राज्य की पहल पर इस इकाई में हमने महिलाओं द्वारा किए गए संघर्षों और उनके उत्तर में राज्य की प्रतिक्रिया और महिलाओं के प्रश्न के प्रति राज्य के आम नजरिए पर रोशनी डालने का प्रयास किया है। जैसा कि पीछे कहा गया है, हमने महिलाओं के किसी आंदोलन विशेष पर ध्यान नहीं दिया है बल्कि हमने यह देखने का प्रयास किया है कि हमारे समाज के विभिन्न क्षेत्रों में महिलाएं किस जगह खड़ी हैं जैसे राजनीतिक क्षेत्र या आर्थिक क्षेत्र। हमने यहां बेहद सामान्य और सरसरी सी तस्वीर पेश की है। आगे अपने चयनात्मक पाठ्यक्रमों की इकाइयों में हम इन पर विस्तार से रोशनी डालेंगे।

महिलाओं की पराधीनता जैसे सामाजिक प्रसंग को सारबद्ध करना बड़ा कठिन कार्य है। फिर भी हम कह सकते हैं कि महिलाओं की समस्याओं के प्रति राज्य की प्रतिक्रिया 'जन-निरपेक्ष' (टॉप डाउन) का रवैया अपनाने से ज्यादा नहीं रही है, जिसमें महिलाओं को कृपा का पात्र माना जाता है। इसका परिणाम अक्सर समूची समस्या के प्रति आधा अधूरा दृष्टिकोण रहा है। सबसे बड़ी बात यह है कि सार्वजनिक अधिकार-क्षेत्र में महिलाओं के मुद्दों का समाधान निकालने तक ही राज्य ने खुद को सीमित रखा है। उसने महिलाओं के निजी अधिकारक्षेत्र को परिभाषित करने का काम परंपरा, संस्कृति और समुदाय के हवाले छोड़ दिया है। हालांकि ऐसे विधान बनाए गए हैं जो विवाह की आयु या दहेज जैसे इन निजी क्षेत्रों में हस्तक्षेप का प्रयास तो करते हैं मगर ये सिर्फ आंशिक रूप से ही प्रभावी रहे हैं। एक कारण तो यह है कि राज्य यह नहीं देख पाया है कि तथाकथित निजी और सार्वजनिक क्षेत्र परस्पर जुड़े हैं, वे एक-दूसरे के पूरक हैं सो उन्हें साथ-साथ बदले जाने की जरूरत है। प्रधानत: एक पितृसत्तात्मक समाज में, जिसमें सार्वजनिक और निजी क्षेत्र दोनों पर पितृसत्तात्मक मूल्य हावी हों, महिलाओं की दशा को बदलने का आधा अधूरा प्रयास उनके हितों को ज्यादा दूर तक नहीं ले जा सकता।

इस इकाई में हमने पंचायती राज अधिनियम पर चर्चा की है जो राजनीतिक प्रक्रिया में अधिक सक्रिय भूमिका के लिए महिलाओं के संघर्ष के उत्तर में राज्य की प्रतिक्रिया का एक उदाहरण है। इस सरसरी चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब तक पूरा समाज महिलाओं के सरोकारों की ओर संवेदनशील नहीं बनता, ऐसा कानून अधूरा रह जाता है। हालांकि स्थिति इतनी निराशाजनक भी नहीं है और इस कानून ने परिवर्तन के उत्प्रेरक का काम किया है, फिर भी हमें एक व्यापक परिप्रेक्ष्य की जरूरत है।

इस बदलाव के लिए कई सहायक व्यवस्थाओं की जरूरत है और पंचायती राज पर हुई चर्चा के मद्देनजर हमने सुझाया है कि पंचायती राज प्रणाली में महिलाओं की बड़े पैमाने पर भागीदारी के लिए प्रशिक्षण उन्हें स्वालंबी बनाने की एक युक्ति है। यह सिर्फ एक समान्य युक्ति है। प्रत्येक समस्या का एक विशिष्ट परिप्रेक्ष्य और विशेष प्रतिक्रियाएं होती हैं। इसलिए समस्या की विशिष्टता को ध्यान में रखा जाना जरूरी है लेकिन इसके साथ ही यह भी जरूरी है कि हम उस जटिल सामाजिक परिप्रेक्ष्य को अनदेखा नहीं करें, जिसके मूल में समस्या स्थित है।

इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि महिलाएं अभी तक सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से असुरक्षित हैं। मगर मौजूदा सामाजिक-राजनीतिक आर आर्थिक परिवेश में निर्णय करने का अधिकार मिलने से वे काफी हद तक अपनी नियति को नियंत्रित कर सकती हैं। महिलाओं के लिए पूर्ण सशक्तिकरण और समानता हासिल करने का यह एक कारगर माध्यम साबित हो सकता है।

अगली इकाई में हम कुछ विधानों, संवैधानिक प्रावधानों और कानूनों पर चर्चा करेंगे। यह मूल्यांकन करेंगे कि ये कानून कहां तक महिलाओं को अपने बूते खड़ा करने में सहायक हैं।

10.8 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

समग्रतावादी (Holistic) : स्थितियों को देखने का नजरिया जो उनके विभिन्न पहलुओं और उनके अंतरसंबंध को लेकर चलता है।

सामाजिक रचना (Social Construction) : एक जन-समुदाय द्वारा किसी विचार, भूमिका या ऐसी किसी चीज की रचना, जो प्राकृतिक रूप से प्रदत्त नहीं होती। उदाहरण के लिए, मां की धारणा हालांकि एक स्वाभाविक रचना समझी जाती है, मगर यह भी एक सामाजिक रचना है। मां के लिए क्या अपेक्षित है क्या नहीं भिन्न-भिन्न समाज इसे भिन्न-भिन्न तरीके से तय करते हैं, जिससे यही पता चलता है कि ऐसी सामाजिक रचनाएं समान नहीं होतीं।

10.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1974 *रिपोर्ट ऑफ द कमेटी ऑन द स्टैटस ऑफ वीमेन इन इंडिया* (भारत में महिलाओं की स्थिति पर गठित समिति की रिपोर्ट) भारत सरकार.

इकाई 11 बेहतर कानूनों के लिए जारी संघर्ष–भाग एक

रूपरेखा

11.0 लक्ष्य और उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 बेहतर कानूनों के लिए संघर्ष की पृष्ठभूमि

- 11.2.1 महिलाओं के संघर्ष का बदलता स्वरूप
- 11.2.2 महिलाओं की बदलती छवि
- 11.2.3 विधान और महिला अधिकार

11.3 संवैधानिक प्रावधान

11.4 सत्तर और अस्सी के दौरान संघर्ष

- 11.4.1 भारत में महिलाओं की स्थिति पर गठित समिति की रिपोर्ट
- 11.4.2 राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य योजना
- 11.4.3 दोनों रिपोर्टों पर एक सरसरी नजर

11.5 महिलाएं और राजनीतिक सहभागिता

- 11.5.1 संविधान में 73वें और 74वें संशोधन
- 11.5.2 81वां संवैधानिक संशोधन विधेयक, 1996

11.6 सारांश

11.7 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

11.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.0 लक्ष्य और उद्देश्य

इस इकाई में हम कुछ स्वालंबन युक्तियों के बारे में बताएंगे जो संविधान में दिए गए प्रावधानों, विभिन्न विधानों, अधिनियमों और कानूनों के रूप में उपलब्ध हैं।

इस इकाई का लक्ष्य आपको :

- वैधानिक न्याय के संघर्ष की पृष्ठभूमि और उसके परिप्रेक्ष्य के बारे में बताना है;
- सामाजिक-लिंग (जेंडर) न्याय के संबंध में भारतीय संविधान में उपलब्ध विभिन्न प्रावधानों पर चर्चा करना है;
- भारत में महिलाओं की स्थिति या हैसियत पर जारी की गई रिपोर्टों और उन की सिफारिशों का विश्लेषण करना है; और
- यह मूल्यांकन करना है कि स्वालंबन युक्ति के रूप में कानूनों को और मजबूत बनाने के लिए क्या किया जाना जरूरी है।

इस इकाई का उद्देश्य अनिवार्यत: तमाम कानूनी प्रावधानों का विशेष रूप से महिलाओं के मुद्दों के संदर्भ में हर कोण से मूल्यांकन करना है ताकि कानूनी प्रावधानों के मद्देनजर महिलाओं की हैसियत का सही अंदाजा लगाया जा सके।

11.1 प्रस्तावना

समाज के सबसे शोषित, उत्पीड़ित तबकों के हितों की रक्षा के लिए स्वतंत्र भारत ने कानून बनाने की जरूरत महसूस की ताकि समाज में बदलाव और समानता आए। सामाजिक-लिंग समता और महिलाओं को तमाम तरह के भेदभावों से बचाने के लिए हमारा संविधान अवसर की समानता और सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक न्याय की बात करता है।

विधान ने निश्चित ही महिलाओं की कानूनी हैसियत के लिए नींव रखी है और ऐसे क़ानूनी उपाय प्रदान किए हैं महिलाएं जिनके जरिए विभिन्न भेदभावपूर्ण प्रचलनों या व्यवहारों से मुक्ति पा सकती हैं। मगर महिलाओं से जुड़े कई कानूनों में खुद कुछ अंतर्निहित सामाजिक लिंग-पूर्वाग्रह हैं। इन कानूनों की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि ये बदलती सामाजिक परिस्थितियों को लेकर नहीं चलते। लिंग-पूर्वाग्रह से ग्रसित होने के अलावा महिलाओं को समानता देने के प्रयास में जब कभी इनकी व्याख्या की जाती है तो अक्सर यह व्याख्या महिलाओं के हितों के विरोध में जाती है।

बेहतर कानूनों के लिए जारी महिलाओं के संघर्षों पर इस इकाई में हम विभिन्न कानूनों, उनकी पृष्ठभूमि और व्यवहार में उनकी प्रभावशीलता का विवेचन करेंगे।

11.2 बेहतर कानूनों के लिए संघर्ष की पृष्ठभूमि

कोई भी व्यक्ति जब शालीनता, नैतिक या स्वीकार्य आचरण की मर्यादा को भंग करता है तो उस व्यक्ति को सजा दी जाती है। प्राचीन, छोटे जनसमुदायों में सज़ा समूचा समुदाय तय करता था और सज़ा अक्सर समुदाय के भीतर ही दी जाती थी। सज़ा के रूप में अक्सर दोषी व्यक्ति का सामाजिक बहिष्कार किया जाता था। मगर ऐसे आधुनिक समाज में जहां सज़ा के रूप में दोषी को कोई कलंक ढोना नहीं पड़ता और महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार और विशेषाधिकार उपलब्ध नहीं हैं, उसमें महिलाओं के उत्पीड़न, उनके दमन को रोकने के लिए विधान ही एक महत्वपूर्ण रास्ता बच जाता है।

11.2.1 महिलाओं के संघर्ष का बदलता स्वरूप

समानता का हर आंदोलन या संघर्ष एक विचारधारा या नजरिया लेकर चलता है जो उसकी दिशा और स्वरूप को तय करता है। इसी तरह सामाजिक लिंग-समता के लिए महिलाओं ने जो-जो संघर्ष छेड़े हैं, उन्होंने मौजूदा धारणाओं, महिलाओं की भूमिका और पहचान बदलने का प्रयास किया है। यह उनकी मांगों में नजर आ जाता है और कानून और विधान भी उनमें से एक मांग है।

लगभग एक सदी के महिला आंदोलन के अपने वर्णन में राधा कुमार कहती हैं कि "औपनिवेशिक शासन के अनुभव का 20वीं सदी के नारी-अधिकारवादी आंदोलन पर सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा, जिसने उनके स्वरूप को तय किया" और स्वतंत्राकालीन भारत में लोकतंत्र ने समकालीन नारी-अधिकारवादी आंदोलन को प्रभावित किया है (कुमार,. 1993 : 1)।

उन्नीसवीं सदी में हुए समाज सुधार आंदोलन महिलाओं के मुद्दों पर केन्द्रित थे। इन मुद्दों को उठाया भी तो पुरुषों ने। मगर 19वीं सदी के आखिरी वर्षों तक इन आंदोलनों में महिलाओं की भी कुछ-कुछ भागीदारी होने लगी थी। फिर 20वीं सदी में महिलाओं के स्वतंत्र संगठन अस्तित्व में आ चुके थे। स्वतंत्रता-कालीन भारत में शुरुआती दौर में महिलाओं की सक्रियता में शिथिलता आ गई थी, जिसका

कारण संविधान में समानता की गारंटी थी। बहरहाल सत्तर के दशक में जाकर यह एहसास हुआ कि समानता की यह धारणा छलावा मात्र है। सो सत्तर और अस्सी के दशकों में महिला आंदोलन में सक्रियता आई, जिसने चिंतन का दायरा बढ़ाया और महिलाओं को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयास किया। इस परिवर्तन को हम महिलाओं के संघर्ष के इन सभी चरणों में महिलाओं की छवि को किस तरह से सोचा और रचा गया था, उसमें देख सकते हैं।

11.2.2 महिलाओं की बदलती छवि

राधा कुमार का यह मानना एक तरह से तर्कसंगत है कि बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में मां को एक प्रतीक और रूपक के रूप में प्रयोग किया गया था, जिसके इर्द-गिर्द महिलाओं के संघर्ष चलाए गए थे। फिर गांधी जी ने मां के रूप में नारी के धैर्य और त्याग के नैसर्गिक गुणों का खूब महिमा मंडन किया जिसे कई नारी-अधिकारवादियों ने बड़ी तत्परता से अपनी परिभाषा का विस्तार और व्याख्या के रूप में लिया (कुमार : 2)। मगर जहां तक अधिकारों की बात थी नारी-अधिकारवादियों ने पुरुषों के साथ समानता की मांग की। इस तरह स्वतंत्रता-पूर्व नारी अधिकारवादी एक ओर सामाजिक-लिंग सोच-आधारित अपनी परिभाषाओं से चिपके रहे तो दूसरी ओर उन्होंने नारी के लिए एक ऐसे जीवन की मांग की जिसका आधार समानता और अभिन्नता थी, न कि पूरकता और भिन्नता।

स्वतंत्रताकालीन नारी-अधिकारवाद ने सामाजिक-लिंग आधारित भेदों को कभी मुद्दा नहीं बनाया। बल्कि इसने समानता और समान अधिकारों के सिद्धांत को अपना आधार बनाया। नारी की जो छवि इस पर छायी रही वह बेटी और कामकाजी महिला की छवि थी।

"प्रतीक के रूप में बेटी का प्रयोग एक महत्वपूर्ण कदम था क्योंकि यह बालपन से ही एक नई किस्म की आत्म-खोज़ की ओर ले जाता था। प्रदर्शनियों, नाटकों, पर्चों के माध्यम से समकालीन नारी अधिकारवादियों ने लड़की के रूप में जन्म लेने की पीड़ा, यौन आशंकाओं, विवाह के बाद अपने प्रिय जनों से सदा के लिए बिछुड़ जाने का दुःख और भय और फिर एक और बेटी का जन्म होने पर पीड़ा, दुःख और दुत्कार के पूरे चक्र की पुनरावृत्ति को अपने अभियान का केन्द्र बनाया।" राधा कुमार लिखती हैं कि असुरक्षा की इस पुकार ने "भारतीय नारी अधिकारवादी आंदोलन को एक नई व्यक्तिपरकता प्रदान की" (कुमार, 2)।

कामकाजी महिला की छवि ने सिर्फ महिलाओं की उत्पादक भूमिका को नहीं देखा। बल्कि उसने श्रम के लैंगिक विभाजन को भी देखा। सो नारी अधिकारवादियों ने यह बात उठाई कि इस विभाजन ने किस तरह "महिलाओं को असमान मजदूरी देकर उन्हें अकुशल कामधंधों के दायरे में समेट कर रख दिया" (कुमार : 2)। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि पारिवारिक श्रम के पूरे दायरे पर यही विभाजन हावी था। सत्तर के नारी-अधिकारवादी आंदोलन ने महिलाओं की दशा की जटिलता और विविधता को स्वीकारा क्योंकि महिलाएं भी जाति, धर्म, क्षेत्र, समुदायों जैसे विभिन्न औपचारिक ढांचों के आधार पर विभाजित हैं। इस समस्या के चलते महिला आंदोलन संपूर्ण नारी जाति के अधिकारों, संघर्ष के लिए एक व्यापक एजेंडा नहीं बना पाया। यही समस्या लिंग-समता के लिए महिलाओं के संघर्ष पर हावी बनी हुई है।

महिला अधिकारों की परिभाषा में एक महत्वपूर्ण विस्तार यह रहा कि इसमें अपने जीवन पर अपने नियंत्रण की आवश्यकता को भी जोड़ा गया। आर्थिक या राजनीतिक स्वतंत्रता को कई कार्यक्षेत्रों में एक माना गया।

एक और सरोकार को उठाया गया जो अभी तक उपेक्षित रहा है। यह है अपनी देह और लैंगिकता पर अपना नियंत्रण। महिलाओं के इस नजरिए को कानूनी जामा पहनाने के लिए महिलाओं से जुड़े अपराधों की कानूनी परिभाषा को व्यापक बना कर उसमें कौटुम्बिक बलात्कार और वेश्याओं से बलात्कार जैसे कुकृत्य भी शामिल किए गए।

इस चर्चा के अंत में हम कह सकते हैं कि महिला कार्यकर्ताओं और नारी अधिकारवादियों के सरोकार महिला आंदोलनों में झलकते हैं, कानून बदलने या बनाने की लड़ाई इन्हीं आंदोलनों का एक हिस्सा है।

11.2.3 विधान और महिला अधिकार

जैसा कि हमने पीछे बताया है महिलाओं के अधिकारों के दायरे को महिलाएं निरंतर बढ़ाती जा रही हैं। यही नहीं उन्होंने इसमें सुधार भी किया है। वैधानिक और कल्याणकारी उपायों से बाहर देखने की जरूरत तो उन्होंने महसूस की है। मगर वहीं कानून और सरकारी नियमों पर निर्भरता बढ़ती जा रही है। कानूनी उपायों को अनिवार्य तो माना जाता है, मगर वहीं बनाए जाने वाले कानूनों की प्रकृति और राज्य की भूमिका के बारे में संदेह महिलाओं के संघर्षों की पृष्ठभूमि में हमेशा बने रहे हैं।

कानून बनाने के आरंभिक सरोकारों के बाद महिलाओं ने उनके कार्यान्वयन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने कानूनों में निहित्त पूर्वाग्रहों के मुद्दे को भी उठाया। एक समान नागरिक कानून की आवश्यकता पर बहस अभी भी जारी है, जो अल्पसंख्यकों के खिलाफ किसी पूर्वाग्रह रहित न्यायसंगत कानूनों की दिशा में एक प्रयास है। पहले से मौजूद कानूनों का कार्यान्वयन कई कारणों से धीमा रहा है। समाज के कुछ प्रतिष्ठित, शक्तिशाली लोग कानून की लंबी बाहों से बच जाते हैं तो कमजोर लोग यही महसूस करने लगते हैं कि कानून उन लोगों का दास है जो शक्तिशाली और संपन्न हैं। भारत जैसे बहुसांस्कृतिक ताने-बाने और विविध हितों वाले लोकतांत्रिक देश में राज्य की संस्थाएं सामुदायिक मांगों या निहित स्वार्थों को हवा देती रही हैं। पितृसत्तात्मक समाज में कानूनों के बेहतर कार्यान्वयन के प्रयास में महिला संगठन पुलिस, न्यायपालिका या राज्य की ऐसी अन्य एजेन्सियों में महिलाओं की उपस्थिति या उन्हें समुचित प्रतिनिधित्व की मांग करते रहे हैं। मगर सबसे बड़ी समस्या कानून की व्याख्या की है, महिला संगठनों को सबसे ज्यादा खतरा इसी में नजर आता है।

जैसा कि पीछे हुई चर्चा में आपने देखा होगा कि महिला संगठनों और नारी-अधिकारवादियों ने बेहतर कानूनों के लिए अपना संघर्ष बराबर जारी रखा है। जब तक महिलाएं वंचित, उपेक्षित रहेंगी जाहिर है तब तक सामाजिक लिंग-न्याय के लिए संघर्ष जारी रहेगा।

इकाई के आगे के भागों में हम आपको समानता की दिशा में महिला आंदोलन की इस यात्रा के बारे में संक्षेप में बताएंगे, जो सिर्फ कानून बनाने के लिए ही नहीं बल्कि इन कानूनों की बराबर निगरानी करने के लिए चल रही है ताकि ये कानून-सामाजिक-लिंग न्याय प्रदान करें।

अनुभव से सीखें 1

किसी ऐसी महिला का उदाहरण दें, जिसे कोई मुकदमा लड़ते हुए भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा हो।

इकाई के अगले भाग में हम भारतीय संविधान में प्रतिष्ठापित महिलाओं की वैधानिक स्थिति पर सरसरी दृष्टि डालेंगे। हम इसके कुछ प्रावधानों का समालोचनात्मक विश्लेषण भी करेंगे।

11.3 संवैधानिक प्रावधान

भारत का संविधान ही देश का मूल भूत कानून है। जहां तक महिलाओं की वैधानिक हैसियत की बात है, तो संविधान का अपनाया जाना ही अपने आप में एक ऐतिहासिक घटना थी। संविधान का प्रस्तावना दृढ़ता से देश के सभी नागरिकों को समान दर्जा देता है और अवसर की समानता और सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय दिलाने का संकल्प करता है।

भारतीय संविधान यह कहता है कि पुरुष और स्त्रियों के साथ समानता का व्यवहार किया जाए {अनु. 14, 15(1) और अनु. 16(2)}। दुकान, रेस्तरां, होटलों और मनोरंजन के स्थलों में प्रवेश पर लिंग के आधार पर कोई रोकटोक नहीं है। संविधान की भावना के अनुरूप भारत के उच्चतम न्यायलय ने भी ऐसे नियम को असंवैधानिक करार दिया है जो विवाहित महिलाओं को किसी पद पर नियुक्त होने से रोके या विवाह होने पर उनसे इस्तीफा मांगे, क्योंकि पुरुषों के मामले में ऐसे कोई पूर्वाग्रह नहीं बरते जा रहे थे।

समानता के इस उपबंध के बावजूद संविधान महिलाओं और बच्चों के लिए ऐसे विशेष प्रावधानों की अनुमति देता है {अनु. 15(3)} जो समानता और गैर-भेदभाव के सिद्धांत का उल्लंघन नहीं करें। इस अनुच्छेद के अंतर्गत 'राज्य' महिलाओं और बच्चों की स्थिति में सुधार लाने और उनके साथ बरते जा रहे अन्याय को दूर करने के लिए विशेष प्रावधान कर सकता है।

इसे स्पष्ट करते हुए भारत के मुख्य न्यायधीश स्व. मुखर्जी ने लिखा था: "जो लोग गैर-बराबर हैं, उन पर असल में एक ही तरह के मानदंड लागू नहीं हो सकते। कानूनन यह समानता हो सकती है मगर वास्तविकता में यह समानता नहीं होगी।"

हमारे देश के कानून में ऐसे कई तरह के प्रावधान हैं जो महिलाओं को विशेष सुरक्षा और सुविधाएं प्रदान करते हैं। जैसे स्थानीय निकायों में महिलाओं के लिए सीटों के आरक्षण का प्रावधान किया गया है। इसी तरह फैक्टरी अधिनियम में ऐसे प्रावधान हैं जिनमें महिला श्रमिकों के काम के घंटे निर्धारित किए गए हैं और जोखिम भरे काम से उन्हें सुरक्षा प्रदान की गई है।

मौलिक अधिकारों के अलावा महिलाओं के लिए तीन विशेष नीति-निर्देशक सिद्धांत भी हैं। इन सिद्धांतों का सरोकार महिला और पुरुष दोनों के लिए समान काम के लिए समान वेतन, पुरुष और महिला श्रमिकों के लिए स्वास्थ्य और शारीरिक शक्ति और काम के लिए उचित और मानवीय परिस्थितियां और मातृत्व संबंधी सहायता से है।

वर्ष 1979 में हुए संविधान संशोधन ने मौलिक दायित्वों का एक अध्याय जोड़ा जिसका एक उपबंध महिलाओं की गरिमा को ठेस पहुंचाने वाले प्रचलनों को समाप्त करने, उन्हें त्यागने का निर्देश देता है। अनुच्छेद 44 महिलाओं के लिए एक और महत्वपूर्ण राज्य नीति निर्देशक सिद्धांत है। यह अनुच्छेद राज्य को समुचे देश में समान नागरिक संहिता लागू करने का निर्देश देता है। मगर इस संवैधानिक गारंटी के बावजूद विवाह, तलाक, गुजारा या निर्वाह, दत्तक-ग्रहण, संरक्षक-अधिकार और संपत्ति के उत्तराधिकार जैसे वैयक्तिक कानूनों के मामले व्यक्ति के धर्म, जाति संप्रदाय या समुदाय विशेष के आधार पर तय होते हैं। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई और फारसी सभी के वैयक्तिक कानूनों में ऐसे प्रावधान हैं जो महिलाओं के प्रति बेहद भेदभावपूर्ण हैं। इसलिए सामाजिक-लिंग-न्याय के लिए एक समान नागरिक कानून जरूरी है। समान नागरिक कानून महिलाओं को, जो कि देश की जनसंख्या का लगभग आधा हिस्सा हैं, अदालतों में समानता और न्याय दिलाएगा।

मगर संविधान में समानता की गारंटी देना एक बात है तो उसे सामाजिक वास्तविकता में बदलना दूसरी बात है। भारतीय संस्कृति और परंपरा इस हद तक पुरुष प्रधान हैं कि महिलाओं को आजीवन असमानता ढ़ोनी पड़ जाती है।

इकाई के अगले भाग में हम सामाजिक-लिंग (जेंडर) न्याय पाने के लिए किए जा रहे तरह-तरह के प्रयासों के बारे में बताएंगे। हमारे संविधान में निहित विधान और सामाजिक-लिंग समानता के बावजूद उपेक्षित महिलाओं को इसका लाभ यर्थाथ में नहीं मिल पाया है। विधान या कानून के कार्यान्वयन, व्याख्या और उसमें निहित पूर्वाग्रह जैसी कई समस्याएं हमारे सामने अभी भी मौजूद हैं। महिलाओं के मुद्दों पर सत्तर और अस्सी के दौरान फिर से विचार मंथन हुआ।

अब हम महिलाओं की स्थिति की वास्तविकता दिखाने के लिए दो रिपोर्टों के हवाले से सरकारी हलकों में चल रहे पुनर्विचार के बारे में चर्चा करेंगे। इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, आइए पिछले भाग में जो चर्चा की है, उस पर मंथन कर आप इन प्रश्नों के उत्तर दें।

जरा सोचिए 1

1) समानता से जुड़े संवैधानिक प्रावधानों के बारे में बताइए?
2) तीन महिला विशेष नीति निर्देशक सिद्धांतों का सरोकार किससे है?
3) अनुच्छेद 44 की दिशा क्या है?

स्वतंत्रता के बाद महिलाओं के मुद्दे ठंडे पड़ गए, क्योंकि आरंभ के दो दशक नए राष्ट्र की चुनौतियों से निपटने में लग गए। सत्तर के दशक में महिलाओं के उत्पीड़न के विरोध में कई आंदोलन हुए। इस दशक के अंत तक महिलाओं के प्रति हिंसा के विरोध में भी आंदोलन होने लगे थे जैसे बलात्कार, दहेज या घरेलू हिंसा।

11.4 सत्तर और अस्सी के दौरान संघर्ष

सत्तर के दशक में दो महत्वपूर्ण बातें हुई। राष्ट्र संघ ने 1975 को अंतरराष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया जिसके साथ अंतरराष्ट्रीय महिला दशक का आरंभ भी हुआ। इस वर्ष भारत में महिलाओं की स्थिति के विश्लेषण के लिए गठित की गई राष्ट्रीय समिति (1971-74) ने भी अपनी रिपोर्ट जारी की थी। इस रिपोर्ट ने जनसंख्या के बुनियादी रुझानों से लेकर महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए बनाई गई सरकारी नीतियों का मूल्यांकन किया।

फिर सातवीं पंच वर्षीय योजना के दौरान महिलाओं की स्थिति और विभिन्न पहलुओं में उनकी भूमिका का विश्लेषण करने के लिए भारत सरकार ने कई समितियां और आयोग बिठाए। इनमें सबसे महत्वपूर्ण थी भारत में महिलाओं की स्थिति पर गठित राष्ट्रीय समिति और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य योजना।

अस्सी के दशक में महिलाओं पर हो रही हिंसा के विरोध में जो भी आंदोलन हुए हर एक के उत्तर में सरकार ने कानून बनाए जिनका उद्देश्य महिलाओं की रक्षा करना था। बलात्कार संबंधी कानूनों में 1983 में हुए संशोधन के बाद कई और संशोधन हुए। सो दहेज विरोधी कानून में भी संशोधन कर भारतीय दंड संहिता में 498 'ए' और 304 'बी' धाराएं जोड़ी गईं। इसी तरह वेश्यावृत्ति, महिलाओं के अश्लील चित्रण, सती और यौन लिंग-निर्धारण परीक्षणों पर रोक लगाने के लिए तत्संबंधी कानूनों में महत्वपूर्ण संशोधन किए गए। आइए अब देखते हैं कि महिलाओं की स्थिति पर गठित समिति की रिपोर्ट क्या कहती है।

11.4.1 भारत में महिलाओं की स्थिति पर गठित समिति की रिपोर्ट

"समानता की ओर" शीर्षक से जारी अपनी रिपोर्ट में समिति का कहना था कि विकास ने महिलाओं के लिए कुछ नई राहें जरूर खोली हैं मगर प्रौद्योगिकी संबंधी बदलावों और आधुनिकीकरण, शहरीकरण और औद्योगिकीकरण की जटिल प्रक्रिया ने महिलाओं पर बुरा प्रभाव छोड़ा है ओर असमानताओं को और बढ़ाया है।

इसके मद्देनजर समिति ने विवाह, तलाक, गुजारे और उत्तराधिकार संबंधी कानूनों मे संशोधन के लिए पारिवारिक अदालतों की स्थापना, समान नागरिक संहिता के लिए प्रावधान और महिलाओं की आर्थिक भागीदारी के लिए अवसर पैदा करने जैसी कई सिफारिशें कीं। समिति ने विशेष रूप से नगर पालिकाओं और पंचायतों में महिलाओं के लिए आरक्षण की सिफारिश करने के साथ-साथ यह भी सुझाया कि गांव के स्तर पर वैधानिक महिला पंचायत गठित की जाएं जो स्वायत्त हों और जिन्हें महिला और बाल कल्याण व विकास कार्यक्रमों के प्रबंधन और कार्यान्वयन के लिए संसाधन मुहैया कराए जाएं।

समिति ने बड़े जोर से यह सिफारिश भी की कि राजनीतिक दल संसद और विधान सभा चुनावों में कुछ प्रतिशत महिला उम्मीदवार खड़े करने की नीति अपनाएं। इसके अलावा स्वास्थ्य, परिवार और पोषण, समाज कल्याण और कानूनी स्थिति के मामलों में महिलाओं के लिए समिति ने एक राष्ट्रीय कार्य-योजना का ब्लू-प्रिंट रखा।

11.4.2 राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य योजना

महिलाओं के लिए राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य योजना भारतीय महिलाओं के लिए एक समग्र दीर्घकालीन नीति बनाने का प्रयास है। इसका आधार विकास प्रक्रिया के लिए प्रासंगिक संवैधानिक और नीति-निर्देशक सिद्धांत हैं। यह योजना 20वीं सदी के अंत तक के लिए कुछ निश्चित बुनियादी सूचकों को ध्यान में रख कर तय किए गए राष्ट्रीय लक्ष्यों से जुड़ी है–विशेषकर स्वास्थ्य, शिक्षा और रोजगार योजना महिलाओं को समाज के कमजोर तबकों या विकास प्रक्रिया के निष्क्रिय लाभार्थी की दृष्टि से नहीं देखती। बल्कि इसमें उन्हें एक अनूठी शक्ति माना गया है जो राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति कर सकती है।

योजना का लक्ष्य महिलाओं का आर्थिक विकास और अर्थव्यवस्था की मुख्य-धारा में उन्हें शामिल करने के साथ सभी महिलाओं को समानता और सामाजिक न्याय दिलाना है। समग्रतावादी दृष्टिकोण अपनाए जाने की जरूरत को मानते हुए योजना ने ग्रामीण विकास, रोजगार, सहायक सेवाओं, शिक्षा, स्वास्थ्य, विधान, राजनीतिक सहभागिता, मीडिया और संचार और स्वैच्छिक कार्य के क्षेत्रों में महिलाओं की स्थिति की समीक्षा कर सन् 2000 ई. तक महिलाओं के समग्र विकास की दिशा में परस्पर जुड़ी और अभिसारी रणनीतियां सुझाईं।

योजना में की गई कुछ सिफारिशें इस प्रकार हैं :

- संपत्ति कानूनों की समीक्षा जरूरी है ताकि पुरुषों पर लागू होने वाले उत्तराधिकार के सिद्धांत महिलाओं के लिए भी समान रूप से लागू हों।
- महिलाओं को लामबंद और संगठित करने और उन्हें विभिन्न कार्यक्रमों का लाभ उठाने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए स्वयंसेवी संगठनों और शिक्षण संस्थानों को ज्यादा से ज्यादा बढ़ावा दिया जाए ताकि वे इस दिशा में सूक्ष्मस्तरीय अध्ययन और कार्ययोजना बनाने और उन्हें अमली जामा पहनाने का काम करें।
- रोजगार उत्पन्न करने और प्रशिक्षण देने के लिए एक सुस्पष्ट नीति बनाई जाए जिसका लक्ष्य महिलाओं की और अधिक उत्पादक सहभागिकता के साथ-साथ उन्हें रोजगार के अधिक लाभ, सामाजिक सुरक्षा और बेहतर कार्य-स्थितियां सुनिश्चित करना हो।
- समान पारिश्रमिक अधिनियम का कार्यान्वयन और अन्य श्रम व कल्याण विधानों का नियमित मूल्यांकन किया जाए और उसकी जानकारी प्रचारित की जाए।
- राष्ट्रीय आवास नीति को महिलाओं की विशेष जरूरतों और आवास योजनाओं के कार्यान्यवन में उनकी भूमिका की ओर ध्यान देना चाहिए।
- आम जनता में यह जागरूकता लाना जरूरी है कि लड़कियों को शिक्षित बनाना आवश्यक है ताकि राष्ट्र के सामाजिक-आर्थिक विकास में प्रभावशाली ढंग से योगदान करने के लिए उन्हें तैयार किया जा सके।
- गर्भस्थ शिशु के यौन-लिंग का पता लगाने के लिए किए जाने वाले उल्ब परीक्षण (एम्नियोसिंटैसिस) पर कानूनन प्रतिबंध लगाया जाए।
- पुरुष नसबंदी को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।
- विवाहित-जीवन के दौरान पति या पत्नी में से किसी एक द्वारा अर्जित संपत्ति दोनों के नाम हो।
- न्यायपालिका और पारिवारिक अदालतों में बड़ी संख्या में महिला न्यायाधीशों को नियुक्त किया जाए।

- अनुबंधित श्रमिक अधिनियम (1970) और अंतरराज्यीय प्रवासी कामगार अधिनियम (1979) में शिशु सदन के लिए किए गए प्रावधान को उन उद्योगों और संस्थानों के लिए भी अनिवार्य बनाया जाए, जिनमें 30 कर्मचारी काम करते हों।
- भातृत्व लाभ अधिनियम (1970), राज्य बीमा अधिनियम (1948) की समीक्षा कर जहां कहीं संभव हो इन का लाभ असंगठित और कृषि क्षेत्रों में कार्यरत श्रमिकों को भी दिया जाए।
- सरकार को राष्ट्रीय, राज्य और स्थानीय स्तर पर निर्णय प्रक्रिया में महिलाओं की सहभागिता कारगर ढंग से सुनिश्चित करनी चाहिए।
- महिलाओं और लड़कियों के प्रति दृष्टिकोण को बदलने और देश में सामाजिक चेतना बढ़ाने के लिए राष्ट्रीय मीडिया और संचार माध्यमों में एक सचेत रणनीतिगत बदलाव लाने की जरूरत है।
- राष्ट्रीय साक्षरता मिशन में महिला संगठनों को बड़े पैमाने पर शामिल किया जाए।

11.4.3 दोनों रिपोर्टों पर एक सरसरी नजर

भारत में महिलाओं की स्थिति पर गठित समिति की रिपोर्ट ने सही समय पर महिलाओं की उपेक्षित स्थिति को उजागर किया था। यही बात राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य योजना के लिए कही जा सकती है। दोनों रिपोर्टों में प्रशंसनीय सिफारिशें की गई थी।

बहरहाल राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य योजना जातिगत, सम्प्रदाय, वर्गीय और सामाजिक-लिंग सोच जनित असमानताओं की ओर ध्यान नहीं दे पाई। यही वे असमानताएं हैं जिनके चलते हमारी कानून व्यवस्था आम आदमी की पहुंच से परे हो जाती है। इन दोनों रिपोर्टों की सबसे बड़ी असफलता यह कही जा सकती है कि ये कोई ऐसा विकल्प नहीं सुझा पाई कि हमारी कानून व्यवस्था को किस तरह से गरीबों विशेषकर गरीब महिलाओं के प्रति अधिक संवेदनशील बनाया जाए।

फिर ये रिपोर्टें इस बात पर भी पूरी तरह से ध्यान नहीं दे पाई हैं कि हमारा समाज निजी और सार्वजनिक कार्यक्षेत्रों में बंटा हुआ है, जिसे कानूनी वैधता प्राप्त है। इसीलिए परिवार से जुड़े लगभग सभी मामलों को निजी माना जाता है और उन्हें वैयक्तिक कानून (पर्सनल लॉ) संचालित करता है। एक संस्था के रूप में परिवार का आधार लिंगों (स्त्री-पुरुष) के बीच असमानता है। (सो इस बात में कोई आश्चर्य नहीं कि घरेलू हिंसा या पत्नी की पिटाई या उसके साथ हिंसक व्यवहार को आपसी तालमेल की समस्या बताकर छोड़ दिया जाता है)।

राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य योजना ने संगठित क्षेत्र में कार्यरत श्रमिकों के बारे में तो अधिक कहा है मगर असंगठित क्षेत्र के मजदूरों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है। इसने महिला अधिकारों के लिए एक आयोग गठित किए जाने की सिफ़ारिश की थी जो एक प्रशंसनीय सुझाव था। मगर स्थानीय स्तर तक कार्यान्वयन कार्यप्रणाली और तंत्र भी जरूरी हैं।

आइए अब अगले भाग में देखते हैं कि 73वें और 74वें संविधान संशोधन अधिनियमों, जिन्हें संयुक्त रूप से पंचायती राज अधिनियम के नाम से जाना जाता है ने किस तरह से महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए एक नया धरातल दिया है।

जरा सोचिए-2

1) भारत में महिलाओं की स्थिति पर गठित समिति की रिपोर्ट में की गई कुछ बातें बताइए।

2) राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य योजना की मुख्य सिफ़ारिशें क्या हैं?

3) दोनों में क्या कमियां हैं?

11.5 महिलाएं और राजनीतिक सहभागिता

नब्बे के दशक की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इसमें एक नई चेतना आई है कि विकास परियोजनाओं में लोगों की भागीदारी जरूरी है। नारी अधिकारवादियों और कार्यकर्ताओं में यह चेतना बढ़ रही है कि राजनीतिक सहभागिता महिलाओं के सशक्तिकरण की शर्त ही नहीं है बल्कि राज्य की नीतियों और कार्यक्रमों को महिलाओं के सरोकारों की ओर मोड़ने के लिए भी राजनीतिक सहभागिता अनिवार्य है। स्थानीय स्वशासन में महिलाओं के लिए आरक्षण औपचारिक राजनीतिक प्रक्रिया में उनकी भागीदारी को वैधता प्रदान करने की दिशा में पहला महत्वपूर्ण कदम था। ऐसी आशा की जाती है कि इन सकारात्मक उपायों के जरिए महिलाओं को सिर्फ राजनीतिक अनुभव ही प्राप्त नहीं होगा, बल्कि समुदायों को प्रभावित करने वाले सामाजिक-आर्थिक और पर्यावरण संबंधी सरोकारों में उनकी अपनी आवाज भी शामिल होगी।

संविधान में 73वें और 74वें संशोधन और अप्रैल 1993 में पंचायती राज विधेयक के पास होने तक महिलाओं के लिए आरक्षित सीटों की संख्या नगण्य थी। सो अल्पमत में होने के कारण वे मौजूदा राजनीतिक प्रक्रियाओं पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाईं।

11.5.1 संविधान में 73वें और 74वें संशोधन

भारतीय संसद ने अप्रैल 1993 में 73वें और 74वें संशोधन पारित किए जिनमें स्थानीय सरकारों में 33 प्रतिशत सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित की गईं। 73वां संशोधन गांव की पंचायतों और 74वां संशोधन नगरपालिकाओं से जुड़ा है। संविधान (73वां संशोधन) अधिनियम 1992 और संविधान (74वां संशोधन) अधिनियम, 1992 द्वारा जोड़े गए क्रमश: 243डी और 243टी अनुच्छेद में पंचायतों और नगर पालिकाओं में महिलाओं के लिए एक तिहाई सीटें आरक्षित किए जाने का प्रावधान किया गया। इन अनुच्छेदों में यह प्रावधान किया गया है कि अनुसूचित जाति और जनजातियों के लिए आरक्षित सीटों का कम से कम एक तिहाई हिस्सा इन जातियों की महिलाओं के लिए आरक्षित रखा जाएं। इन अनुच्छेदों में यह भी कहा गया है कि महिलाओं के लिए आरक्षित सीटों का आबंटन भिन्न चुनाव क्षेत्रों में चक्रण द्वारा हो। अप्रैल 1994 तक भारत के सभी राज्यों ने इन दोनों संशोधनों पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी थी।

उदाहरण के लिए महाराष्ट्र ने त्रि-स्तरीय प्रणाली अपनायी है। इसमें ग्राम पंचायत (ग्राम सभा), पंचायत समिति (कुछ गांवों के समूहों की सभाएं) और जिला परिषद (जिलास्तरीय सभा)। अध्यक्ष के पदों सहित पंचायती राज संस्थाओं के तीनों स्तरों पर एक तिहाई सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित कर दी गई हैं। महाराष्ट्र पंचायती राज अधिनियम और अन्य राज्यों के अधिनियम में यह बुनियादी अंतर है कि महाराष्ट्र में सरपंच का चुनाव सीधा न होकर पंचायत के लिए चुने गए सदस्यों के बीच में से उन्हीं के द्वारा किया जाता है।

मगर अधिकांश राज्यों में आरक्षण संबंधी विधान जल्दबाजी में पारित कर दिए गए जिसके लिए आवश्यक चर्चा और बहस तक नहीं हुई। इसके फलस्वरूप इसमें कई खामियां रह गई हैं, जिन्हें दूर किए जाने की जरूरत है। बहरहाल जहां कहीं भी पंचायती राज संस्थानों के चुनाव अप्रैल 93 के बाद हुए हैं, महिलाओं के लिए वार्ड या चुनाव क्षेत्र आरक्षित रखे गए हैं।

यह देखने में आया है कि चुने जाने के बाद कई महिलाएं अपनी भूमिका सही ढंग से नहीं निभा पाई। उनमें अनुभव की कमी, पुरुष प्रधानता और हेरा-फेरी, जानकारी और प्रशिक्षण का अभाव जैसे कारण इसके लिए जिम्मेदार हैं। इसलिए उनके सुमुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था जरूरी है।

11.5.2 81वां संवैधानिक संशोधन विधेयक, 1996

पंचायतों और नगर पालिकाओं में महिलाओं को आरक्षण देने के बाद संसद और राज्य विधानसभाओं

में भी उन्हें इसी तर्ज पर आरक्षण दिए जाने का प्रस्ताव है। इसके लिए संविधान में संशोधन किया जाएगा।

सितंबर 1996 में लोकसभा के पटल पर रखे गए 81वें संशोधन विधेयक में महिलाओं के लिए लोकसभा और राज्य विधान सभाओं में सीटें आरक्षित रखे जाने का प्रावधान है।

स्वार्थी तत्वों की आपत्तियों के मद्देनजर संसद ने एक संयुक्त समिति का गठन विधेयक की समीक्षा के लिए गठित किया। दिसंबर 1996 में समिति ने विधेयक मौजूदा स्वरूप में ही पारित किए जाने की सिफारिश की (हालांकि इसमें कुछ लोगों को आपत्ति थी)। मगर यह विधेयक अभी तक पारित नहीं हो पाया है, जिसके लिए अनेक महिला संगठन प्रयास कर रहे हैं।

जरा सोचिए 3

1) राजनीतिक सहभागिता महिलाओं के लिए किस तरह एक स्वालंबन युक्ति है? संक्षेप में बताइए।

2) भारतीय संविधान में 74वां संशोधन क्या है?

3) 81वां संशोधन विधेयक का क्या उद्देश्य है?

11.6 सारांश

आपने देखा कि महिला आंदोलन में बदलते नजरिए के साथ किस तरह से बेहतर कानूनों की मांग उठी। भारत में महिलाओं की स्थिति पर कई अध्ययन, विश्लेषण हुए हैं, जिनमें से दो रिपोर्टों के बारे में हमने इस इकाई में चर्चा की। कई तरह के नीतिगत उपायों, सिफारिशों और पितृसत्तात्मक समाज में महिलाओं को उपलब्ध कई तरह के कानूनी युक्तियों के बावजूद महिलाओं को न्याय पाने में बड़ी कठिनाइयां उठानी पड़ती हैं। सशक्तिकरण की एक कारगर युक्ति के रूप में राजनीतिक प्रक्रिया में महिलाओं की सहभागिता को बढ़ाने की मांग की जा रही है।

आरक्षण तत्काल आमूल परिवर्तन नहीं ला सकता। मगर महिलाओं के विकास और सशक्तिकरण के लिए एक समग्र रणनीति के तहत उसे सही पहल माना जा रहा है। निचले स्तर से लेकर क्षेत्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओं की निर्णयकारी और नेतृत्वकारी भूमिकाएं परिवर्तन के बड़े कारक हैं जो हमें वृहत्तर सहभागी लोकतंत्र, सामाजिक समता और सामाजिक-लिंग (जेंडर) न्याय की ओर ले जाते हैं।

11.7 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

कार्यान्वयन : एक तय लक्ष्य की पूर्ति करना या कानून को लागू करना।

संहिताकरण : कानूनों और विनियमों की एक प्रणाली स्थापित करना। यह कानूनों का एक संग्रह है।

व्याख्या : अर्थ स्पष्ट करना या उसका परिचित शब्दों में अनुवाद करना। कानून के मामले में इसका आशय एक ऐसा अर्थ लगाने से है जो मूलत: उसमें नहीं हो।

संशोधन : संविधान या कानून में परिवर्तन या उसकी विसंगतियों को दूर करना।

11.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

लैविया, एग्नेस (1995) *स्टेट, जेंडर एंड द रेटॉरिक ऑफ लॉ रिफार्म.* आरसीडब्लूएस. एसएनडीटी वीमेंस यूनिवर्सिटी : बंबई.

साठे, एस.पी. (1993) *टुवर्ड्ज जेंडर जस्टिस.* आरसीडब्लूएस. एसएनडीटी वीमेंस यूनिवर्सिटी : बंबई.

द रिपोर्ट ऑन द स्टैटस ऑफ वीमेन इन इंडिया, भारत सरकार.

राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य योजना (1988-2000), 1988 भारत सरकार.

इकाई 12 बेहतर कानूनों के लिए जारी संघर्ष – भाग दो

रूपरेखा

12.0 लक्ष्य और उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 विभिन्न दंड (फौजदारी) कानून

- 12.2.1 बलात्कार संबंधी कानून
- 12.2.2 संशोधित बलात्कार कानून
- 12.2.3 न्याय की राह में बाधाएं
- 12.2.4 दहेज और दहेज हिंसा
- 12.2.5 घरेलू हिंसा
- 12.2.6 पितृसत्तात्मक पूर्वाग्रह

12.3 वैयक्तिक कानून

- 12.3.1 वैयक्तिक और तलाक संबंधी कानून
- 12.3.2 दाय प्राप्ति और उत्तराधिकार संबंधी कानून
- 12.3.3 निर्वाह (गुजारा खर्च) संबंधी कानून

12.4 समान नागरिक संहिता

12.5 सारांश

12.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

12.0 लक्ष्य और उद्देश्य

यह इकाई बेहतर कानूनों के लिए चल रहे संघर्ष पर हमारी पिछली इकाइयों की कड़ी है। इस इकाई में हम आपको सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) से संबंधित कुछ विशेष कानूनों के बारे में बताएंगे। पिछली इकाइयों में हमने कानून बनाने और विधान के परिप्रेक्ष्य के बारे में चर्चा की थी। हमने उन तमाम समस्याओं के बारे में चर्चा की थी जो हमें विधान में आम तौर पर नजर आती हैं। मूलत: पितृसत्तात्मक समाज में कानून प्रभावशाली नहीं रह पाते क्योंकि उन्हें लागू करना ही बड़ा कठिन साबित होता है। इस इकाई में हम कुछ विशेष कानूनों पर रोशनी डालेंगे। इसका उद्देश्य :

- कुछ फौजदारी और वैयक्तिक कानूनों के बारे में बताना है;
- कुछ महत्वपूर्ण अदालती निर्णयों की जानकारी देना है; और
- मौजूदा कानूनों और उनमें निहित सामाजिक लिंग-पूर्वाग्रहों की समीक्षा करना है।

हमें आशा है कि कुछ विशेष कानूनों पर चर्चा करने के हमारे इस प्रयास से विद्यार्थी जन विधान या कानून के अच्छे और बुरे दोनों पहलुओं के बारे में जानेंगे।

12.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने कानून और सामाजिक-लिंग न्याय के लिए महिलाओं के संघर्ष के बारे में चर्चा की थी। यहां हमने यह बताने का प्रयास किया है कि विधान का मतलब सिर्फ कानून बनाना भर नहीं है। बल्कि इन कानूनों के कार्यान्वयन की नियमित निगरानी और उनकी व्याख्या भी है। महिलाओं के मुद्दों के बदलते परिप्रेक्ष्य और बढ़ते दायरे के चलते कानूनों में संशोधन हुआ और नए कानून बनाए गए हैं। इसके बारे में हम पिछली इकाई में चर्चा कर ही चुके हैं। इस इकाई में हम फौजदारी और वैयक्तिक कानूनों के संदर्भ में कानूनों को बेहतर बनाने के लिए महिलाओं के संघर्ष के बारे में आगे चर्चा करेंगे। महिलाओं से जुड़े कानूनों पर जानकारी देने के अलावा हम इन कानूनों में निहित कुछ बुनियादी अंतर्विरोधों और सामाजिक लिंग-सोच जनित पूर्वाग्रहों पर भी चर्चा करेंगे।

12.2 विभिन्न दंड (फौजदारी) कानून

अपराधों को सार्वजनिक पाप की संज्ञा दी जाती है क्योंकि ये सिर्फ इसके शिकार को ही हानि नहीं पहुंचाते बल्कि ये सारे समाज को हानि पहुंचाते हैं। क्या अपराध है? और उसकी सजा क्या है? इसके मूलभूत कानून भारतीय दंड संहिता में हैं। दंड प्रक्रिया संहिता में जांच और मुकदमा चलाने के लिए नियम दिए गए हैं। भारतीय साक्ष्य अधिनियम में मुकदमे के दौरान माने जाने वाले साक्ष्य (सबूत) नियम बनाए गए हैं। भारतीय दंड संहिता और दंडप्रक्रिया संहिता दोनों में महिलाओं के लिए विशेष प्रावधान हैं। दंड या फौजदारी कानूनों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए हैं। महिलाओं के प्रति बढ़ती हिंसा, परिवार के भीतर महिलाओं का उत्पीड़न और क्रूर हिंसक व्यवहार जिसकी परिणति अक्सर मौत में होती है, ये सब महिलाओं के विरोध का मुद्दा बन गए हैं।

12.2.1 बलात्कार संबंधी कानून

आइए हम मथुरा के केस का उदाहरण यहां लेते हैं जिस पर महिला संगठनों ने जबर्दस्त प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। इस केस को तुकाराम बनाम महाराष्ट्र सरकार के नाम से जाना जाता है। मथुरा एक जनजातीय लड़की थी, जिसकी उम्र 14 से 16 वर्ष के बीच थी। मथुरा को पुलिस थाने में तलब किया गया था (जो अपने आप में दंड प्रक्रिया संहिता का उल्लंघन था)। उसके साथ थाने में पुलिस कर्मियों ने बलात्कार किया। सेशन जज ने उसके इस बयान को मानने से इनकार कर दिया कि उसके साथ बलात्कार किया गया था। न्यायधीश का मानना था कि यह बलात्कार नहीं था बल्कि उसकी रजामंदी से उसके साथ संभोग किया गया था। उसने आगे राय जाहिर की कि ऐसा कोई संतोषजनक साक्ष्य मौजूद नहीं था कि वह 16 वर्ष से कम उम्र की थी, जो कानून की नजर में संभोग के लिए 'रजामंदी की उम्र' मानी जाती है। बलात्कार के आरोपी पुलिस कर्मियों को बरी कर दिया गया। मगर अपील किए जाने पर उच्च न्यायालय ने उन्हें सजा दे दी। पुलिसकर्मियों ने उच्च न्यायालय के फैसले के खिलाफ उच्चतम न्यायालय में अपील कर दी, जिसने उच्च न्यायालय के फैसले को बदलकर उन्हें निर्दोष करार देते हुए बरी कर दिया। उच्चतम न्यायालय ने अपने फैसले में कई अन्य बातों के अलावा यह टिप्पणी की थी कि लड़की के शरीर पर चोट या घाव के निशान नहीं थे और "उनका न होना यही बताता है कि तथा-कथित संभोग उसकी रजामंदी से किया गया था"। (वीमेन्स मूवमेंट एंड द लीगल प्रोसेस, लोतिका सरकार, 1995:6)।

कानून के चार शिक्षक विद्वानों ने भारत के मुख्य न्यायाधीश को खुला पत्र लिखकर खेद प्रकट किया कि यह "एक अति असाधारण निर्णय" था "जिसने कानून और संविधान की वेदी पर महिलाओं के बुनियादी अधिकारों की बलि चढ़ा दी थी"। पत्र में आगे कहा गया था कि "बलात्कार की शिकार लड़की की सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर कोई गौर नहीं किया गया। कानूनी अधिकारों के ज्ञान की

कमी, बलात्कार की शिकार की उम्र, कानूनी सेवाओं का उसकी पहुंच से बाहर होना और थानों में होने वाले अत्याचारों का आतंक जिससे गरीब और शोषित भयाक्रांत रहते हैं, इन सब बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। पत्र में उच्चतम न्यायलय से एक बड़ी खंडपीठ से केस की फिर से सुनवाई करने का आग्रह किया गया जिससे "भारत की मथुरा जैसी लाखों लड़कियों के मानवाधिकारों की रक्षा की आशा चूर-चूर न हों।" मुख्य न्यायाधीश को संबोधित इस खुले पत्र के बाद निर्णय के विरोध में एक प्रदर्शन भी किया गया। इस निर्णय के खिलाफ उभरी जन भावनाओं को देखते हुए भारत सरकार को बलात्कार संबंधी कानूनों की समीक्षा करने के लिए विवश होना पड़ा।

विधि आयोग ने वकीलों और महिला संगठनों के कई सुझावों को शामिल किया। अंततः 1860 से चले आ रहे कानून को संशोधित कर दिया गया। 'पुलिस हिरासत में बलात्कार' की कानूनी धारणा तभी से प्रचलित हुई।

12.2.2 संशोधित बलात्कार कानून

"संशोधित कानून के अंतर्गत बलात्कार के अपराध को निम्न छः स्थितियों में किसी भी महिला के साथ संभोग के रूप में परिभाषित किया गया:

i) उसकी इच्छा के विपरीत;

ii) उसकी रजामंदी के बिना;

iii) उसकी रजामंदी से, जो उसे या उसके किसी प्रियजन को जान से मारने या निजी हानि नुकसान पहुंचाने की धमकी देकर ली गई हो;

iv) उसकी रजामंदी से, मगर जब उक्त व्यक्ति जानता हो कि वह उसका पति नहीं है और उसने अनजाने में सहमति यह मान कर दे दी हो कि वह व्यक्ति उसी का पति है;

v) मानसिक हालत ठीक न होने या नशे की हालत में उसकी रजामंदी से;

vi) उसकी सहमति से या उसके बिना, जब वह सोलह वर्ष से कम आयु की हो" (*सार्क गाइड बुक ऑन वीमेन एंड डेवेलपमेंट*, भारत सरकार, 1988)।

इसका अर्थ यह है कि असहमति को प्रमाणित करना अनिवार्य नहीं है। यह साबित करना ही पर्याप्त है कि महिला को संभोग के लिए डरा धमका या बहला-फुसलाकर राजी किया गया था।

संशोधित कानून की धारा 376 के तहत बलात्कार की सजा कम से कम सात वर्ष और अधिकतम 11 वर्ष की कैद है।

इन संशोधनों को महिलाओं के लिए न्याय सुनिश्चित करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम माना जा सकता है। मगर भारी पितृसत्तात्मक पूर्वाग्रह महिलाओं के विरोध में आ खड़े होते हैं। फिर न्यायिक प्रक्रिया इतनी सुस्त और लंबी चलती है कि उसका कोई प्रभाव ही दिखने में नहीं आता।

आंकड़े बताते हैं कि बलात्कार कानून में संशोधन के एक दशक बीत जाने के बाद भी स्थिति में कोई गुणात्मक सुधार नहीं आया है।

12.2.3 न्याय की राह में बाधाएं

न्याय की राह में कौन-कौन सी बाधाएं? इनमें से कुछ इस प्रकार हैं:

1) बलात्कार की शिकार महिला को शिकायत दर्ज कराने से रोकना। पुलिस अक्सर यह जान बूझकर करती है।

2) बलात्कार की शिकार महिला में अज्ञानता। "बलात्कार की शिकार महिला को थाने जाने की जरूरत पड़ती है और यहीं उसे यह बताया जाना चाहिए कि मेडिकल जांच जरूरी है और वह एफआइआर में क्या लिखे और उसके क्या-क्या अधिकार हैं।" (सरकार, 1995:7)। मगर थानों में उसे इस तरह की सहायता कोई नहीं देता।

3) न्यायपालिका में मौजूद पितृसत्तात्मक पूर्वाग्रह :

- कई मामलों में अदालत ने ऐसे पूर्वाग्रह दिखाए हैं। ऐसा ही एक केस महाराष्ट्र सरकार बनाम प्रेम चंद का था। अदालत ने बलात्कार के आरोपी को सात वर्ष की अनिवार्य सजा को घटाकर पांच वर्ष कर दिया था। हालांकि अदालत का मानना था कि उसे कठोर सजा मिलनी चाहिए (सरकार : 9)।
- एक और तरह का चिरस्थायी पूर्वाग्रह भी नजर आता है जिसके चलते बलात्कार की शिकार महिला को उसके चाल-चलन से तोला जाता है। ऐसा सुमन रानी के केस में देखा गया, जिसके चरित्र को संदेहास्पद ठहरा कर आरोपी की सजा को सात वर्ष की कैद से घटाकर पांच वर्ष कर दिया गया।

4) बलात्कार के मुकदमों में दर्शनरति और कामोत्तेजना का रस लेने की प्रवृत्ति: "अस्सी के आरंभ में मथुरा बलात्कार कांड के खिलाफ छेड़े गए अभियान में यह नारा दे दिया गया–मथुरा का बलात्कार हुआ दो बार, पहली बार पुलिस थाने में दूसरी बार अदालत में। यह नारा आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना यह उस समय था। गिने-चुने निर्णयों में ही अदालतें बलात्कार के मुकदमे के दौरान महिला द्वारा सहे जाने वाले अपमान और तिरस्कार पर कोई टीका टिप्पणी करती हैं (मुखोपाध्याय, 1998:97) इसका एक उदाहरण मिरगी रोग से पीड़ित लड़की का मुकदमा है, जिसके साथ नींद में पांच आदमियों ने सामूहिक बलात्कार किया था। सुनवाई के दौरान उससे पूछा गया कि उसके साथ यौनाचार किस अंग से किया गया, पहले आरोपी बलात्कारी ने जब अपना अंग उसमें डाला तो उसे कैसा लगा, क्या उसने पांचों बलात्कारियों के वीर्यपात की गरमी महसूस की थी (सरकार : 97)। इससे एक उदाहरण स्पष्ट हो जाता है कि अदालतों के कमरों में होने वाली जिरह किस स्तर तक गिर सकती है।

5) बलात्कार संबंधी कानून का सीमित दायरा: बलात्कार संबंधी कानून में बलात्कार की परिभाषा शिश्न के प्रवेश तक ही सीमित है। उसमें शिकार अबला के साथ किया जाने वाला अपमानजनक हिंसक व्यवहार शामिल नहीं है।

6) दंड कानून प्रणाली का संचालन इस आधार पर होता है कि राज्य एक पक्षकार है जो अभियोग चला रही है और आरोपी बचाव पक्ष है। इससे सभी लाभ अभियुक्त के पक्ष में जाते हैं और अपराध के शिकार व्यक्ति को शक्तिशाली राज्य प्रणाली से जूझना पड़ता है।

7) बलात्कार के मुकदमों में सहमति के प्रश्न को साबित करने के लिए आयु (अगर बलात्कार की शिकार लड़की की उम्र 16 वर्ष से नीचे न हो) प्रमाणित करना बड़ा महत्व रखता है। सहमति की आयु प्रमाणित करना बड़ा कठिन होता है क्योंकि इसके दस्तावेज हमेशा नहीं मिल पाते हैं। कानून के इस पहलू की सबसे ज्यादा हानि कमसिन लड़कियों को उठानी पड़ती है।

ये कुछ ऐसी कमियां हैं जो महिलाओं के लिए न्याय पाने की राह में अभी तक बड़ी बाधाएं बनी हुई हैं जिनके चलते बलात्कार के दोषियों को अक्सर सजा नहीं मिलती। इस तरह महिलाओं पर हिंसा बेरोकटोक जारी है। आइए अब महिला संबंधी कुछ अन्य दंड कानूनों पर दृष्टि डालते हैं।

12.2.4 दहेज और दहेज हिंसा

दहेज की समस्या भारतीय महिला आंदोलन के लिए हमेशा से एक बड़ा महत्वपूर्ण मुद्दा रही है। भारत में दहेज का प्रचलन आम है इसे हमारी परंपरा से इस तरह जुड़ा माना जाता है कि इस पर कोई अंगुली नहीं उठाता। मगर क्या आप जानते हैं कि भारत में दहेज लेना और देना दोनों अपराध हैं? दहेज निषेध अधिनियम 1961 में पास किया गया था। लेकिन जब दहेज से जुड़ी मौतों में तेजी से बढ़ोतरी होने लगी तो इस कानून पर अंगुली उठना लाज़मी था। महिलाओं को उनके ससुराली दहेज के लिए तंग करते हैं और अगर वधू या उसके मायके वाले उनकी मांग पूरी नहीं कर पाएं तो उसे अक्सर मार दिया जाता है।

महिला संगठनों के बढ़ते दबाव के चलते 1980 में संसद के दोनों सदनों की एक संयुक्त समिति दहेज निषेध अधिनियम (1961) की समीक्षा के लिए गठित की गई। विधि आयोग ने भी कुछ सुझाव दिए। अंततः दहेज निषेध अधिनियम को 1985 में संशोधित किया गया और फिर 1986 में उसके अनुरूप भारतीय दंड संहिता और साक्ष्य अधिनियम में भी संशोधन किए गए। भारतीय दंड संहिता में धारा 304 'बी' जोड़कर "दहेज मृत्यु को एक नए अपराध" की श्रेणी बना दिया गया। यह धारा इस प्रकार है।

क) 304बी दहेज मृत्यु–जिसमें एक औरत की मृत्यु उसके विवाह के सात वर्ष के भीतर जलने से या शारीरिक चोट से या असामान्य परिस्थितियों में हो और यह साबित हो जाए कि मृत्यु से कुछ समय पहले उसके पति ने दहेज के लिए उसे पीटा या सताया था तो ऐसी मृत्यु को 'दहेज मृत्यु' कहा जाएगा और ऐसे पति या रिश्तेदार को ही उसकी मृत्यु का कारण माना जाएगा। (*सार्क गाइड बुक ऑन वीमेन इन डेवेलपमेंट*, भारत सरकार, 1988)।

कानूनों में संशोधन निश्चय ही स्वागत योग्य है। दहेज से कई समस्याएं जुड़ी हैं जिन्हें कानून बनाकर समाप्त नहीं किया जा सकता। संशोधित कानून यानी धारा 304 बी यह मानकर चलता है कि दहेज मृत्यु लड़की के ससुरालियों के कारण हुई होगी। "निस्संदेह यह प्रावधान इस सामाजिक बुराई से निपटने के लिए हमें एक कदम आगे ले जाता है। मगर इसकी प्रभावशीलता को यह उपबंध खत्म कर देता है जो तभी लागू हो सकता है जब यह प्रमाणित हो सके कि पति या ससुरालियों ने वधू को पीटा या सताया है। अब चूंकि यह मारपीट या सताना घर की चारदीवारी के अंदर होता है सो उसके गवाह भी वही लोग होते हैं जो उसे इस क्रूरता से मारते हैं। फिर भला वे स्वयं ऐसी गवाही क्यों देने लगे जो उन्हें सलाखों के पीछे भेज दे। यही बात उच्चतम न्यायालय ने दहेज हत्या के एक ऐसे केस में अपनी टिप्पणी में स्पष्ट की थी, जिसमें एक नवयुवती उन परिस्थितियों में मरी थी जिनके साफ

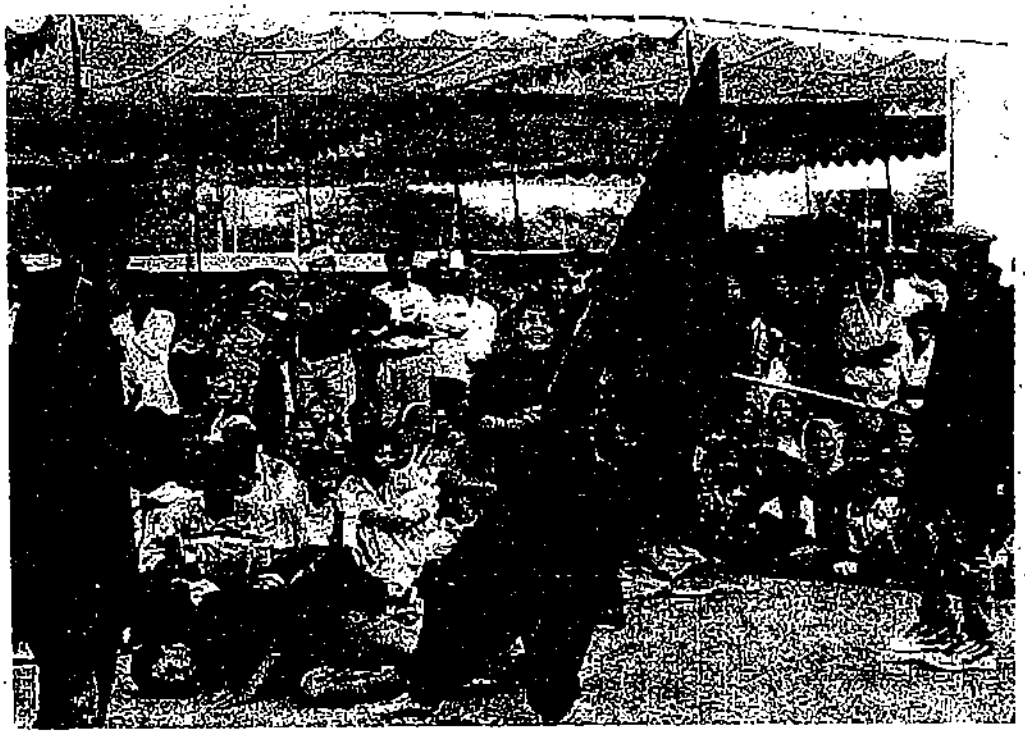

नुक्कड़ नाटक हिंसा के विरुद्ध प्रदर्शन करते हुए
सौजन्य : इंडिया टुडे

तौर पर यह संकेत मिलता था कि वह एक दहेज मृत्यु है। सर्वोच्च न्यायलय ने कहा: "यह एक नृशंस और बर्बर अपराध है, यह आम तौर पर घर की चारदीवारी में होता है और अक्सर ऐसे हालात में यह अपराध किया जाता है जिससे यही लगे कि यह आत्महत्या थी।" (सरकार, 1995 :15)।

एक ओर तो न्यायपालिका ससुरालियों के हाथों सतायी जाने वाली महिलाओं की दुःखद स्थिति के प्रति काफी संवेदनशील है मगर वहीं अपने पूर्वाग्रहों को न्यायपालिका दूर नहीं कर पाई है।

न्यायपालिका में मौजूद बुनियादी सामाजिक लिंग-सोच जनित पूर्वाग्रहों, दोमुंहापन और अंतर्विरोधों के उदाहरणों को दिखाने के लिए यहां हम एक केस दे रहे हैं।

सुधारानी कांड

सुधारानी कांड को हम दिल्ली प्रशासन बनाम लक्ष्मण केस के नाम से जानते हैं, जो न्यायपालिका के नजरिए और व्याख्या में मौजूद भेदों को स्पष्ट करने के लिए एक पर्याप्त उदाहरण है। सुधारानी एक नई व्याहता लड़की थी जिसे उसकी ससुराल वाले बार-बार क्रूरता से मारते-पीटते और सताया करते थे। एक रात पड़ोसियों ने उसे "बचाओ बचाओ" चिल्लाते आग की लपटों में घिरी बाहर की ओर दौड़ते आते देखा। उसके सारे स ाली मूक दर्शक बने रहे, उन्होंने उसे बचाने का दिखावा तक नहीं किया। उसे अस्पताल पहुंच गया जहां कुछ देर बाद उसने दम तोड़ दिया।

इस मामले में पड़ोसी न सिर्फ उसे बचाने आगे आए बल्कि वे गवाही भी देने को राजी थे। उनकी गवाही पर सुनवाई कर रहे जज ने सास और उसके दो बेटों को दोषी करार देकर उन्हें मौत की सजा का फैसला सुनाया।

फैसले के खिलाफ उच्च न्यायलय में अपील की गई जिसने फैसला बदलकर तीनों अभियुक्तों को बरी कर दिया। तमाम तथ्यों, सबूतों को ठुकराकर न्यायधीश ने अपना फैसला एक पत्र के आधार पर किया। यह पत्र सुधारानी ने अपनी ननद को लिखा था जिसमें उसने ननद से अपनी सास को भेजने का आग्रह किया था, उसे अपनी सास का स. चाहिए था। "उच्च न्यायलय के अनुसार यह पत्र इस बात का पक्का सबूत था कि सुधा की सास उससे स्नेह करती थी," तो "फिर ऐसी सास अपनी बहू को कैसे जला देगी?" (सरकार)।

हाइकोर्ट के इस फैसले से महिला-संगठनों में हड़कम्प मच गया। उच्चतम न्यायलय में एक अपील दायर की गई जिसमें महिला संगठन भी पक्षकार बने। यह केस इंडियन फेडरेशन ऑव वीमेन लॉयर्ज और अन्य बनाम श्रीमती शकुंतला और अन्य के नाम से जाना गया। जानी मानी कार्यकर्ता वकील रानी जेठमलानी ने यह मुकदमा लड़ा। सर्वोच्च न्यायलय ने उच्च न्यायलय के फैसले को बदल कर सुधारानी के पति और सास को दोषी करार दिया, मगर मृत्युदंड के बजाए उन्हें आजीवन कारावास की सजा दी। इसके लिए न्यायाधीश ने यह कारण दिया कि अभियुक्त एक बार बरी हो चुके थे और पिछले निर्णय के बाद से पूरे दो वर्ष का अंतराल बीत चुका है।

ऐसे मामलों में न्याय पाने के लिए महिला संगठनों ने जो चौकसी और दृढनिश्चय दिखाया वह निश्चय ही प्रशंसनीय है। न्यायपालिका ने भी उनके ऐसे अभियानों के प्रति सकाराात्मक रवैया अपनाया है। इस मुकदमे में उच्चतम न्यायालय अपना फैसला सुनाते वक्त अपने पितृसत्तात्मक पूर्वाग्रहों को इससे बाहर नहीं रख पाया जो हमें फैसले के अंत में उसकी टिप्पणी से स्पष्ट हो जाता है। न्यायलय के अनुसार नारी में "देवत्व का अंश अधिक होता है और अपने दैवीय गुणों के द्वारा वह समाज को बुराइयों से बचा सकती है। इसलिए स्त्रियों में समाज का कल्याण करने के लिए विशेष गुण मौजूद रहते हैं जिसे वह अपना सामाजिक दायित्व निष्ठापूर्वक पूरा करके कर सकती है।" (सरकार; 16)

"सास के आचरण के मामले में अपनी स्मरणशक्ति के लोप को दर्शाने के अलावा न्यायालय ने महिला संगठन के दृष्टिकोण को भी अनदेखा किया। ये संगठन यह नहीं चाहते थे कि स्त्रियों को देवी माना

जाए। बल्कि उनकी यही मांग थी कि संवैधानिक आदेश का निष्ठा से पालन हो और यह स्वीकारा जाए कि महिलाओं के भी अधिकार हैं, जिनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता।" (सरकार; 11)

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जहां तक समाज में महिलाओं की भूमिका का सवाल है, मूल दृष्टिकोण में कोई खास बदलाव नहीं आया है। निजी और सार्वजनिक के प्रश्न पर भी दृष्टिकोण पूर्ववत है। इस प्रकार बलात्कार, उत्पीड़न और क्रूरता या दहेज हत्या जैसे अपराधों को फौजदारी कानूनों में स्थान तो मिला है, मगर इन्हें अक्सर घरेलू मामला समझा जाता है, जिन्हें हाथ नहीं लगाया जाता या आपस में निपटाने के लिए छोड़ दिया जाता है।

इसका उदाहरण घरेलू हिंसा है। आम तौर पर माना जाता है कि पत्नी के साथ मारपीट रोजमर्रा की बात है और पति को अपनी पत्नी को पीटने का अधिकार है। आइए देखते हैं कि इस मामले में हमारा कानून क्या कहता है।

12.2.5 घरेलू हिंसा

कई पश्चिमी देश 70 के दशक में ही घरेलू हिंसा के खिलाफ कानून पारित कर चुके हैं। दुर्भाग्यवश हमारे देश में घरेलू हिंसा को एक विशेष श्रेणी के अपराध का दर्जा हासिल नहीं है। बल्कि इसे प्राय: दहेज के साथ जोड़ा जाता है। यह मान लिया जाता है कि हर तरह की हिंसा दहेज की मांग से जुड़ी होती है। मगर यर्थाथ में इसके मूल में चाहे दहेज की मांग हो या न हो घरेलू हिंसा बड़ी प्रचलित है।

हमारे कानून में घर की चारदीवारी के भीतर होने वाली हिंसा के संबंध में कोई विशेष प्रावधान नहीं हैं। सामान्य प्रावधान उन विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखकर नहीं चलते जिनका सामना किसी बाहरी अजनबी के हमले के विपरीत महिलाओं का अपने घर की चारदीवारी में करना पड़ता है।

अनुभव से सीखें 1

आप अपने आस-पास जो देखते, सुनते हैं, उसके या अपने अनुभव के आधार घरेलू हिंसा के बारे में संक्षेप में लिखें। आपके विचार में महिलाओं पर हिंसा के क्या कारण हैं? क्या यह न्यायोचित है? आपके विचार में महिलाएं इस हिंसा का सामना कैसे करती हैं।

बहरहाल भारतीय दंड संहिता की धारा 498 'ए' को कभी-कभी भूल से ही सही घरेलू हिंसा की स्थिति से निपटने के लिए प्रयोग किया जाता है। यह धारा कहती है:

"किसी औरत का पति या उसके पति का रिश्तेदार, जो कोई भी उसके साथ ऐसी क्रूरता करता है, ऐसा आचरण करता है जो औरत को क्रूरता की ओर धकेले, तो उस व्यक्ति को तीन वर्ष तक कारावास की सजा मिल सकती है और जुर्माना देना पड़ सकता है।

क्रूरता का अर्थ है :

क) जानबूझकर किया जाने वाला ऐसा आचरण, जिसकी प्रकृति कुछ ऐसी हो कि वह महिला को आत्महत्या की ओर ले जाए या उसे गंभीर चोट या उसके जीवन, अंगों को खतरा पहुंचाए या महिला की मानसिक या शारीरिक मृत्यु का कारण बन जाए; या

ख) महिला का उत्पीड़न जो उसे या उसके किसी संबंधी को किसी संपत्ति या मूल्यवान प्रतिभूति की नाजायज मांग को पूरा करने के लिए विवश करने के विचार से या उसके या उसके किसी संबंधी के इस मांग को पूरा न कर पाने के कारण किया जाए।

"इस तरह इसका लक्ष्य हालांकि दहेज उत्पीड़न और आत्महत्या से निपटना तो था मगर इसकी परिभाषा (क) क्रूरता को परिभाषित करने के लिए दहेज शब्द का प्रयोग नहीं करती। इसमें मानसिक क्रूरता भी शामिल है। इसलिए यह इतनी व्यापक है कि इसे घरेलू हिंसा और मानसिक क्रूरता की स्थितियों में प्रयोग किया जा सकता है। इसकी इतनी कमी है कि व्याख्या (क) में 'गंभीर'

शब्द का प्रयोग किया गया है। यह रोजाना की हिंसा को छोड़ देता है जिससे अधिकतर महिलाओं को दो-चार होना पड़ता है। मगर इस सीमा के बावजूद भी यह धारा हिंसक पतियों के लिए प्रभावशाली भयकारक का काम कर सकती है (मुखोपाध्याय, 1995 : 110)।

12.2.6 पितृसत्तात्मक पूर्वाग्रह

जैसा कि महिला संबंधी कानूनों पर अब तक हुई चर्चा में हम देख सकते हैं, फौजदारी कानून में ये मुद्दे राज्य और उसके तंत्र द्वारा संचालित होते हैं चाहे वह पुलिस हो या न्यायपालिका। राज्य इन्हें सामाजिक मुद्दा न मानकर सिर्फ कानूनी और संवैधानिक रूप से अनिवार्य सरोकार मानकर चलता है। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में हुए सुधारवादी प्रयासों का लक्ष्य महिलाओं के मुद्दों को आर्थिक न्याय और राजनीतिक अनिवार्यता चित्रित न करके उन्हें सामाजिक दायरे में समेटे रखना था। मध्यम वर्ग की सोच पर अभी तक यही विचारधारा हावी रही है। न्यायपालिका के सदस्य और पुलिस अधिकारी मुख्यत: समाज के इसी वर्ग से आते हैं। महिलाओं से जुड़े मामलों को अभी तक सामाजिक समस्या के रूप में लिया जाता है। यही बात दंड संहिता में मौजूद महिला संबंधी कानूनों पर लागू होती है। इसलिए इन कानूनों का कार्यान्वयन व्यक्ति विशेष (जज, जूरी, पुलिस और अन्य) के समाज कल्याण के बोध पर निर्भर करता है न कि कानून के राज पर (सरकार, 1995:21)।

ये पूर्वाग्रह हमारे सामाजिक मानसिकता का अंग है और ये न्याय और उसके कार्यान्वयन के प्रत्येक पहलू को अपने रंग में रंग लेते हैं। सामाजिक लिंग-सोच जनित पूर्वाग्रह हमें महिला संबंधी वैयक्तिक कानूनों में और प्रखर नजर आते हैं, जिनके बारे में चर्चा हम आगे के भाग में करेंगे। मगर इससे पहले कुछ प्रश्नों पर गौर करें।

जरा सोचिए ।

1) आपके विचार से महिलाएं अपने साथ हुए बलात्कार या बलात्कार का प्रयास करने वाले से क्या कहती हैं?

2) हमारे दंड या फौजदारी कानून से जुड़ी कुछ बाधाएं बताइए जो महिलाओं को न्याय पाने में आड़े आती हैं।

3) क्या आपके विचार में उनकी असुरक्षित असहाय स्थिति के मद्देनजर हमारी विधि प्रणाली में महिलाओं के लिए विशेष प्रावधान किए जाने चाहिए?

12.3 वैयक्तिक कानून

हमने पीछे देखा है कि महिलाओं और समाज में उनकी भूमिका के बारे में प्रचलित धारणाएं किस तरह से कानूनों को प्रभावित करती हैं। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि परिवार और उससे जुड़े अन्य संस्थानों से संबंधित मामलों को निजी और परंपरा से जुड़ा माना जाता रहा है, जिन्हें सम्प्रदाय विशेष के लिए छोड़ देना ही बेहतर समझा जाता है। इसीलिए हम पाते हैं कि हर सम्प्रदाय के अपने वैयक्तिक (पर्सनल लॉ) कानून हैं, जो सामाजिक लिंग-पूर्वाग्रहों से छाए हुए हैं। आइए अब इनमें से कुछ कानूनों के बारे में जानें।

12.3.1 वैयक्तिक और तलाक संबंधी कानून

जैसा कि हमने कहा है प्रत्येक सम्प्रदाय अपने वैयक्तिक कानूनों से संचालित होता है जो उसके धर्म और परंपरा पर आधारित रहते हैं।

उदाहरण के लिए हिंदू सम्प्रदाय में विवाह को पवित्र-बंधन माना जाता है। इसका मतलब यही है कि पत्नी तलाक के बारे में सोच तक नहीं सकती और उसे हर सूरत में अपने पति के साथ ही रहना

होता है। सौभाग्य से कानून इस परंपरागत धारणा से आगे बढ़ा है। विवाह अधिनियम को 1976 में संशोधित भी किया गया।

संशोधित कानून के तहत क्रूरता, व्यभिचार, परित्याग, धर्म-परिवर्तन, मानसिक कमजोरी, कोढ़, सात वर्ष या उससे अधिक समय के लिए लापता रहना, दांपत्य अधिकारों की बहाली के अदालती आदेश के बावजूद पति-पत्नी के बीच सहवास फिर से शुरू न हो पाना, पति को बलात्कार का दोषी पाया जाना, इत्यादि स्थितियों में तलाक संभव है (हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 13 और विशेष विवाह अधिनियम की धारा 27)।

सरसरी तौर पर तो प्रतीत होता है कि इन कानूनों के मामले में पति और पत्नी दोनों की स्थिति समान है। मगर वास्तविकता यही है कि हमारे देश के कानून स्वभावत: महिलाओं के प्रति पूर्वाग्रही है और उसके इस पूर्वाग्रह को न्यायपालिका की व्याख्या और मजबूती देती है। जैसा कि हम निम्न उदाहरणों से देख सकते हैं:

- भारतीय तलाक अधिनियम 1969 के तहत पत्नी के व्यभिचार के आधार पर पति को तलाक तो मिल सकता है, लेकिन वहीं पत्नी को तलाक पाने के लिए उसके व्यभिचारी होने, क्रूर व्यवहार जैसे दूसरे अपराधों या कौटुम्बिक व्यभिचार में लिप्त होने, दो वर्ष या उससे अधिक समय से पति का उसे छोड़ कर अलग रहना, ये सब पत्नी को खुद प्रमाणित करने होते हैं।
- महिलाओं की स्थिति पर गठित समिति ने अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया था कि द्विविवाह कानूनन एक फौजदारी अपराध होने के बावजूद हिंदू संप्रदाय में बड़े पैमाने पर प्रचलित है। पुरुष प्राय: दो-दो पत्नियां इसलिए रखते हैं कि समाज में ऐसा प्रचलन कुछ हद तक मान्य है। मगर एक फरियादी पक्ष/व्यक्ति के रूप में महिला अपने पति के खिलाफ अदालत के दरवाजे तभी खटखटा सकती है जब उसके पास इस बात के सबूत हों कि उसके द्विपत्नीक पति ने दूसरे विवाह की अनिवार्य रस्में पूरी की थीं। बहरहाल वास्तविक स्थिति बिल्कुल भिन्न होती है क्योंकि विवाह की रस्में पूरी किए बिना भी एक युगल के बीच पति-पत्नी का संबंध हो सकता है।
- महिलाओं के हितों के खिलाफ एक और प्रावधान जाता है वह है दांपत्य अधिकारों की बहाली। इस प्रावधान के तहत अगर पति-पत्नी एक-दूसरे के साथ रहना छोड़ दें तो उनमें से कोई भी फरियादी बनकर अदालत से दांपत्य अधिकारों की बहाली का आदेश ले सकता है।

हालांकि यह प्रावधान पुरुष और स्त्री दोनों के लिए है। मगर इसका प्रयोग पुरुष अक्सर अपनी पत्नियों के खिलाफ ही करते हैं। इसकी आड़ लेकर पति अपनी पत्नियों को घर से बाहर काम करने के अधिकार से वंचित रखते हैं। पत्नी अगर अपनी नौकरी या काम छोड़ने या पति का स्थानांतरण होने पर उसके साथ जाने से मना कर दे तो अदालत पति के पक्ष में दांपत्य अधिकारों की बहाली का आदेश दे देती है। दांपत्य अधिकारों के कानून के कार्यान्वयन का ऐसा व्यवहारिक मगर अपरिहार्य परिणाम महिलाओं की स्वतंत्रता को छीन लेता है और उनकी योजना और आशाओं पर पानी फेर देता है।

सन् 1983 में आंध्र प्रदेश के उच्च न्यायलय ने हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 9 को खारिज कर दिया, जिसमें दांपत्य अधिकारों की बहाली का प्रावधान है। यह ऐतिहासिक फैसला सुनाते हुए न्यायमूर्ति पी.ए. चौधरी ने टिप्पणी की थी कि "दांपत्य अधिकारों की बहाली का उपाय पति और पत्नी को समान रूप से देकर, यह धारा स्पष्टतया समानता की कसौटी पर खरी उतरती है। मगर यथार्थ की असमानताओं के होते हुए व्यवहार की समानता न तो न्याय है और न ही संवैधानिक सिद्धांतों का सम्मान"। (*सार्क गाइड बुक ऑन वीमेन इन डेवलेपमेंट*)

मगर कुछ ही समय बाद *सरोज रानी बनाम सुदर्शन कुमार* के मुकदमे पर निर्णय देते हुए उच्चतम न्यायलय ने उच्च न्यायलय के फैसले को बदल दिया। सर्वोच्च न्यायलय के फैसले के अनुसार "दांपत्य अधिकार विवाह संस्था में नैसर्गिक रूप से मौजूद हैं।"(वही)

ये सामाजिक लिंग-जनित पूर्वाग्रह सिर्फ हिंदू सम्प्रदाय से जुड़े कानूनों में ही मौजूद नहीं हैं। बल्कि दूसरे सम्प्रदायों में भी ये खूब मौजूद हैं।

उदाहरण के लिए मुस्लिम वैयक्तिक कानूनों के तहत पति को कानूनन चार पत्नियां रखने का अधिकार है। पति अपनी पत्नी को एकतरफा मुंह जुबानी तलाक दे सकता है। उधर ईसाई वैयक्तिक कानूनों के तहत ईसाई पति अपनी पत्नी को व्यभिचारी बताकर तलाक दे सकता है मगर ईसाई महिला को तलाक पाने के लिए व्यभिचार को कौटुम्बिक व्यभिचार, या द्विविवाह या बलात्कार या दहेज या पशुता से जोड़ना जरूरी है। मुस्लिम और ईसाई वैयक्तिक कानूनों में परस्पर सहमति से तलाक पाने या देने का कोई प्रावधान नहीं है।

आइए अब वैयक्तिक कानूनों के दायरे में आने वाले कुछ अन्य कानूनों पर दृष्टि डालते हैं।

12.3.2 दाय प्राप्ति और उत्तराधिकार संबंधी कानून

महिला को संपत्ति का उत्तराधिकार क्षेत्र और धर्म के अनुसार अलग-अलग है। हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 ने महिलाओं को भी अपने पिता की संपत्ति पर बराबर का अधिकार दिया है। मगर यह अधिनियम किसी व्यक्ति के अपनी संपत्ति की वसीयत करने के अधिकार पर कोई रोक टोक नहीं करता, इसलिए कई बार परिवार की विधवा औरतें या बेटियां इस अधिकार से वंचित कर दी जाती हैं। भारत सरकार की पहल पर महिलाओं की स्थिति पर गठित समिति ने सिफारिश की थी कि वसीयतकर्ता के अधिकारों पर कुछ अंकुश लगाया जाए, ताकि कोई भी कानूनन उत्तराधिकारी इस अधिकार से वंचित न रहे।

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 23, जो कि एक निवास स्थान के उत्तराधिकार से जुड़ी है, उसके चलते भी अविवाहित, विधवा और विवाहित बेटियों में भेदभाव पैदा हुआ है। अगर कोई हिंदू पिता मरता है और उसकी संपत्ति में घर भी शामिल है तो उसमें रहने का अधिकार उसके महिला उत्तराधिकारियों में सिर्फ अविवाहित बेटी, विधवा या तलाकशुदा बेटी को ही प्राप्त है। परिवार के अन्य महिला सदस्य यानी विवाहित बेटी उस घर में रहने का अधिकार तब तक नहीं मांग सकती जब तक उसके भाई या अन्य पुरुष सदस्य खुद उसे इस संपत्ति में अधिकार न दें।

इसी तरह मुस्लिम वैयक्तिक कानून (मुस्लिम पर्सनल लॉ) में महिलाओं को पैतृक संपत्ति पर कुछ अधिकार हासिल हैं मगर अपने भाइयों के बराबर नहीं। मुस्लिम वैयक्तिक कानून की एक महिला विरोधी विशेषता यह है कि इसमें उत्तराधिकार संबंधी कानूनों के तहत अगर पुरुष और महिला उत्तराधिकारी बराबर संख्या में हैं, जैसे एक बेटा एक बेटी तो संपत्ति में बेटे को बेटी से दोगुना हिस्सा मिलता है। फिर अगर एक व्यक्ति मर जाए और अपने पीछे सिर्फ एक बेटी छोड़ जाए, तो भी बेटी को अपने पिता की संपत्ति में आधे से ज्यादा हक नहीं मिलता।

दूसरे सम्प्रदायों के वैयक्तिक कानूनों में भी इसी तरह के पूर्वाग्रह और सामाजिक-लिंग सोच जनित भेदभाव पाए जाते हैं।

पूर्ववर्ती त्रावणकोर रियासत, जो कि वर्तमान में केरल राज्य का हिस्सा है, में भारतीय मूल के ईसाइयों में दायप्राप्ति और उत्तराधिकार के मामले त्रावणकोर क्रिश्चियन सक्सेशन एक्ट, 1916, द्वारा संचालित होते थे। इस अधिनियम के अनुसार बेटी का अधिकार स्त्रीधन तक सीमित था और अगर उसे स्त्रीधन नहीं दिया गया हो तब उसे पिता की संपत्ति पर अधिकार मिलता तो था, मगर यह नगण्य होता था।

त्रावणकोर रियासत में ईसाई सम्प्रदाय के निर्वसीयती उत्तराधिकार को यही कानून संचालित करता था। स्वतंत्रता के बाद ये रियासतें भारतीय संघ का अभिन्न अंग बन गईं और इन रियासतों में प्रचलित सभी कानून राज्य (कानून) अधिनियम, 1951, के भाग 'बी', के तहत निरस्त कर दिए गए। इसके बाद भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925, केरल में अप्रैल 1957 से लागू हो गया।

इन परिवर्तनों के बावजूद त्रावणकोर क्रिश्चियन सक्सेशन एक्ट वर्ष 1986 तक ईसाई महिलाओं के संपत्ति संबंधी अधिकारों को संचालित करता रहा। मैरी राय बनाम केरल राज्य के मुकदमे में त्रावणकोर क्रिश्चियन सक्सेशन एक्ट के भेदभाव भरे प्रावधानों को उच्चतम न्यायलय में इस आधार पर चुनौती दी गई कि यह अधिनियम संविधान के अनुच्छेद 14 में प्रदत्त समानता के अधिकार का हनन करता है। उच्चतम न्यायलय ने अपने फैसले में आदेश दिया कि बिना वसीयत मरने वाले ईसाइयों के वारिसों का उत्तराधिकार भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम के प्रावधानों से संचालित हो। यह एक ऐतिहासिक मुकदमा था क्योंकि इसने पूर्ववर्ती त्रावणकोर और कोचीन की रियासतों के ईसाई समुदायों में महिलाओं के संपत्ति उत्तराधिकार के अधिकारों को बहाल किया।

12.3.3 निर्वाह (गुज़ारा खर्च) संबंधी कानून

अब हम गुज़रे के मामले में विवाह, तलाक और उत्तराधिकार से संबंधित कानूनों पर रोशनी डालेंगे।

कुछ समय पहले तक भारत में सभी सम्प्रदायों की स्त्रियां, विवाहित या तलाकशुदा, दंड प्रक्रिया संहिता के तहत गुजारे खर्च के लिए दावा कर सकती थीं। मगर 1968 मुस्लिम महिला (तलाक संबंधी अधिकार रक्षा) अधिनियम के पारित हो जाने से मुस्लिम पुरुषों को धारा 125 के प्रावधानों और साथ ही तलाकशुदा पत्नियों के प्रति दायित्वों से मुक्ति मिल गई। अब आप प्रश्न कर सकते हैं कि भला मुस्लिम महिलाओं को गुजारे खर्च के अधिकार से वंचित क्यों रखा गया? इसका उत्तर देने के लिए हमें शाहबानों केस की गहराई में जाना होगा, जिसने मुस्लिम महिलाओं के गुजारे के अधिकार पर विवाद के एक भयंकर झंझावत को जन्म दिया था। मगर इससे पहले यह देखें कि गुजारे के बारे में भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 क्या कहती है। इस धारा के तहत कुछ विशेष परिस्थितियों में निम्न श्रेणी के लोग गुजारे भत्ते के लिए दावा कर सकते हैं:

1) पत्नी–जो अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ है, उसे गुजारे के लिए दावा करने का अधिकार है।

2) बच्चा–नाबालिग, जायज या नाजायज़ बच्चा अगर वह अपना भरण-पोषण नहीं कर सकता है, तो उसे गुजारा भत्ता पाने का अधिकार है

3) मां–अगर अपना गुजारा नहीं कर सकती है तो उसे अपने बेटे से गुजारे का दावा करने का अधिकार है।

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 के आधार पर शाहबानो ने 1978 में इंदौर की अदालत में 500 रुपया प्रतिमाह के गुजारे भत्ते के लिए एक याचिका दायर की। पूरे तैंतालीस वर्ष तक विवाहित जीवन बिताने के बाद शाहबानों को उसके वकील पति ने घर से बाहर निकाल दिया था। उसकी याचिका जब अदालत में विचाराधीन थी तो उसी बीच उसके पति ने उसे तलाक दे दिया और अब उसने दलील दी कि चूंकि शाहबानो को वह तलाक दे चुका है सो उसे गुजारे खर्च का कोई अधिकार नहीं क्योंकि वह अब उसकी पत्नी नहीं रही। उसने आगे दलील दी कि वह शाहबानो को गुजारा भत्ता और मुस्लिम पर्सनल लॉ के तहत निर्दिष्ट इद्दात की अवधि के दौरान मेहर दे चुका है। इद्दात का मतलब तीन महीने के बराबर या गर्भवती महिला के मामले में बच्चे के जन्म होने तक या नई शादी के कानूनन वैध होने तक प्रतीक्षा की अवधि है।

मगर मजिस्ट्रेट ने अगस्त 1979 में शाहबानो को 25 रुपया प्रतिमाह का गुजारा भत्ता देने का आदेश दिया। गुजारे भत्ते की राशि को बढ़ाने के लिए शाहबानो ने मध्य प्रदेश उच्च न्यायलय में पुनर्विचार याचिका दायर की, जिसने गुजारे भत्ते की राशि को बढ़ाकर 179.20 प्रतिमाह कर दिया।

इस फैसले के खिलाफ शाहबानो के पति ने उच्चतम न्यायलय में याचिका दायर कर दी जहां उसने दलील दी उसे गुजारा भत्ते देने से छूट दी जाए क्योंकि मुसलमान होने के नाते उस पर शरीयत या मुस्लिम वैयक्तिक कानून ही चलाया जा सकता है जिसमें कहा गया है कि एक मुसलमान अपनी तलाकशुदा पत्नी को इद्दात की अवधि तक ही गुजारा खर्च देगा।

मगर न्यायमूर्ति चंद्रचूढ़ ने अपने फैसले में तलाकशुदा मुस्लिम महिलाओं के गुजारे के अधिकार को मान्यता दी। उन्होंने कहा कि वैयक्तिक कानून और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 में अगर टकराव हो तो धारा 125, जो कि एक वैधानिक कानून है, को ही श्रेष्ठ माना जाएगा और सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होगा, भले ही उनका धर्म कुछ भी हो।

बस फिर क्या था मुस्लिम सम्प्रदाय पर हावी कुठमुल्ला लोगों ने धर्म को इस फैसले से जोड़ दिया। उच्चतम न्यायलय के इस ऐतिहासिक फैसले के खिलाफ एक राष्ट्रव्यापी आंदोलन छिड़ गया। फैसले को मुस्लिम सम्प्रदाय के वैयक्तिक कानूनों में सीधा हस्तक्षेप माना गया। मुस्लिम नेताओं ने आह्वान किया कि मुस्लिम समाज को शरीयत कानून को अपनाना जरूरी है तभी उनकी धार्मिक पहचान बच सकती है।

पुरातनपंथियों के दबाव के आगे तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी की सरकार ने समर्पण कर दिया। सो उसने 1986 में मुस्लिम महिला (तलाक संबंधी अधिकार रक्षा) अधिनियम पारित कर दिया। इस नए अधिनियम ने तलाकशुदा मुस्लिम महिला के गुजारे की जिम्मेदारी उसके मां-बाप और संबंधियों पर डाल दी। तिस पर भी अगर उसके सगे संबंधी उसका खर्च वहन नहीं कर सकते हैं तो वह मुस्लिम वक्फ बोर्ड के पास फरियाद लेकर जा सकती है, जिसकी स्थापना धार्मिक और कल्याणकारी कार्यों के लिए की गई है।

इस अधिनियम का बनाया जाना यह बता देता है कि महिलाओं को एक स्वतंत्र प्राणी के रूप में नहीं देखा जाता है, जिनके कुछ मानवाधिकार हैं। बल्कि उन्हें सम्प्रदायों के दायरे में जकड़ दिया गया है, जो खुद (चाहे वे हिंदू हों, मुस्लिम हों या ईसाई धर्मावलंबी हों) महिलाओं के मानवाधिकारों को कोई सम्मान नहीं देते। ऐसे में उनके लिए पंथ निरपेक्ष कानूनी प्रावधान ही एकमात्र रास्ता बचा रह जाता है।

पुरुषों और महिलाओं में इतना भेद करने वाले विभिन्न वैयक्तिक कानूनों का प्रचलन सरासर मौलिक अधिकारों का हनन है। भारतीय संविधान का प्रिएम्बल (प्रस्तावना) यह वचन देता है कि राज्य समूचे भारत के "नागरिकों के लिए एक समान नागरिक संहिता बनाने की दिशा में काम करेगा।" मगर मुस्लिम महिला (तलाक अधिकार संबंधी) अधिनियम बनाकर राज्य ने असल में यह दर्शा दिया है कि उसे महिलाओं के सरोकारों, उनके अधिकारों और भारतीय संविधान के सिद्धांतों व आदर्शों की कोई परवाह नहीं है।

12.4 समान नागरिक संहिता

जैसा कि पीछे कहा गया है, भारतीय संविधान के अनुच्छेद 44 में समान नागरिक संहिता का प्रावधान दिया गया है, जो राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों में एक है। इन्हीं नीति निर्देशक सिद्धांतों को देश के संचालन के लिए मूल आधार माना जाता है। मगर जब भी समान नागरिक संहिता की दिशा में प्रयास किया जाता है, तो तभी अल्पसंख्यकों के हितों की बात उठाई जाने लग जाती है या यह अल्पसंख्यकों को फंसाने और अल्पसंख्यक विरोधी प्रचार का मुद्दा बना दिया जाता है। देश की लगभग आधी आबादी और उसके अधिकारों की निरंतर उपेक्षा की जाती रही है क्योंकि दोनों पक्षों के पुरुषों का सरोकार सामाजिक-लिंग न्याय या महिलाओं के अधिकार कम और स्पर्धी सामुदायिक पहचान अधिक है। दूसरी ओर साम्प्रदायिक माहौल के चलते अल्पसंख्यक समुदाय इस मुद्दे पर बचाव का रास्ता अपनाते हैं। अगर हम कानून प्रणाली की बहुविधता को स्वीकार करें तो भी एक ऐसी कानूनी संहिता होनी चाहिए जो देश के नागरिकों विशेषकर महिलाओं के मानवाधिकारों को ध्यान में रखे और उनकी रक्षा करे। अभी कई महिला संगठन इसके समाधान तलाश रहे हैं और इस मुद्दे पर बहस चल रही है। कई संगठन महसूस करते हैं कि मौजूदा साम्प्रदायिक माहौल में सामाजिक-लिंग न्याय की बात करना कठिन होता जा रहा है और अपनी धार्मिक दीवारों को तोड़कर महिलाओं को मिल जुलकर उन समस्याओं का समाधान करना होगा जो उन सबके लिए समान हैं।

जरा सोचिए 2

1) वैयक्तिक कानून क्या हैं?

2) वैयक्तिक कानूनों में लिंग-सोच जनित पूर्वाग्रह के कुछ उदाहरण दीजिए।

12.5 सारांश

कानून सामाजिक बदलाव का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह आचरण को चुनौती देने का एक शक्तिशाली वैध माध्यम है। मगर इसके प्रयोग मात्र से ही समाज के पितृसत्तात्मक चरित्र को नहीं बदला जा सकता है। इसमें प्रत्येक पात्र उसी पितृसत्तात्मक समाज से ही आता है। इसलिए समानता का संवैधानिक और वैधानिक ढ़ाचा महिलाओं की ऐतिहासिक रूप से वंचित और उपेक्षित स्थिति को समानता और समान सहभागिता में नहीं बदल सकता है।

कानूनों पर अमल बहुत कम हो पाता है क्योंकि उस पर अमल करने व कराने वाले लोग कानून के प्रयोजन और उसकी भावना के प्रति संवेदनशील कतई नहीं हैं, सो उन्हें संवेदनशील बनाए जाने की जरूरत है। स्वयं महिलाओं को अपने अधिकारों और दायित्वों के प्रति जागरूक बनना पड़ेगा। यह जागरूकता उन्हें सशक्तिकरण की ओर ले जाएगी और साथ ही बेहतर कानूनों और मौजूदा कानूनों के बेहतर कार्यान्वयन के लिए संघर्ष की दिशा में उनकी सहायक होगी।

नारी-अधिकारवादी आंदोलन समकालीन दौर के सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक आंदोलनों में है जिसने अधिकारों, संसाधनों और अवसरों के मौजूदा असमान वितरण को चुनौती देकर उसे बदलने की मांग की है। सामाजिक-लिंग-न्याय की अवधारणा को अब ज्यादा से ज्यादा आगे लाया जा रहा है। अब यह माना जा रहा है कि लैंगिक-विषमता मानव समाज की एक अनिवार्य शर्त नहीं हैं। बल्कि यह सांस्कृतिक उपज है, जिसे बदला जा सकता है। इसीलिए बदलाव लाने के लिए कानून के साथ-साथ सामाजिक-लिंग (जेंडर) संवेदनशील बनाने और सामाजिक-लिंग-प्रशिक्षण की रणनीति को ज्यादा से ज्यादा अपनाया जाने लगा है।

12.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

तिवारी, वाइ.के. (1991) *स्टैटस ऑफ हिंदू वूमेन एंड एफिकेसी ऑफ प्रोटेक्टिव लेजिस्लेशन.*

एग्नेज, लेविया (1995) *स्टेट, जेंडर एंड द रेटॉरिक ऑफ लॉ रिफार्म.* एस.एन.डी.टी. वीमेंस यूनिवर्सिटी : मुम्बई.

इकाई 13 आर्थिक संसाधन: पहुंच, अधिकार, उपयोग और उत्पादन

रूपरेखा

13.0 लक्ष्य और उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 महिलाओं की स्थिति: कार्य उत्पादकता का मूल्य

- 13.2.1 महिलाओं का कार्य
- 13.2.2 आर्थिक संसाधनों पर अधिकार
- 13.2.3 भीतरी और बाहरी

13.3 सरकार की भूमिका

- 13.3.1 महिलाओं के लिए सरकारी कार्यक्रम
- 13.3.2 निरापद युक्तियां

13.4 व्यावसायिक प्रशिक्षण कार्यक्रम

- 13.4.1 सूचना का प्रसार
- 13.4.2 परियोजना की संस्तुति
- 13.4.3 निगरानी
- 13.4.4 बाजार
- 13.4.5 बाजार संपर्क या कड़ियां

13.5 स्वयंसेवी संगठनों की पहल

13.6 सारांश

13.7 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.0 लक्ष्य और उद्देश्य

हमारे समाज में महिलाओं की जो स्थिति है इसका संबंध उनकी आर्थिक हैसियत से है। इस इकाई में हम आर्थिक संसाधनों, जो कि सबसे महत्वपूर्ण संसाधन माने जाते हैं, के संदर्भ में महिलाओं की भूमिका पर चर्चा करेंगे। इस इकाई का लक्ष्य :

- महिलाओं की आर्थिक स्थिति का मूल्यांकन करना है;
- उनकी कार्यसहभागिता का मूल्यांकन करना है; और
- कुछ सरकारी और गैरसरकारी पहलों का विश्लेषण करना है।

चर्चा के इन बिन्दुओं के जरिए हमें आशा है कि विद्यार्थी यह समझ पाएंगे कि महिलाएं हाशिए की स्थिति में क्यों हैं। हमारा उद्देश्य आपको सिर्फ जानकारी देना ही नहीं है बल्कि आपके सामने पूरी तस्वीर रखना है ताकि आप स्थिति का अच्छी तरह से विश्लेषण कर सकें।

13.1 प्रस्तावना

किसी भी समाज या समुदाय की हैसियत का सीधा संबंध उसकी आर्थिक स्थिति से होता है। दूसरी तरफ आर्थिक स्थिति अधिकारों, विशेषाधिकारों और आर्थिक क्रिया-कलापों में भागीदारी पर निर्भर करती है।

महिलाओं को समाज में हाशिए की स्थिति में धकेला गया है। यह स्थिति आर्थिक कार्यक्षेत्र में भी प्रतिबिंबित होती है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आर्थिक क्रिया-कलापों में महिलाएं परंपरागत रूप से बराबर की भागीदार थी विशेषकर कृषिप्रधान और छोटे समाजों में। यही बात निम्न जातियों के बारे में कही जा सकती है। मगर आम तौर पर महिलाओं से परंपरागत, अर्ध-कुशल या सीधे ऐसा काम कराया जाता है जो उन्हें महज इसलिए सौंपा जाता है कि वे महिलाएं हैं। इसलिए खाना पकाना, बच्चों का पालन पोषण समेत अन्य घरेलू कामों को ही महिलाओं का दायित्व या कार्यक्षेत्र माना जाता है। अब चूंकि इन कार्यों का आर्थिक गणना में धनोपार्जन के रूप में कोई महत्व नहीं है, इसलिए अक्सर इन्हें अनुपयोगी माना जाता है या फिर इन्हें इतना महत्वपूर्ण नहीं माना जाता कि इन्हें समाज में सम्मानजनक स्थान मिले।

एक ऐसे समाज में जो ज्यादा से ज्यादा गैरपरंपरागत आर्थिक क्रिया-कलापों की ओर बढ़ रहा है, उसमें संपर्क, शिक्षा, दक्षता और परिवार व समुदाय से समर्थन के अभाव में महिलाओं का श्रमशक्ति में योगदान नगण्य है।

आर्थिक सहभागिता के लिए अधिकारों और अवसरों की समानता की आवश्यकता काफी समय पहले से महसूस की जा रही है। महिलाओं की मुक्ति और पुरुषों से उनकी समानता असंभव है और बनी रहेगी क्योंकि महिलाओं को सामाजिक रूप से उत्पादक कार्यों से बाहर रखा जाता है। उन्हें घरेलू काम-काजों तक ही सीमित रखा जाता है जो कि निजी कार्यक्षेत्र है। जब तक सार्वजनिक और निजी क्षेत्र परस्पर एकनिष्ठ अधिकारक्षेत्रों में विभाजित रहेंगे, जिसमें सार्वजनिक अधिकार-क्षेत्र को तो मान्यता दी जाती है मगर निजी क्षेत्र को गैर-उत्पादक अधिकार क्षेत्र का दर्जा दिया जाता है, तब तक महिलाओं के आर्थिक योगदान को कोई मान्यता नहीं मिलेगी। इस इकाई में हम यह बताएंगे कि हमारे समाज में महिलाओं की आर्थिक स्थिति क्या है।

इसमें हम महिलाओं की स्थिति, संसाधनों तक उनकी पहुंच और उन पर नियंत्रण के साथ-साथ परिवार और समाज में उनकी सामाजिक स्थिति के बीच संबंध के बारे में जानेंगे। यहां हम विभिन्न सरकारी पहलों और स्वयंसेवी संगठनों के कार्य पर भी चर्चा करेंगे, जो आर्थिक उपेक्षा की समस्या के समाधान की दिशा में प्रयास करने वाले महत्वपूर्ण पात्र हैं।

13.2 महिलाओं की स्थिति: कार्य उत्पादकता का मूल्य

आर्थिक पहुंच को हम "किसे क्या मिलता है" जैसे सरल शब्दों में परिभाषित कर सकते हैं। सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) की सामाजिक रचना समाज में महिलाओं और पुरुषों की भूमिकाओं को ही परिभाषित नहीं करती है, बल्कि यह सभी संसाधनों तक उनकी पहुंच की प्रकृति और सीमा को भी तय करती है।

पीछे की इकाइयों में यह विस्तार से बताया जा चुका है कि अपने सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) के कारण महिलाएं जन्म से ही अलाभकर स्थिति में रहती हैं। यह मुख्यत: सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) की सामाजिक परिभाषा और उसमें महिलाओं की स्थिति को प्रतिबिम्बित करती है। इसके फलस्वरूप महिलाओं को आर्थिक संसाधनों के साथ-साथ शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि जैसे बुनियादी संसाधनों से दूर रखा जाता है।

13.2.1 महिलाओं का कार्य

भारतीय श्रम शक्ति में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उनका योगदान संदेह से परे स्थापित हो चुका है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि महिलाएं अर्थव्यवस्था की रीढ़ हैं।

इसके बावजूद भी दुर्भाग्यवश महिलाओं को उनके आर्थिक योगदान के लिए समुचित सम्मान नहीं मिला है। अब चूंकि महिलाओं की अधिकांश गतिविधियों में कोई प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ दिखाई नहीं देता, इसलिए अर्थव्यवस्था में उनके योगदान को अमूमन अनदेखा कर दिया जाता है। अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुमान के अनुसार विकासशील देशों में अवैतनिक घरेलू कार्य का मूल्य उनके सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जीएनपी) का 25-30 प्रतिशत के बराबर है। महिलाएं कृषि उत्पादन, पशुपालन और अन्य क्रिया-कलापों जैसे भंडारण, कृषि उपज का विपणन, खाद्य संसाधन इत्यादि में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इन प्रत्यक्ष आर्थिक क्रिया-कलापों के अलावा वे रोजाना 10-12 घंटे घर के काम-काज और अन्य संबंधित गतिविधियों में बिताती हैं। जैसे खाना पकाना, घर की साफ-सफाई, जलावन की लकड़ी इकट्ठा करना, मीलों पैदल चलकर पीने का पानी लाना, पालतू जानवरों की देखभाल करना, घर की जमीन पर खेती-बाड़ी का काम करना, सिलाई बुनाई और बच्चों की देखभाल करना। मगर इन सब क्रिया-कलापों से प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ मिलता नजर नहीं आता। फलस्वरूप इनको परिमाण में आंकना बड़ा कठिन है और इसीलिए इन्हें अनदेखा कर दिया जाता है। अभी कुछ समय पहले से ही महिला कार्यकर्ताओं और महिला अधिकारों की पैरवी करने वाले संगठनों द्वारा किए गए अध्ययनों और प्रयासों के चलते ही महिलाओं के इस अदृश्य योगदान को "मापने" की वैकल्पिक विधियां विकसित हो पाई हैं और इस महत्वपूर्ण मुद्दे पर जनचेतना बढ़ी है। परंतु इस दिशा में कोई सकारात्मक कार्य नहीं किया जा रहा है।

13.2.2 आर्थिक संसाधनों पर अधिकार

महिलाओं के कार्य की सांख्यिकी मान्यता की कमी अपने आप में दुर्भाग्यपूर्ण ही नहीं है। बल्कि यह महिलाओं के सामने आने वाली बुनियादी समस्याओं को और जटिल बनाती है। ऐसी ही एक समस्या है आर्थिक संसाधनों तक उनकी पहुंच न होना। महिलाओं को आजीवन आर्थिक संसाधनों तक पहुंच के अधिकार से ही वंचित रखा जाता है, उन पर नियंत्रण या पकड़ की बात तो बहुत दूर की रही। मूलत: ऐसे पितृसत्तात्मक सामाजिक ढांचे में जहां पुरुष आर्थिक सत्ताधिकार की बागडोर पर अपने नियंत्रण में जरा सी ढील तक देने के लिए राजी न हों, महिलाओं को जीवन भर अपने पिता, भाइयों, पतियों और बेटों पर आश्रित रहना पड़ता है। दक्षिण भारत की कुछ मातृवंशी जातियों/गोत्रों को छोड़कर, संपत्ति का परंपरागत पितृवंशीय हस्तांतरण यह सुनिश्चित करता है कि भूमि या अन्य उत्पादक संपत्तियों के स्वामित्व पर महिलाओं का कोई अधिकार नहीं रहे--न तो उनके पैतृक परिवार में, न ही उस परिवार में जिनमें उन्हें ब्याहा गया हो।

मौजूदा सामाजिक धारणा यही है कि बेटा तो "वृद्धावस्था की पूंजी" या बुढ़ापे का सहारा है, मगर बेटी मां बाप पर एक बोझ है जो "पराए घर की अमानत है", और जो अपने साथ दहेज में घर की धन-दौलत का एक अच्छा हिस्सा अपने साथ ले जाएगी। विवाह से पहले लड़की घर के काम-काज का जो भारी बोझ ढोती है, जैसे छोटे भाई-बहनों की देखभाल करना, खाना पकाने और घर की साफ-सफाई में मां का हाथ बंटाना, पशुओं को चराना, उसे कोई महत्व नहीं दिया जाता है क्योंकि ये परिवार के लिए कोई प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ लेकर नहीं आते। विवाह हो जाने के बाद उसकी पहचान अपने बेटों के इर्द-गिर्द घूमती है। मगर आर्थिक परिसंपत्तियों पर उसे कोई अधिकार नहीं मिलता। बुढ़ापे में गुजर-बसर के लिए उसे अपने बेटों पर ही आश्रित रहना पड़ता है। दुर्भाग्य से अगर महिला पुत्र पैदा किए बिना विधवा हो जाए और उसके ससुराली व मायके वाले उसे आश्रय देने से मना कर दें तो उसके पास बद से बदतर जीवन जीने के अलावा कोई विकल्प नहीं रहता और कभी स्थिति इतनी असहनीय हो जाती है कि निराशा में वह आत्म-हत्या तक कर बैठती है।

यह उदाहरण हालांकि चरम स्थिति का है, मगर यह इस आवश्यकता को जाहिर करता है कि महिलाओं को आर्थिक संसाधनों पर अधिकार मिलना चाहिए, उन तक उनकी पहुंच होनी चाहिए। आर्थिक संसाधनों तक पहुंच उन्हें संकट की स्थिति में न सिर्फ आत्म-निर्भर बनाती है बल्कि यह उन्हें आजीवन आर्थिक रूप से स्वतंत्र बनाने का साधन भी मुहैय्या कराती है।

आर्थिक संसाधनों तक पहुंच का एक बड़ा हिस्सा धनोपार्जन के रूप में आमदनी तक पहुंच है। कई महिलाओं को अपनी आमदनी पर नियंत्रण या अधिकार अपने आप नहीं मिल जाता। मगर यह परिवार की नजर में उनकी महत्ता को बढ़ाता है और परिवार के भीतर क्रम-परंपरावादी सत्ताधिकार के ढांचे पर अपनी पकड़ बनाने में उनकी सहायता करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो इससे उनकी स्थिति सुधरती है और परिवार में उन्हें अधिक स्वायत्तता और सौदाकारी की क्षमता हासिल होती है। उन्हें अक्सर विवाह, बच्चों की शिक्षा और पारिवारिक संसाधनों के उपयोग और उनके आबंटन जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर निर्णय का अधिकार मिल जाता है, जिससे अभी तक वे वंचित थीं।

धनोपार्जन के रूप में होने वाली आमदनी तक पहुंच उन्हें निर्णय करने के अधिकार तो देती है मगर इसके साथ उसके कई और लाभ भी हैं। जब किसी स्त्री की अपनी कमाई, अपनी आमदनी पर नियंत्रण होता है तो यह देखा जाता है कि उसकी आमदनी परिवार के कल्याण पर ही खर्च होती है जैसे पोषण, स्वास्थ्य और शिक्षा। यह उसके परिवार के सदस्यों के जीवन स्तर में सुधार लाता है।

स्त्री की आमदनी का स्रोत अगर नौकरी है तो वह बाहरी दुनिया के संपर्क में भी आती है। वह दूसरे लोगों के संपर्क में आती है, जो उसके नजरिए के दायरे को व्यापक बनाता है, समस्याओं को वह बेहतर ढंग से समझने लगती है। ये सब मिलकर उसके सूचना आधार को बड़ा बनाते हैं—खासकर अपने अधिकारों के बारे में वह अधिक जागरूक होती है और अपनी स्थिति को मूल्यांकन सजगता से कर सकती है।

बागानों में महिलाएं निश्चित रूप से मालिक तो नहीं, पर सस्ते श्रम का स्रोत

सौजन्य : कपिल कुमार, इग्नू, नई दिल्ली

13.2.3 भीतरी और बाहरी

मगर आर्थिक संसाधनों तक महिलाओं की पहुंच या उसकी कमी की चर्चा हम "भीतरी-बाहरी" के द्विभाजन की बात किए बिना पूरी नहीं कर सकते हैं। सामाजिक नियम ही महिला और पुरुष के लिए विचरण के शारीरिक क्षेत्र निश्चित करते हैं। महिलाएं तो "भीतरी" क्षेत्र तक सीमित रखी जाती हैं मगर पुरुषों को "बाहरी" क्षेत्र में विचरण की स्वतंत्रता मिलती है। यह एक बुनियादी अवरोध पैदा करता है जो महिलाओं को लाभप्रद रोजगार पाने से रोकता है। अपने परिवार के लिए वे अवैतनिक श्रम करें तो निश्चय ही इस पर कोई आपत्ति नहीं रहती। मगर यह स्थिति जाति, वर्ग और विशेषकर परिवार की आर्थिक स्थिति के अनुसार बदल जाती है। निर्धन परिवारों की स्थिति ऐसी नहीं होती कि वे अपनी महिलाओं को बाहरी क्षेत्र से पृथक या अलग रखें, सो वे उन्हें श्रम शक्ति में प्रवेश करने की अनुमति दे देते हैं। इनमें से अधिकांश महिलाओं को असंगठित क्षेत्र में ही निर्माण श्रमिकों, बीड़ी और चूड़ियां बनाने वाले मजदूरों, सब्जी और मछली विक्रेताओं, घरेलू नौकरों इत्यादि के रूप में काम मिल पाता है। उन्हें कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है जैसे शोषण, न्यूनतम मजदूरी, और पेशागत स्वास्थ्य संबंधी जोखिम जो कि असंगठित क्षेत्र की विशेषताएं हैं। मगर तमाम कठिनाइयों के बावजूद इन महिलाओं का अपने छोटे आर्थिक संसाधनों पर संपन्न परिवारों की महिलाओं से कहीं ज्यादा सीधा अधिकार रहता है। बहरहाल सामाजिक नियमों का अतिप्रभावी नियंत्रण इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि महिलाओं को श्रमशक्ति से हटाया जाना ही हमारे समाज में किसी परिवार की उच्च आर्थिक और सामाजिक स्थिति का एक सबसे बड़ा प्रतीक है।

अनुभव से सीखें

आपने ऐसी महिलाओं को सब्जी बेचते या छोटी-मोटी दुकान चलाते देखा होगा। उनसे पता कीजिए कि छोटा सा कारोबार चलाने या उसे शुरू करने में उन्हें कितना विरोध या समर्थन मिला।

जरा सोचिए ...

1) क्या आपकी दृष्टि में महिलाओं को संपत्ति का वारिस बनने के अधिकार से वंचित रखना न्यायोचित है?

2) आपके विचार में ऐसे कारण कौन से हैं जो महिलाओं को मुख्यत: घरेलू काम-काजों में ही लगाए रखते हैं?

13.3 सरकार की भूमिका

स्वतंत्रता के पहले 20 वर्षों तक देश के नीति निर्माताओं का पहला सरोकार देश का आर्थिक विकास था। सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) के मुद्दे गरीबी संबंधी सरोकारों में दब कर रह गए।

भारतीय संविधान ने स्त्री और पुरुष दोनों के लिए समान अधिकार और विशेषाधिकार दिए हैं। यही नहीं महिलाओं की निम्न स्थिति को देखते हुए उसमें उनके लिए विशेष प्रावधान किए गए हैं। ताकि समाज में उन्हें समता का दर्जा हासिल हो। महिलाओं के सामने आने वाली बाधाओं, वर्जनाओं को दूर करने के लिए कई कानून और विधान बनाए गए हैं? मगर इन सबके बावजूद भी हम क्या कह सकते हैं कि महिलाओं की स्थिति में कोई गुणात्मक सुधार आया है? बिल्कुल नहीं। मानव विकास सूचक तो यही बताते हैं कि पुरुषों से महिलाएं हर मामले में काफी पिछड़ी हुई हैं चाहे शिक्षा हो, रोजगार हो या स्वास्थ्य हो।

ऐसा समझा जाता था कि सरकार की ओर से ही सामाजिक कल्याणकारी कदम उठाए जाएं और महत्वपूर्ण नीति निर्णय भी वही करे। इन नीतियों का कार्यान्वयन प्राय: महिलाओं की राय लिए बिना

या उन्हें इस प्रक्रिया का हिस्सा बनाए बिना ही किया जाता रहा। एक ओर तो सरकारी प्रचार कहता है कि सरकार महिलाओं के अधिकारों के प्रति समर्पित है मगर वहीं निर्णय प्रक्रिया में उनकी सहभागिता को ज्यादा से ज्यादा अनदेखा किया जाता रहा है। मगर राज्य का अपना महत्व है क्योंकि यही कानून बनाने और उन्हें लागू करने वाली मुख्य संस्था है। आइए, अर्थव्यवस्था में महिलाओं की भागीदारी के मुद्दे पर संक्षेप में चर्चा करते हैं।

13.3.1 महिलाओं के लिए सरकारी कार्यक्रम

भारत में महिलाओं के विकास के लिए सरकारी कार्यक्रम 1954 से ही शुरू हो गए थे। मगर इनकी रचना परंपरागत ढांचे में की गई थी जो उनकी मातृत्व और परिवार की परिचर्या संबंधी भूमिकाओं पर केन्द्रित थी। सरकार का ध्यान समाज कल्याण से आर्थिक क्रिया-कलापों की मुख्यधारा में महिलाओं की पूर्ण भागीदारी को बढ़ावा देने की तरफ 1974 से पलटा जब भारत में महिलाओं की स्थिति पर गठित समिति की रिपोर्ट प्रकाश में आई। अस्सी के दशक में जाकर सरकार ने यह मानना शुरू किया कि महिलाएं भारत के दरिद्रों का एक अंश मात्र नहीं बल्कि उनकी धुरी हैं। इसलिए उनकी विशेष जरूरतों को ध्यान में रखकर उनके लिए विशेष कार्यक्रम बनाने की आवश्यकता महसूस की गई। इसके मद्देनजर छठी पंच वर्षीय योजना (1980-85) ने मुख्यधारा के गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों (जैसे समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम या आईआरडीपी) को महिलाओं की ओर तो लक्षित किया है, साथ ही उनके लिए विशेष कार्यक्रम बनाए (जैसे ग्रामीण क्षेत्र महिला एवं बाल विकास कार्यक्रम)।

फिर 1985 में महिला और बाल विकास के लिए केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अंतर्गत एक विभाग अलग से बनाया गया। इस विभाग ने कई आर्थिक और कल्याणकारी योजनाएं शुरू की। इस विभाग ने 1995 में बेइजिंग में हुए 11वें अंतरराष्ट्रीय महिला सम्मेलन में सक्रिय हिस्सेदारी की और उसमें देश की ओर से महिलाओं की स्थिति के विश्लेषण और उनके उत्थान पर एक काफी प्रगतिशील और महत्वाकांक्षी दस्तावेज रखा।

महिला विकास के क्षेत्र में सरकार ने पहल में देरी भले ही की हो, मगर उसके प्रयासों को गलत नहीं ठहराया जा सकता है। दुर्भाग्य से उसके प्रयासों के अपेक्षित परिणाम नहीं निकले हैं। अनेक सफलताओं के बावजूद उसके कार्यक्रमों की संकल्पना और जमीनी स्तर पर उनके कार्यान्वयन में बहुत बड़ा अंतर है। ये कई समस्याओं से ग्रस्त हैं, जैसे: नौकरशाही के टालमटोल और लाल-फीताशाही, दूर-दराज के क्षेत्रों तक नहीं पहुंच पाना, लाभार्थियों की गलत पहचान, आर्थिक क्रिया-कलाप को सफल बनाने वाली कड़ियों की अनुपस्थिति, महिलाओं की विशेष जरूरतों के अनुरूप सहायक प्रणाली विकसित नहीं कर पाना, निहित स्वार्थी तत्वों द्वारा सरकारी धन का दुरुपयोग इत्यादि।

13.3.2 निरापद युक्तियां

संभार तंत्र संबंधी इन समस्याओं को दूर करने के लिए सरकार के लिए जरूरी है कि वह कुछ कार्यनीतियां, कुछ विशेष निरापद युक्तियां विकसित करे।

सरकार का सबसे पहला कदम यह हो कि महिलाओं की कार्य-सहभागिता का वह सटीक मूल्यांकन कराए। महिलाओं की आर्थिक सहभागिता पर एक विश्वसनीय डाटाबेस तैयार करना और उसे बनाए रखना जरूरी है। यह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में महिलाओं के योगदान का सही मूल्यांकन करने और उनकी स्थिति को सुधारने में सहायक होगा। ऐसा डाटाबेस वंचित महिलाओं के लिए ठोस और सामाजिक-लिंग (जेंडर) संवेदनशील आर्थिक कार्यक्रम बनाने में विद्वानों और योजनाकारों के लिए सहायक होगा।

इसके अलावा यह भी आवश्यक है कि सरकार एक कुशल निगरानी प्रणाली (मॉनीटरिंग सिस्टम) विकसित करे जिससे मौजूदा कार्यक्रमों का पूरी तरह से कार्योन्वयन हो। इसके लिए केन्द्र और राज्य

दोनों स्तरों पर निगरानी इकाइयां स्थापित की जा सकती हैं। अधिक से अधिक पारदर्शिता लाने के लिए इन कार्यक्रमों का स्वतंत्र बाहरी मूल्यांकन भी कराया जाए। निगरानी प्रणाली को मजबूत बनाने से फीडबैक प्रक्रिया आसान होगी जो कि योजनाओं को नया रूप देने में उन्हें स्थानीय/विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित करने के लिए आवश्यक है। इससे सरकारी अधिकारियों और कार्यान्वयन एजेन्सियों में जिम्मेदारी का एहसास बढ़ेगा, जिससे सरकारी तंत्र में भ्रष्टाचार की गुंजाइश भी कम होती जाएगी।

कई महिलाएं, जो सरकारी आर्थिक कार्यक्रमों का लाभार्थी या स्वतंत्र उद्यमी बन कर आर्थिक रूप से स्वतंत्र बनने की क्षमता रखती हैं, उन्हें ऋण की सुविधा नहीं मिल पाती है। वे अक्सर एक ओर सूदखोरों के चुंगुल में फंसी रहती हैं जो उनसे मोटा ब्याज वसूलते हैं। दूसरी ओर उन्हें उदासीन बैंक और सरकारी अधिकारियों की दया पर निर्भर रहना पड़ता है। उन्हें आसानी से ऋण सुविधाएं मिलनी चाहिए। इसके लिए सूचना का प्रसार जरूरी है। इसके साथ-साथ बैंक और सरकारी अधिकारियों को भी संवेदनशील बनाए जाने की जरूरत है।

सरकार को समझना चाहिए कि महिलाओं की विशेष जरूरतों के अनुसार उनके लिए सहायक व्यवस्थाएं कराना जरूरी है जैसे शिशुसदन/डे-केयर सेंटर, उन्नत घरेलू प्रौद्योगिकी उन्हें सुलभ बनाना, कामकाजी महिलाओं के लिए हॉस्टल इत्यादि। इन बुनियादी सुविधाओं या सहायक व्यवस्थाओं के बिना उत्पादकता के ईष्टतम स्तरों को प्राप्त करना महिलाओं के लिए हमेशा कठिन होगा।

सरकार के अधिकारक्षेत्र में एक और कदम आता है जो उसे उठाना चाहिए। उसे ऐसे विधानात्मक उपाय करने होंगे जो रोजगार में महिलाओं खासकर असंगठित क्षेत्र में कार्यरत गरीब महिलाओं के बहुत बड़े हिस्से को सुरक्षा दें। मगर सिर्फ कानून बनाना ही पर्याप्त नहीं है जैसा कि उन कानूनों से साबित हो जाता है जो पहले से ही मौजूद तो हैं मगर जिन्हें लागू नहीं किया जाता। इन कानूनों के कार्यान्वयन के लिए उचित और पर्याप्त उपाय जरूरी हैं।

जरा सोचिए 2

1) महिला के लिए विकास योजनाओं के प्रति सरकारी नजरिए में क्या मूलभूत दोष है?

2) किसी महिला उद्यमी की राह में कौन-सी सामाजिक बाधाएं आड़े आती हैं?

3) क्या आपके विचार में महिलाओं की सामान्य सबलता प्रक्रिया में राज्य की कोई भूमिका है?

13.4 व्यावसायिक प्रशिक्षण कार्यक्रम

भारत में महिलाओं की स्थिति पर गठित समिति की 1974 की रिपोर्ट और उसके बाद राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य योजना के मद्देनजर भारत सरकार ने व्यावसायिक प्रशिक्षण कार्यक्रम शुरू किए जिनका लक्ष्य गरीब उपेक्षित महिलाओं को उन दक्षताओं से सज्जित करना था जो उनकी आर्थिक स्वतंत्रता हासिल करने के लिए आवश्यक हैं।

अन्य सरकारी कार्यक्रमों की तरह ये कार्यक्रम भी दोषपूर्ण कार्यान्वयन की समस्या से ग्रस्त रहे। फलतः ये कार्यक्रम वांछित लक्ष्यों की पूर्ति में असफल रहे। यह सरकार द्वारा चलाए गए व्यावसायिक प्रशिक्षण कार्यक्रमों के परिणामों को देख कर स्पष्ट हो जाता है। ये कार्यक्रम असल में प्रशिक्षण और रोजगार उपलब्ध कराने के विचार से तैयार किए गए थे, जिनका लक्ष्य समाज के गरीब तबकों की महिलाओं को गैर-परंपरागत दक्षता सुलभ कराना और आर्थिक स्वालंबन प्राप्त करने में उनकी सहायता करना था। एक हद तक ये कार्यक्रम विशेष रूप से लाभार्थियों और दक्षताओं की व्यापकता के मामले में सफल रहे हैं। मगर केन्द्रीय सरकार के स्तर पर कार्यक्रम प्रबंध और कार्यान्वयन संस्था के स्तर पर परियोजना के कार्यान्वयन में कुछ कमियों ने इन कार्यक्रमों को अपनी संभावनाओं के अनुरूप

फलीभूत होने नहीं दिया। परंतु ये समस्याएं असाध्य नहीं हैं। इसके लिए थोड़ा बहुत योजना और निगरानी की जरूरत है।

13.4.1 सूचना का प्रसार

सरकारी कार्यक्रमों की एक बड़ी बुनियादी समस्या यह है कि उनका कार्यान्वयन करने के लिए जिम्मेदार संगठनों को कार्यक्रम मार्गदर्शी रूपरेखा पर पर्याप्त सूचना नहीं दी जाती है। फलस्वरूप कार्यान्वयन संगठन अक्सर इन कार्यक्रमों की आवश्यकताओं से अनभिज्ञ रहते हैं। उदाहरण के लिए उनमें से अधिकांश यह नहीं जानते हैं कि इन मार्गदर्शी रूपरेखाओं में प्रशिक्षणार्थियों को प्रशिक्षण के बाद छः महीने तक कम से कम 600 रुपये प्रतिमाह का वजीफा (स्टाइपेंड) देने का निर्देश भी है।

कार्यक्रम के लिए निर्धारित धनराशि की दूसरी किश्त के आबंटन में टालमटोल और देरी कार्यान्वयन संगठनों के लिए बड़ी कठिनाइयां खड़ी कर देती है। ऐसे कई उदाहरण हैं कि परियोजना के पूरे हो जाने के दो वर्षों के बाद भी दूसरी किश्त उन तक नहीं पहुंची। कई कार्यान्वयन संगठन तो सिर्फ छोटे स्वयंसेवी संगठन होते हैं जिनके पास इतने संसाधन और पूंजी नहीं होती कि वे ऐसी देरी को झेल सकें। इसके फलस्वरूप परियोजना आधी-अधूरी रह जाती है।

कार्यान्वयन संगठनों को मार्गदर्शी रूपरेखा उपलब्ध कराने के अलावा इन्हें प्रशिक्षण कार्यशालाओं में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जाए, जिनमें योजना के संबंध में उनकी सारी शंकाओं का समाधान किया जाए।

13.4.2 परियोजना की संस्तुति

परियोजना संस्तुति एक और महत्वपूर्ण कमी है, जो अक्सर पूरी परियोजना को ही खटाई में डाल देती है। असल में अमूमन यह देखने में आता है कि परियोजना को संस्तुति देते-देते सरकार उसमें बजटीय और अवधि संबंधी काट-छांट करती है। जब तक ये काट-छांट परियोजना के मूलसार को प्रभावित नहीं करती, तब तक इनसे कोई चिंता नहीं होती। मगर यथार्थ में इसका उलटा ही होता है। अक्सर परियोजनाओं में मनमाने ढंग से काट-छांट की जाती है जिससे वे निरर्थक हो जाती हैं। उदाहरण के लिए आप सिलाई का प्रशिक्षण कैसे दे सकते हैं आपको जब तक सिलाई मशीनों की संस्तुति नहीं मिलती। प्रत्येक परियोजना के गुण दोषों को उसके लक्षित समूह की विशेष जरूरतों को ध्यान में रखते हुए जांचा-परखा जाना चाहिए। मगर ऐसा होता नहीं है। इसका एक और उदाहरण हमारे पास है। टोकरी बुनकर प्रशिक्षण की एक परियोजना में प्रशिक्षण की अवधि को 12 महीने से घटाकर तीन महीने कर दिया गया। अब इस परियोजना के तहत जिन महिलाओं को टोकरी बुनने की कला सिखाई गई वे अनपढ़ थीं, इसलिए वे जटिल डिजाइनों के लिए आवश्यक विभिन्न गणनाओं को याद नहीं रख पाई। इसका परिणाम यह रहा कि तीन महीने के प्रशिक्षण के बाद इन महिलाओं ने जो उत्पाद बनाए वे बेचे ही नहीं जा सके। जिस पांच सितारा होटल ने इन उत्पादों को खरीदने का वादा किया था उसने इन्हें अस्वीकार कर दिया। निराश होकर महिलाओं को अपने घरेलू काम-काज और खेतीबाड़ी के काम में लौट जाना पड़ा।

परियोजना को संस्तुति मिलते ही धनराशि के आबंटन में देरी से यथासंभव बचा जाना चाहिए। अब बात आती है कार्यक्रम निगरानी व्यवस्था की। इसमें भी कई ऐसी समस्याओं का समाधान नहीं हो पाया है, जिससे बचा जा सकता था। एक चौकस निगरानी व्यवस्था की बात तो दूर की रही, फाइलिंग की व्यवस्था तक दुरुस्त और चौकस नहीं है। रिकार्ड अक्सर पुराने पड़ जाते हैं, उनमें नए पते, फोन के नंबर और सम्पर्क व्यक्तियों के नाम शामिल नहीं किए जाते। ऐसी सूचनाएं संचित रखने के लिए कम्प्यूटरों का उपयोग निश्चय ही बड़ा कारगर उपाय होगा। यह नवीनतम रिकार्डों को बनाए रखने के साथ-साथ निगरानी से संबंधित सूचना को संचित रखने और उसे श्रेणीबद्ध करने जैसे दोहरे प्रयोजन को पूरा करेगा जिससे फीडबैक सिस्टम का रास्ता खुले।

13.4.3 निगरानी

एक सक्षम और चौकस निगरानी व्यवस्था धन के संभावित दुरुपयोग को रोकने में सफल होगी। यह जरूरत पड़ने पर अतिरिक्त जानकारी भी उपलब्ध करवाएगी।

केन्द्रीय सरकार के स्तर पर कार्यक्रम प्रबंध में मौजूद इन समस्याओं के अलावा कार्यान्वयन संगठनों के स्तर पर भी कुछ विशेष कमियां हैं, जिन्हें दूर करना जरूरी है। कार्यान्वयन संगठनों की सबसे आम समस्या यह है कि वे बाजार की जरूरतों का आकलन और परियोजना को सफलतापूर्वक चलाने के लिए आवश्यक कड़ियां स्थापित नहीं कर पाते हैं। छोटे स्वयंसेवी संगठनों को इस समस्या का सामना सबसे अधिक करना पड़ता है, जिनके पास बाहरी संपर्क और अनुभव की कमी होती है।

सार्वजनिक उद्यम या पीएसएयू जैसे सरकारी उद्यमों के प्रशिक्षुओं को प्राय: उन्हीं में नौकरी मिल जाती है। मगर पीएसएयू के दृष्टिकोण में लिंग-संवेदनशीलता का अभाव रहता है, जो कि महिलाओं जैसे असुरक्षित लक्षित समूह के लिए अनिवार्य है। कई स्वयंसेवी संगठन अपने प्रशिक्षुओं को प्रशिक्षण के बाद अच्छा वेतन तो नहीं दे पाते, मगर वे काम चलाऊ साक्षरता, परामर्श, स्वास्थ्य सेवा और शिशु सदन, आश्रय गृह, प्लेसमेंट जैसी कई सहायक सेवाएं प्रदान करते हैं। सरकार को चाहिए कि वह इस दिशा में गंभीरता से कार्य कर रहे स्वयंसेवी संगठनों का पता लगाएं और उन्हें आधारभूत ढांचागत सहायता दे।

13.4.4 बाज़ार

किस तरह की दक्षता में लाभार्थियों को प्रशिक्षण देना है, इसका चुनाव करने से पहले यह नितांत जरूरी है कि उस दक्षता का सर्वेक्षण कर लिया जाए ताकि बाजार में उसकी मांग का आकलन किया जा सके। उदाहरण के लिए गरम कपड़ों की स्थानीय मांग जाड़ों में कड़ाके की सर्दी वाले मौसम में उत्तरी भारत में दक्षिण भारत से कहीं ज्यादा रहती है, जहां की जलवायु गर्म है।

बाजार संपर्क या कड़ियां बनाना भी आवश्यक है ताकि प्रशिक्षण के बाद महिलाएं अपने आर्थिक क्रियाकलापों को सफलतापूर्वक जारी रख सकें। ऐसे उदाहरण भी हैं कि समान दक्षताओं पर काम कर रहे दो अलग-अगल कार्यान्वयन संगठनों की सफलता का स्तर एक दूसरे से भिन्न मिलता है, जिसका कारण बाजार संपर्क या कड़ियों की कमी है।

बाजार की मांग से घनिष्ठ रूप से जुड़ी एक और अवधारणा है डिजायन के पुट की। विशेषकर तब जब प्रशिक्षण उत्पाद केन्द्रित हो। उदाहरण के लिए महिलाओं को प्रशिक्षण अगर ऐसे परिधान सिलने के लिए दिया रहा हो, जिनका निर्यात किया जाना है तो यह जरूरी है कि उसमें डिजाइनिंग और क्वालिटी कंट्रोल का पुट भी शामिल किया जाए। ऐसी परियोजना को संस्तुति देते समय सरकार को इन बातों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

13.4.5 बाज़ार संपर्क या कड़ियाँ

छोटे स्वयं सेवी संगठनों को अक्सर ढांचागत सहायता, सुविधाओं की जरूरत अधिक पड़ती है–खासकर धनराशि के आबंटन में देरी या बाजार संबंधी सूचनाओं की सुलभता, डिजाइनिंग, दूसरे तरह के धन इत्यादि के सिलसिले में। सार्वजनिक उद्यम (पीएसयू) या सरकारी संस्थाएं जहां भी आवश्यक हो इन बाधाओं को बेहतर ढंग से पार कर लेते हैं। ये संस्थाएं अपने कार्यालयों के लिए आवश्यक उत्पाद इन प्रशिक्षुओं से खरीदकर "सामाजिक विपणन" (सोशल मार्केटिंग) की शुरुआत कर सकती हैं।

सरकार को चाहिए कि वह प्रदर्शनी की सुविधाओं, ऋण इत्यादि जैसी अन्य योजनाओं को भी इनसे जोड़े। प्रशिक्षण-समाप्ति के बाद महिलाओं को जिस बड़ी समस्या का सामना करना पड़ता है वह है ऋण–भले ही वे व्यक्ति उद्यमी रूप में हों या निर्माता समूहों के रूप में। इसके चलते वे दरिद्रता और दलाल के दुश्चक्र से बाहर नहीं निकल पातीं हैं। सो सरकार को चाहिए कि वह ऐसे कार्यक्रमों को राष्ट्रीय महिला कोष जैसी योजनाओं से जोड़े।

इस तरह यह निष्कर्ष निकलता है कि समुचित योजना, दूरदृष्टि, निगरानी और सहायता से व्यावसायिक प्रशिक्षण कार्यक्रम महिलाओं को सिर्फ बुनियादी दक्षता से सज्जित ही नहीं करते। बल्कि ये उन्हें इतना सक्षम भी बनाते हैं कि वे स्वतंत्रापूर्वक संसाधनों का लाभ उठा सकती हैं और यह स्थिति बनाए रख सकती हैं।

क्या आप जानते हैं?

सत तलाई घोषणा

हम महिलाएं एक आवाज में विस्थापन का विरोध करती हैं।

आज 27 मार्च, 1995 के दिन नर्मदा नदी के तट पर सत तलाई गांव, मध्य प्रदेश, की आदिवासी दस्तकार, झोपड़ी निवासी महिलाएं एकत्र हुई हैं। पिछले तीन दिनों में हमने एक दूसरे के साथ अपने अनुभव बांटे हैं और हमें महसूस होता है कि:

सारे देश में चल रही बड़े बांधों, खानों, विद्युत संयंत्रों, परमाणु ऊर्जा संयंत्रों जैसी तथाकथित विकास परियोजनाएं हमें अपने पानी, जंगल, जमीन और अन्य प्राकृतिक संसाधनों से वंचित कर रहे हैं और इनकी आड़ में हमें उजाड़ा जा रहा है।

वन उत्पादों पर हमारे अधिकारों को छीना जा रहा है। ईंधन, पानी और चारा जैसी बुनियादी जरूरतों पर हमारे हक को छीना जा रहा है। इस तरह के अमानवीय विकास का बोझ हम औरतों को ही उठाना पड़ता है। एक ओर चारा, पत्ती, वन उत्पादों, लकड़ी, जड़ी-बूटी, बीजों, पौधों और अन्य बुनियादी संसाधनों के प्रयोग और उनके संरक्षण संबंधी हमारे पारंपरिक अधिकारों/ज्ञान और प्रथाओं को जान बूझकर नष्ट किया जा रहा है। इससे हमारा बोझ और बढ़ जाता है। दूसरी ओर हमारे परिवार, समाज और राष्ट्र के विकास में हमारी भूमिका और अधिकारों को छीना जा रहा है। वैसे भी एक पितृसत्तात्मक समाज में हम औरतों की हैसियत दूसरे दर्जे की रही है। मगर अब यह तथा-कथित आधुनिक विकास और नई आर्थिक नीति हम पर अपना शिकंजा कस रहे हैं।

विकास हो रहा है सिर्फ खास इलाकों और खास वर्ग का। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सारे देश के प्राकृतिक संसाधनों और श्रम को होम किया जा रहा है। यह हम महिलाओं को सबसे ज्यादा प्रभावित करता है। निर्णय करने की हमारी क्षमता सिमट रही है और हमारी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाया जा रहा है।

यह क्षेत्रीय असंतुलित विकास पलायन को जन्म दे रहा है। आदिवासी, दलित, मजदूर और खेतिहर महिलाओं को पलायन की समस्या से जूझना पड़ रहा है। इसके अलावा महिला होने के नाते एक पितृसत्तात्मक समाज और उसके रीति-रिवाजों के चलते उन्हें दैहिक शोषण भी सहना पड़ता है और उन्हें कम मजदूरी दी जाती है। गांव, समुदाय, घर और परिवार के टूटने से असुरक्षा की भावना पैदा हो रही है।

कृषि और दस्तकारी में पूंजीप्रधान तकनीकों के व्यापक प्रचलन से पैदा होने वाली बेरोजगारी की पहली मार महिलाओं पर पड़ती है। अपने गांव, जमीन और घर से हटाए जाने के साथ-साथ हमें रोजगार से भी हटाया जा रहा है। हमें ऐसा रोजगार दिया जा रहा है जो अधिक समय मांगता है, जो श्रम प्रधान, कठोर है और जो इस सबके बावजूद कम मजदूरी देता है। ऐसे काम असंगठित हैं और इसलिए नियम-कानूनों से परे हैं, जिनमें दक्षता और क्षमताओं का कोई उपयोग नहीं है और जिनमें हमारे व्यक्तित्व के विकास की कोई संभावना नहीं है।

महिलाओं को प्राकृतिक संसाधनों और समाज का संरक्षक माना गया है मगर ये अधिकार विकास नीतियों और पलायन के कारण हमारे हाथों से निकलते जा रहे हैं। पूरे समाज के सामने एक ओर प्राकृतिक संसाधनों के उत्तरोत्तर विनाश और दूसरी ओर सामाजिक विघटन का वास्तविक खतरा मुंह बाए खड़ा है। ऐसी प्रौद्योगिकी का प्रयोग बढ़ता जा रहा है जो जमीन को नष्ट करती

है, हवा में जहर घोल रही है, हमारी सेहत को मिटा रही है, गर्भस्थ शिशुओं को प्रभावित कर रही है और मानव जाति और जन्तुओं को शारीरिक और मानसिक रूप से पंगु बना रही है।

गांवों से भगाए जाने पर हम शहर में आते हैं। हम फुटपाथों और झुग्गियों को अपना घर बनाते हैं। हमें घर, पानी, शौचालय और बिजली जैसी बुनियादी सुविधाएं भी नसीब नहीं हैं। शहर के औद्योगिकीकरण और सौंदर्यकरण के नाम पर हमें फिर से उजाड़ दिया जाता है। एक बार विस्थापित होने पर हमें बार-बार विस्थापित होना पड़ता है।

महिला विकास के नाम पर कई सरकारी योजनाएं बन रही हैं और सरकारी तंत्र और बजट भी खूब फूल रहे हैं। मगर दूसरी ओर महिलाओं की स्थिति तेज़ी से गिरती जा रही है। संसद में दिए गए अपने एक बयान में जल संसाधन मंत्री ने दावा किया है कि विकास परियोजनाओं के कारण स्वतंत्रता के बाद से दो करोड़ लोग विस्थापित हुए हैं। इनमें से सिर्फ 50 लाख लोगों को हर्जाना दिया गया है या पुन: बसाया गया है। अस्सी लाख महिलाएं लापता हैं और देश में महिला विकास का दम भरा जा रहा है।

विकास की दिशा और विधि से सर्वाधिक प्रभावित इन महिलाओं की ओर से की गई यह घोषणा यही बताती है कि विकास और आर्थिक क्रिया-कलापों में महिलाओं के दर्जे के मुद्दे पर बिल्कुल नए सिरे से सोचने की आवश्यकता है क्योंकि ये ही महिलाओं की समग्र स्थिति पर बुनियादी प्रभाव डालते हैं।

अभी तक हमने जो चर्चा की है उससे हम कह सकते हैं कि आर्थिक क्रिया-कलापों में महिलाओं को स्थान देने के सरकारी प्रयास आधे-अधूरे, एक-तरफा और अनिवार्यत: कल्याणोन्मुखी रहे हैं। उसकी योजनाएं तमाम तरह की व्याधियों से ग्रस्त हैं जिनका हमने पीछे संक्षेप में उल्लेख किया है। अगर वास्तव में आजीविका, आमदनी के संसाधनों पर महिलाओं के नियंत्रण के मुद्दे का समाधान करना ही है तो इसके लिए एक वृहत्तर परिप्रेक्ष्य और नीति विकसित की जानी चाहिए। आगे हम यह देखेंगे कि गैर-सरकारी संगठन इस दिशा में क्या कर रहे हैं।

13.5 स्वयंसेवी संगठनों की पहल

निश्चय ही कुछ स्वयंसेवी संगठनों ने तमाम बाधाओं के बावजूद महिलाओं को आर्थिक संसाधन सुलभ बनाने में बड़ी कारगर भूमिका निभाई है। इन संगठनों की भागीदारी कई स्तरों पर रही है–वे जमीनी-स्तर पर कार्यान्वयन एजेन्सी का काम कर रहे हैं, कार्यकर्ताओं और स्थानीय महिला संगठनों (जैसे महिला मंडल) को प्रशिक्षण दे रहे हैं। इसके अलावा वे महिलाओं को निजी तौर पर और महिला संगठनों को सहायता दे रहे हैं, ऋण लेने में महिलाओं की मदद कर रहे हैं, राज्य और केन्द्र सरकारों के साथ मिलकर कार्य कर रहे हैं, अनुसंधान कर रहे हैं और सरकारी नीतियों की समीक्षा कर रहे हैं। संक्षेप में, वे परिवर्तन के उत्प्रेरक दूत के रूप में काम कर रहे हैं हालांकि वे छोटे-छोटे टुकड़ों में सक्रिय हैं और उनका दृष्टिकोण व्यापक नहीं है और उनके उद्देश्य भी सीमित हैं।

बड़े गैर सरकारी संगठनों के कार्यों और उपलब्धियों पर बहुत कुछ लिपिबद्ध किया गया है जैसे सेवा, इत्यादि। मगर छोटे-छोटे स्वयंसेवी संगठन भी हैं जो अपने स्थानीय इलाकों में सक्रिय हैं। इन संगठनों का योगदान अपेक्षतया छोटा होते हुए भी महत्वपूर्ण है। इसे स्पष्ट करने के लिए यहां दो उदाहरण पर्याप्त होंगे।

पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जिले के एक छोटे से गांव में एक स्वयंसेवी संगठन सक्रिय है जिसने सामान्य विकास और विशेषकर महिला विकास के क्षेत्र में प्रशंसनीय प्रयास किए हैं। इस जिले में तलाक और संबंध विच्छेद की घटनाएं काफी ज्यादा होती हैं। ऐसी महिलाओं को व्यावसायिक प्रशिक्षण देने के अलावा यह संगठन उनके लिए एक आश्रय गृह, उनके बच्चों के लिए स्कूल और परामर्श केन्द्र चला रहा है।

इसी तरह पुराने हैदराबाद में एक और स्वयंसेवी संगठन कार्य कर रहा है। गरीब घरों की किशोर लड़कियों के लिए तो यह मरुस्थल में हरियाली के समान है। ये लड़कियां "अरब (शेखों से) विवाह" की शिकार रही है। यह संगठन इन लड़कियों को व्यावसायिक प्रशिक्षण देता है, ऋण लेने में उनकी सहायता करता है, उनके उत्पाद को बाजार में बेचने का प्रबंध करता है और इन्हें अपने अरब "पतियों" के खिलाफ अदालत में मुकदमा लड़ने तक में मदद करता है।

धन की कमी और ढांचागत बाधाओं के बावजूद इन जैसे अनेक स्वयंसेवी संगठन गरीब और वंचित महिलाओं को समर्पित भाव से सहायता दे रहे हैं।

13.6 सारांश

उपरोक्त चर्चा से यही निष्कर्ष निकलता है कि आर्थिक संसाधनों तक महिलाओं की पहुंच या उन पर उनका अधिकार मुख्यत: सामाजिक-सांस्कृतिक नियमों पर निर्भर करता है। इस सामाजिक व्यवस्था का विरोध करने और अंतत: उसे बदलने के लिए सरकार, गैर सरकारी संगठनों, विद्वानों, नीति निर्माताओं, विचारशील व्यक्तियों और मीडिया को महिला आंदोलन द्वारा रखे गए व्यापक परिप्रेक्ष्य को लेकर मिल-जुलकर प्रयास करने की जरूरत है। यह भगीरथ-प्रयत्न ही महिलाओं को आर्थिक रूप से स्वालंबी बनाएगा।

महिलाओं को अपनी क्षमता और योग्यता के बूते अपने पैरों पर खड़ा करने के लिए एक सहायक व्यवस्था (सपोर्ट सिस्टम) जरूरी है। स्वयं निर्णय करने के योग्य बनने के लिए यह आवश्यक है कि महिलाएं अपना निर्वाह खुद कर सकें और इसके लिए जरूरी है कि आर्थिक संसाधनों पर उसका भी नियंत्रण हो, जो उन्हें स्वालंबन की शक्ति देगा।

महिला और अर्थव्यवस्था पर अपने चयनात्मक पाठ्यक्रम में हम आर्थिक संसाधनों के महत्व के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

13.7 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

लाभार्थी	:	ऐसा कोई व्यक्ति जो धन, ऋण या अनुदान या ऐसा कोई लाभ प्राप्त करता है।
प्रसार	:	व्यापक रूप से फैलना जैसे सूचना।
निगरानी	:	किसी व्यक्ति या कार्यक्रम पर नजर रखना जिससे वांछित परिणाम मिले।
(टॉप-डाउन)	:	भागीदारी न तो विचार-विमर्श के स्तर पर और न ही निर्णय के स्तर पर होती है। और न ही उनकी परिस्थितियां दृष्टिकोण उसमें प्रतिबिंबित हो पाती हैं।
असंगठित	:	जो व्यवस्थित या संगठित व्यवस्था पर नहीं चलता। उद्योग में इसका आशय अनौपचारिक व्यवस्था से है जिसमें श्रमिक संगठित नहीं होते।

13.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अग्रवाल, बीना (1994) *ए फील्ड ऑफ वन्स ओन: जेंडर एंड लैंड राइट्स इन साउथ एशिया.* नई दिल्ली : कैम्ब्रिज यूनि. प्रेस.

इकाई 14 शिक्षा और स्वास्थ्य

रूपरेखा

14.0 लक्ष्य और उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 शिक्षा और नीतिगत दस्तावेज

14.2.1 शिक्षा का सार्वजनीन अधिकार

14.2.2 राष्ट्रीय शिक्षा नीति

14.3 बुनियादी शिक्षा के आर्थिक पहलू

14.3.1 महिला शिक्षा

14.4 बालिका और शिक्षा

14.4.1 अंतरराज्यीय विषमताएं

14.5 सामाजिक ढांचा और महिला स्वास्थ्य

14.5.1 स्वास्थ्य स्थिति

14.5.2 शिक्षा और स्वास्थ्य में संबंध

14.5.3 शिक्षा और प्रजनन-दर व्यवहार

14.5.4 शिक्षा और बाल उत्तरजीविता

14.6 सारांश

14.7 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

14.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.0 लक्ष्य और उद्देश्य

इस इकाई में हम स्वास्थ्य और शिक्षा जैसे दो अति महत्वपूर्ण संसाधनों के बारे में चर्चा करेंगे महिलाओं को जिनसे वंचित रखा गया है। हमारे जैसे आधुनिक विश्व में शिक्षा और स्वास्थ्य जीवित रहने तक के लिए दो बेहद महत्वपूर्ण आवश्यकताएं हैं। रोजाना की भाषा में कहें तो हम सभी अच्छी तरह से जानते हैं कि जिस स्त्री के पास कोई शिक्षा नहीं है उसे बाहरी दुनिया की कोई जानकारी नहीं होती, इसकी संभावना भी कम ही रहती है कि उसे लाभप्रद रोजगार मिले। अक्सर ऐसी महिलाएं श्रमिकों की पंक्ति में घरेलू नौकरानियों के तौर पर शामिल होती हैं, जिसे किसी भी तरह आर्थिक रूप से लाभकारी रोजगार नहीं माना जा सकता है। आम धारणा यही है कि महिलाएं आर्थिक रूप से कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं करतीं इसलिए उन्हें बुनियादी पोषण या स्वास्थ्य सेवा या शिक्षा प्रदान करने की कोई जरूरत महसूस नहीं की जाती है। महिलाएं पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस दुश्चक्र में फंसी रह जाती हैं। शिक्षा और स्वास्थ्य ही ऐसा उत्प्रेरक प्रभाव पैदा कर सकते हैं जो मिलकर इस दुश्चक्र को तोड़ सकते हैं। इस इकाई में हम महिला स्वास्थ्य और शिक्षा से जुड़े कुछ मुद्दों पर रोशनी डालेंगे।

इस इकाई का मुख्य लक्ष्य :

- स्वास्थ्य और शिक्षा के संदर्भ में महिलाओं की स्थिति का विश्लेषण करना है;
- कुछ नीतिगत दस्तावेजों की समीक्षा करना है;

- स्वास्थ्य और शिक्षा के बीच की कड़ी का विश्लेषण करना है;
- इन दोनों संसाधनों को सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश में रखना है।

हमें आशा है कि इस इकाई को पढ़ने के बाद आप शिक्षा और स्वास्थ्य को एक अन्य सांख्यिक परिवर्ती की नजर से नहीं देखेंगे। बल्कि तब आप इन्हें महिला स्वालंबन के लिए दो महत्वपूर्ण संसाधनों के रूप में लेंगे। यही नहीं तब आप इन महत्वपूर्ण संसाधनों को उनके रोजमर्रा के सांस्कृतिक-सामाजिक परिवेश में भी देखेंगे।

14.1 प्रस्तावना

यह खंड-3 की आखिरी इकाई है, जिसमें महिला स्वालंबन की समस्याओं के साथ-साथ उसके लिए अपनायी जाने वाली रणनीतियों पर चर्चा की गई है। अपनी पिछली इकाइयों में हमने राज्य की पहलों से और महिलाओं को सुलभ विधानात्मक निवारण-उपायों से जुड़ी समस्याओं का कानूनों और आर्थिक संसाधनों पर उनके नियंत्रण, अधिकार के प्रसंग में विवेचन किया है। इस इकाई में अब हम दो बेहद महत्वपूर्ण मानव संसाधनों के बारे में चर्चा करेंगे–ये हैं शिक्षा और स्वास्थ्य।

जन्म लेने से लेकर वृद्धावस्था तक स्त्री को समाज शिक्षा और स्वास्थ्य दोनों से वंचित रखता आ रहा है। हम सभी यह अच्छी तरह से जानते हैं कि लड़की का पालन-पोषण और उसके साथ व्यवहार कैसा होता है। उसें यदा-कदा ही स्कूल भेजा जाता है और यदा-कदा ही उसे न्यूनतम पोषण या स्वास्थ्यलाभ दिया जाता है। यहां यह दोहराने की जरूरत नहीं है कि यह इसलिए होता है क्योंकि समाज की नजर में महिलाओं को कोई सम्मान प्राप्त नहीं हैं प्रजननदर, मृत्युदर और प्राथमिक शिक्षा इत्यादि मानव विकास सूचकों पर सुलभ आंकड़ों के पीछे काम करने वाला कारक संस्कृति है। भारत में महिलाओं की उपेक्षित स्थिति का कारण सामाजिक रचनाओं का एक जटिल जाल है। आंकड़ों पर सरसरी दृष्टि डालने से महिलाओं की उपेक्षित स्थिति का कारण स्पष्ट हो जाता है। इससे क्षेत्रीय भिन्नताएं भी देखने में आती हैं। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश और राजस्थान की तुलना में केरल और तमिलनाडु में जन्म दर कम और महिला-साक्षरता अधिक है। महिला आबादी के स्वास्थ्य के लिए शिक्षा के बड़े महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं। यह देखने में आया है कि शिक्षा का महिला आबादी के स्वास्थ्य पर बड़ा ही सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। मगर प्रश्न यह उठता है कि कोई खास सम्प्रदाय अपनी बच्चियों को किस कारण स्कूल भेजता है या उन्हें भी बेहतर सुविधाएं देता है।

इस इकाई में हम उन विभिन्न कारकों का विश्लेषण करेंगे जो महिलाओं को स्वस्थ्य और शिक्षित बनाने की राह में बाधाएं उत्पन्न करते हैं।

14.2 शिक्षा और नीतिगत दस्तावेज

शिक्षा और स्वास्थ्य भारतीय संविधान के राज्य नीति निर्देशक सिद्धांतों का एक अभिन्न अंग हैं। शिक्षित और स्वस्थ आबादी को राष्ट्र का सबसे बड़ा मानव संसाधन माना गया है। विभिन्न पंच-वर्षीय योजना दस्तावेजों और आजादी के बाद से समय-समय पर स्वास्थ्य और शिक्षा पर बनाई गई विभिन्न राष्ट्रीय नीतियों से इन दोनों महत्वपूर्ण मुद्दों पर सरकार की चिंता और इनको दिया जाने वाला महत्व स्पष्ट हो जाता है। राष्ट्रसंघ विकास कार्यक्रम (यूएनडीपी) द्वारा विभिन्न राष्ट्रों की मानव विकास सूची के मूल्यांकन के लिए उपयोग में लाए जाने वाले सामाजिक सूचकों में मुख्य रूप से साक्षरता सूचक, विशेषकर महिला साक्षरता और स्वास्थ्य सूचक विशेषकर शिशु मृत्युदर, आयु-संभाविता और मातृ मृत्युदर को विशेष महत्व दिया जाता है। यूएनडीपी इन्हें वार्षिक मानव विकास रिपोर्ट के रूप में प्रकाशित करता है।

14.2.1 शिक्षा का सार्वजनीन अधिकार

सार्वजनीन मानवाधिकार घोषणापत्र (1948) पहला अंतरराष्ट्रीय संधि है जिसने शिक्षा के अधिकार को मान्यता दी है। यह घोषणापत्र कहता है कि शिक्षा कम से कम आरंभिक और बुनियादी स्तर तक मुत होगी। भारतीय संविधान के राज्य नीति निर्देशक सिद्धांतों में एक कहता है कि "राज्य इस संविधान के लागू होने से दस वर्ष के भीतर सभी बच्चों के लिए 14 वर्ष की आयु तक मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करेगा।" भारतीय संविधान अनुच्छेद (45) में यह सिद्धांत सार्वजनीन मानवाधिकार घोषणापत्र के अनुच्छेद 28 की भावना के अनुरूप ही है। पंच-वर्षीय दस्तावेजों ने सामान्य जन कल्याण की दिशा में कार्य करने के लिए शिक्षा की सार्वजनीन सुलभता और शिक्षा के समान अवसर के लक्ष्य को एक बुनियादी माध्यम माना है।

14.2.2 राष्ट्रीय शिक्षा नीति

नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) "प्राथमिक शिक्षा को सार्वजनीन बनाने... सार्वजनीन नामांकन ... और 14 वर्ष की आयु तक बच्चों को स्कूलों में रोके रखने को बिना शर्त" प्राथमिकता देने की आवश्यकता पर जोर देती है (केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय, 1989)। राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने आठवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान राष्ट्रीय आय या सकल घरेलू उत्पाद का 6 प्रतिशत शिक्षा में निवेश करने का आह्वान किया था। महिला शिक्षा और सशक्तीकरण के क्षेत्र में यह राष्ट्रीय शिक्षा नीति एक मील का पत्थर थी। "महिलाओं की समानता के लिए शिक्षा" शीर्षक के तहत यह नीति महिला सशक्तीकरण को महिलाओं की शैक्षिक प्रक्रिया और विकास क्रिया-कलापों में सहभागिता के लिए सबसे महत्वपूर्ण शर्त मानती है। इस नीतिगत बयान के आधार पर ही देश के विभिन्न राज्यों में महिला सशक्तीकरण कार्यक्रमों का सिलसिला शुरू हुआ जिन्हें हम महिला समाख्या के नाम से जानते हैं। ये कार्यक्रम देहाती महिलाओं के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान पाते जा रहे हैं। अब महिलाओं के स्वास्थ्य पर इसके प्रभाव को देखने की आवश्यकता है।

राष्ट्र संघ बाल अधिकार कनवेन्शन पर भारत ने अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी है। यह कनवेन्शन स्पष्ट घोषणा करता है कि इसके हस्ताक्षरकर्ता देश "बच्चे के शिक्षा के अधिकार को स्वीकार करते हैं और इस अधिकार को समान अवसर के आधार पर बेरोकटोक हासिल करने के लिए वे विशेष रूप से प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य बनाएंगे।" (अनु. 28) एकमानवाधिकार होने के अलावा बुनियादी शिक्षा के पीछे आर्थिक विवेक भी है। शिक्षा में निवेश को देश के आर्थिक विकास के लिए एक अति-महत्वपूर्ण साधन माना जाता है।

14.3 बुनियादी शिक्षा के आर्थिक पहलू

शिक्षा सामाजिक नीतियों और आर्थिक दृष्टिकोणों की संगम स्थली है। 1961 में शुल्ज के मानव पूंजी सिद्धांत के प्रतिपादन से पहले भौतिक पूंजी जैसे मशीनरी, उपकरण या भवन निर्माण पर ध्यान दिया जाता था। अब यह देखने में आता है कि दक्षता अर्जित करने, दृष्टिकोण आदि विकसित करने में शिक्षा ही सहायक होती है, जो व्यक्तिगत उत्पादकता को बढ़ाने में योगदान करते हैं। इसके अनुभवसिद्ध प्रमाण हैं कि शिक्षा और मुख्यत: बुनियादी शिक्षा गरीबों की उत्पादकता को बढ़ा कर गरीबी को कम करती है। प्रजनन दर को कम कर, स्वास्थ्य में सुधार लाकर और लोगों को अर्थव्यवस्था और समाज में भागीदारी करने के लिए आवश्यक दक्षताओं से लैस कर शिक्षा सामाजिक क्षेत्र में किए जाने वाले निवेश के परिणामों को प्रभावशाली बना कर उसकी सक्षमता में इजाफा करती है (विश्व बैंक, 1955)। निवेश के दृष्टिकोण से प्राथमिक शिक्षा में ही निवेश को विशेषकर उन देशों में प्राथमिकता दी जाती है, जो अभी तक बुनियादी शिक्षा को सार्वजनीन नहीं बना पाए हैं।

14.3.1 महिला शिक्षा

भारत में महिलाओं की औपचारिक शिक्षा की शुरुआत लगभग सौ वर्ष पहले हुई थी। परंतु स्वतंत्रता तक महिला साक्षरता में प्रगति बहुत धीमी रही। स्वतंत्रता-पूर्व की अवधि और स्वतंत्रता कालीन अवधि में महिला साक्षरता का अनुपात पूरुष साक्षरता के तुल्य काफी बढ़ा है, लेकिन महिला साक्षरता और पुरुष साक्षरता में अभी काफी अंतर मौजूद है।

रजिस्ट्रार जनरल और जनगणना कार्यालय द्वारा हर दशक में की जाने वाली जनगणना के अनुसार साक्षरता की परिभाषा किसी भी भाषा में समझने के साथ-साथ पढ़ने और लिखने की योग्यता है। कोई भी व्यक्ति जो पढ़ तो सकता है मगर समझ नहीं पाए उसे साक्षर नहीं कहा जा सकता है। अब तक हुई जनगणनाओं के अनुसार देश की कुल आबादी में साक्षरता की प्रगति इस प्रकार रही है: 1951 में 24.90 प्रतिशत, 1961 में 35.46 प्रतिशत और 1991 में 53.12 प्रतिशत (तालिका-1)। महिला साक्षरता की स्थिति और भी निराशाजनक है: 1951 में 7.83 प्रतिशत, 1961 में 12.96 प्रतिशत और 1971 में 18.69 प्रतिशत, 1981 में 24.82 प्रतिशत और 1991 में 32.89 प्रतिशत। गौर करने की बात यह है कि महिलाओं में साक्षरता 1991 में 32.90 प्रतिशत 1961 में पुरुषों की साक्षरता (34.46 प्रतिशत) से बस थोड़ा सा कम थी, जिसका यही मतलब निकाला जा सकता है कि महिलाएं शिक्षा में पुरुषों से 30 वर्ष पीछे हैं (दांडेकर, 1996)।

तालिका 1 : पुरुष-महिला साक्षरता, 1961-1991

वर्ष	कुल जनसंख्या में साक्षरता का प्रतिशत		जनसंख्या में साक्षरता का प्रतिशत	
कुल	पुरुष	महिला	पुरुष	महिला
1961	34.46	12.96	40.39	15.33
1971	39.45	18.69	45.95	21.97
1981	46.89	24.82	53.49	28.48
1991	53.12	32.89	60.60	37.74

स्रोत: दांडेकर, 1996, पृ. 72

अगर 1901 से 1981 तक साक्षरता दर में वृद्धि को लिया जाए तो पुरुष साक्षरता दर में 92.3 प्रतिशत वृद्धि तो महिलाओं के लिए यह वृद्धि 36.3 प्रतिशत रही है। बहरहाल निरक्षेप प्रतिशत शुरू से ही निम्न प्रतिशत की ओर संकेत करते हैं। फिर देहात और शहरी क्षेत्रों की साक्षरता दरों में भी अंतर मौजूद हैं–देहाती आबादी की साक्षरता दर शहरी आबादी से कम है। शहरी महिलाओं में साक्षरता दर देहाती पुरुषों से अधिक है (कारकल, 1991)। फिलहाल बालिकाओं और अनुसूचित जातियों व जनजातियों के समेत सभी स्तरों पर नामांकन में भारी वृद्धि हुई है।

भारतीय समाज में वर्गीय भेदों के अनुरूप महिलाओं की शिक्षा में प्रगति असमान रही है। इसीलिए निम्न वर्गों की तुलना में मध्यम और उच्च वर्गीय महिलाएं शिक्षा प्राप्त करती हैं हालांकि वह अमूमन रूढिगत होती है। निम्न वर्गों में गरीबी के कारण और शिक्षा को कोई महत्व नहीं मिलने के कारण लड़कियां स्कूल नहीं जा पाती हैं। इसलिए भारत के राष्ट्रीय साक्षरता कार्यक्रम की सफलता देहाती महिलाओं और लड़कियों की निरक्षरता के समाधान पर निर्भर है हालांकि इसमें कोई संदेह नहीं है कि शिक्षा प्रक्रिया में सभी तबकों की सहभागिता को बढ़ाना उतना ही अनिवार्य है।

14.4 बालिका और शिक्षा

महिलाओं और लड़कियों की गिनती दुनिया के सबसे बड़े तबके के रूप में की जाती है, जिन्हें शिक्षा के लिए पूर्ण और समान अवसरों से वंचित रखा गया है। यूनेस्को की 1995 में जारी विश्व शिक्षा रिपोर्ट ने महिलाओं और लड़कियों के प्रति बरते जा रहे भेदभावों पर बहस दुबारा शुरू की। रिपोर्ट

कहती है कि "आज विश्व के साक्षर व्यक्तियों में महिलाओं की संख्या दो-तिहाई है, जबकि इतनी ही संख्या में लड़कियां विश्व की स्कूल-से-बाहर की आबादी का हिस्सा हैं।" (डीपीईपी, 1996)।

बालिका की शिक्षा को विशेष महत्व 1992 में मिला जिसे बालिका वर्ष घोषित किया गया था। इस समय तक स्कूलों में बालिकाओं के निम्न नामांकन दर और प्राथमिक स्तर के बाद स्कूल छोड़ने की भारी दर, बालिकाओं की उच्च कार्य सहभागिता दर और देश के अनेक हिस्सों में छोटी उम्र में लड़कियों के विवाह के प्रचलन के बारे में अकाट्य प्रमाण मिल चुके थे। यूं भी सभी बालिकाओं की शिक्षा और विशेष रूप से अनुसूचित जातियों और जनजातियों की बालिकाओं की शिक्षा चिंता का विषय बनी हुई है। उन परिवारों में लड़कियों की शिक्षा को कम प्राथमिकता दी जाती है, जिनमें लड़कों की शिक्षा को प्राय: अपेक्षतया अधिक प्राथमिकता मिलती हो। लड़कियों और महिलाओं को अपने ही घर में तमाम तरह के संसाधनों और सेवाओं से वंचित रखा जाता है। फिर अगर मां-बाप बच्चियों को स्कूल पढ़ाना चाहते भी हैं तो आसपास में स्कूलों की कमी, कई स्कूलों में शिक्षकों की अनियमित उपस्थिति, अरुचिकर और असंगतकारी पाठ्यक्रम, शिक्षण पद्धति और सामग्री ये सब मिलकर समस्याओं को जटिल बनाते हैं, विशेष कर देहाती इलाकों में। अध्ययन यही संकेत देते हैं कि बालिका की शिक्षा और पिता या परिवार के किसी अन्य बड़े सदस्य की शैक्षिक योग्यता के बीच घनिष्ठ संबंध होता है। इससे यही स्पष्ट होता है कि शिक्षा का एक अंतर-पीढ़ीय प्रभाव है।

शारीरिक विकास को कुंद करने वाला निम्न पोषण-स्तर, कच्ची उम्र में विवाह, गर्भधारण और शिशु जनन, शिशुओं का निम्न जन्म-भार, शिशु उत्तरजीविता की निम्न संभाविता और नाबालिग युवतियों में अकाल शिशु जनन के कारण मृत्यु की अधिक संभावनाएं, ये सभी भारत में बालिका और महिलाओं की स्थिति-संबंधी पहलुओं को प्रकाश में लाते हैं। लंबे समय तक स्कूली पढ़ाई के बड़े सकारात्मक प्रभाव देखने में आए हैं—सबसे पहले यह विवाह की आयु को बढ़ा देती है यानी एक पढ़ी-लिखी लड़की का विवाह निश्चित ही कच्ची उम्र में होने से रुक जाता है। इसका परिणाम यह रहता है कि मातृ और शिशु मृत्युदर भी कम हो जाती हैं। इन पहलुओं पर हम यहां आगे चर्चा करेंगे।

अनुभव से सीखें 1

आपने अपने आस-पड़ोस में ऐसी बालिकाओं को देखा होगा जो घरेलू नौकरानियों का काम करती हैं। पता लगाकर बताइए कि वे किस कारण स्कूल नहीं जा पाती हैं?

14.4.1 अंतरराज्यीय विषमताएं

साक्षरता के अखिल भारतीय आंकड़े दरअसल उन विषमताओं को छिपा देते हैं जो विभिन्न राज्यों, देहाती और शहरी क्षेत्रों, सम्प्रदायों और लिंग (स्त्री-पुरुष) के बीच मौजूद हैं। 1991 में देश में सबसे कम महिला साक्षरता 20 प्रतिशत राजस्थान में थी और सबसे कम पुरुष साक्षरता 52 प्रतिशत बिहार में थी। गरीब, उपेक्षित सम्प्रदायों में निरक्षरता बहुत ज्यादा है। अनुसूचित जातियों में पुरुष और महिला साक्षरता क्रमश: 45 प्रतिशत और 19 प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजातियों में क्रमश: 41 प्रतिशत और 18 प्रतिशत है। हाल में प्रकाशित एक अध्ययन की रिपोर्ट के अनुसार बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश के देहाती इलाकों में स्कूलों में बच्चों की उपस्थिति दर बेहद कम रहती है। हरियाणा, उड़ीसा, जम्मू और कश्मीर की भी यही स्थिति है। अखिल भारतीय स्तर पर आंकड़े बताते हैं कि 1995 में 3.6 करोड़ लड़के और 4.2 करोड़ लड़कियां स्कूल में पढ़ने नहीं जा रहे थे। अकेले उत्तर प्रदेश में 87 लाख लड़के और 92 लाख लड़कियां स्कूल नहीं जा रहे थे।

जरा सोचिए 1

1) आपके विचार से दक्षिण भारत और उत्तरी भारत में महिलाओं की स्वास्थ्य और शैक्षिक स्थिति में इतना भारी अंतर क्यों है?

2) लड़की और मां के स्वास्थ्य पर शिक्षा का किस तरह से प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है?

14.5 सामाजिक ढांचा और महिला स्वास्थ्य

किसी देश की आबादी का स्वास्थ्य उसमें मौजूद सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और परिवेश संबंधी कारकों पर निर्भर करता है। स्वास्थ्य का परिणाम इन तीन स्तरों पर काम करने वाले कारकों से जुड़ा है–राजनीतिक, सामाजिक और घर-परिवार। पितृसत्तात्मक मूल्य और सांस्कृतिक नजरिए सभी स्तरों पर हस्तक्षेप करते हैं, जिसके निहितार्थ महिलाओं को प्रभावित करते हैं।

उदाहरण के लिए राजनीतिक स्तर पर राज्य की विभिन्न मुद्दों से जुड़ी नीतियों और कार्यक्रमों, जैसे कृषि, उद्योग, रोजगार, स्वास्थ्य, वन इत्यादि, का असर परिवार की आमदनी और सम्मानपूर्वक जीने की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति पर पड़ता है। सामाजिक स्तर पर जाति, वर्ग, धर्म और जातिगत भेद सामाजिक ढांचे में परिवार की अवस्थिति को निर्धारित करते हैं। परिवार के स्तर पर परिवारिक आमदनी स्वास्थ्य उत्पादों और सेवाओं की क्रय क्षमता को तय करती है।

किसी सामाजिक परिवेश में परिवार की भौतिक अवस्थिति आवास स्थान, स्वच्छ पेयजल, वायु, स्वास्थ्य सेवाओं की सुलभता इत्यादि तक उसकी पहुंच को तय करती है। फिर सामुदायिक और पारिवारिक स्तर पर स्वास्थ्य संस्कृति यानी स्वास्थ्य संबंधी विश्वास और प्रथाएं, जैसे अतिरिक्त कारक भी परिवार की स्वास्थ्य स्थिति को तय करते हैं। अध्ययन बताते हैं कि अंत:पारिवारिक स्तर पर उत्पादों और सेवाओं तक पहुंच असमान होती है, जिसका आधार आयु, लिंग और नातेदारी संबंधी स्थिति है। परिवार के अंदर महिलाओं का स्वास्थ्य उनकी उम्र, वैवाहिक स्थिति और परिवार में उनकी स्थिति पर और समग्र रूप से समाज में महिलाओं की स्थिति पर निर्भर करता है।

प्रत्येक स्तर पर पितृसत्तात्मक मूल्य प्रतिबिंबित होते हैं। समाज में महिलाएं पत्नी और मां के रूप में जो आदर्शक भूमिकाएं अदा करती हैं वही राजनीतिक स्तर पर कार्यक्रमों की रूपरेखा और उनके कार्यान्वयन को प्रभावित करती हैं। इसीलिए परिवार नियोजन कार्यक्रम महिलाओं की जननक्षमता को निशाना बनाता है और स्वास्थ्य कार्यक्रमों में मां के रूप में महिलाओं को ही संबोधित किया जाता है। यह विडंबना ही है कि एक ओर तो महिलाएं अपनी पारिवारिक भूमिकाओं के कारण पारिवारिक स्वास्थ्य की संरक्षक मानी जाती हैं मगर वहीं दूसरी ओर ऐसा कोई अनुभवजन्य प्रमाण नजर नहीं आता जो बताता हो कि महिलाओं को स्वास्थ्य संबंधी मामलों में निर्णय करने का कोई अधिकार है। बेटी की तुलना में बेटों का सामाजिक और सांस्कृतिक महत्व, घर के बाहर और भीतर महिलाओं के असंगठित कार्य को कम महत्व दिया जाना, ये सब महिलाओं के स्वाभिमान को इस तरह प्रभावित करते हैं कि महिलाएं खुद अपने स्वास्थ्य की उपेक्षा करने लग जाती हैं।

अनुभव से सीख 2

ऐसे उनके सामाजिक नियमों के बारे में सोचें जो कहते हैं कि महिलाओं को ये खाना चाहिए, ये नहीं। इन्हें नोट कीजिए और अध्ययन केन्द्र में अपने मित्रों के साथ इन पर चर्चा कीजिए या इन्हें अकेले ही नोट कीजिए।

14.5.1 स्वास्थ्य स्थिति

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने स्वास्थ्य को "सिर्फ बीमारी या दुर्बलता की अनुपस्थिति ही नहीं बल्कि एक शारीरिक, मानसिक और पूर्ण सुख की स्थिति" के रूप में परिभाषित किया है (1958)। किसी भी आबादी के स्वास्थ्य की स्थिति का अनुमान जनसांख्यिक सूचकों के जरिए लगाया जाता है, जैसे: मृत्यु दर, आयु संभावित, रुग्णता (बीमारी होना और उसकी उपस्थिति) की दर इत्यादि। ये सूचक स्वास्थ्य की कमी का ठोस संकेत देते हैं

भारत में मृत्यु दर 10 है जो कि विकसित देशों के तुल्य है। मगर मृत्यु दर का नजदीकी से अध्ययन करने पर पता चलता है कि शिशु मृत्युदर, प्रजनन आयु वर्ग में महिला मृत्यु, जो कि ज्यादातर मातृत्व

कारणों (मातृ मृत्युदर) से होती है, अभी भी काफी ज्यादा है। भारत में प्रति 1000 जीवित जन्मों पर 0.5 आयु वर्ग के बच्चों में मृत्युदर 1991 में 90 थी। मातृ मृत्युदर (प्रति एक लाख जन्मों पर गर्भावस्था, शिशुजनन के दौरान और जनन के बाद 48 दिन के भीतर महिलाओं की मृत्युदर) 390 से 2000 के बीच है। देश के 55 मेडिकल कॉलेजों के अस्पतालों, 10 जिला अस्पतालों और तीन सामुदायिक खंडों में 1992-94 के दौरान मातृ मृत्युदर पर हुए एक नवीनतम अध्ययन के अनुसार भारत में यह दर 572 है। हिंदी भाषी राज्यों बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और राजस्थान में मातृ मृत्यु दर 1120 है जबकि शेष सभी राज्यों की कुल मातृ मृत्युदर 489 है। एनीमिया (खून की कमी का रोग) या अरक्तता ही मातृ मृत्यु का एक बहुत बड़ा कारण है, जो कुपोषण और अधिक कार्यभार के कारण होता है (भट, 1996)।

मौजूदा समय में रुग्णता के जोखिम विशेषकर प्रजनन-स्वास्थ्य से जुड़े जोखिम पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। महिलाओं को रतिजरोगों और विशेषकर एच आई वी (एड्स) जैसे रोगों के प्रति अधिक संवेदनशील माना जाता है जो कि विषमलैंगिक संक्रमण के जरिए फैलते हैं, क्योंकि पत्नी, सेक्स पार्टनर या वैश्याओं के रूप में महिलाओं को सुरक्षित यौन संबंध का कोई अधिकार नहीं है। सिर्फ स्वास्थ्य-सेवाओं की उपस्थिति ही काफी नहीं है, महिलाओं की स्थिति से जुड़े मुद्दों की स्वास्थ्य संबंधी परिणामों में महती भूमिका है।

14.5.2 शिक्षा और स्वास्थ्य में संबंध

शिक्षा प्राप्त करने के सकारात्मक परिणाम एक नहीं अनेक हैं। पिछले कुछेक दशकों के दौरान शिक्षा और अनेक स्वास्थ्य परिणामों के बीच विशेष संबंध उजागर हुआ है। इस संबंध के अध्ययन के लिए प्रजनन दर व्यवहार यानी छोटे या बड़े परिवार रखने की रुचि, गर्भनिरोधक का प्रयोग, बाल उत्तरजीविता यानी शिशु मृत्यु दर, टीकाकरण की प्रभाविता, ओरल रिहाड्रेशन थिरैपी (ओआरटी) का ज्ञान और उसका प्रयोग इत्यादि पर मैक्रो डाटा (समष्टि आंकड़े) जुटाए जाते हैं। दूसरी ओर शिक्षा और स्वास्थ्य के बीच संबंध को समझने के लिए संक्रमणों, रोगों का ज्ञान, यथेष्ट व्यक्तिगत और पारिवारिक प्रचलन और स्वास्थ्य संबंधी आचरण इत्यादि क्षेत्रों में सूक्ष्म स्तरीय अध्ययन किया जाता है। हाल में प्रकाशित हुए राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वे के आंकड़े इन संबंधों की पुष्टि करते हैं, जिसके बारे में हम आगे बताएंगे।

14.5.3 शिक्षा और प्रजनन दर व्यवहार

प्रजनन-दर व्यवहार सरल शब्दों में बड़ा या छोटा परिवार रखने की रुचि है। ऐसा देखा गया है कि यह व्यवहार विशेषकर महिलाओं द्वारा अर्जित शिक्षा के स्तर से प्रभावित होता है। ऐसा देखा गया है कि प्रजनन-दर व्यवहार का अध्ययन जनसांख्यिक सूचकों की सहायता से किया जाता है जैसे अशोधित जन्म दर, सामान्य प्रजनन-दर और कुल प्रजनन-दर। केरल और तमिलनाडु जन्म-दर और कुल प्रजनन-दर में कमी लाने में सफल रहे हैं। इसका श्रेय इन राज्यों में महिला साक्षरता स्तर को जाता है जो कि काफी उच्च है (देखिए तालिका 2)। इस सूचना के आधार पर यह सरल सा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बड़े परिवारों के लिए लोगों में मौजूद रुचि या चलन शिक्षा की कमी या अंधविश्वासों के कारण है। यहां यह समझे जाने की जरूरत है कि प्रजनन-दर व्यवहार की जड़ें संस्कृति में होने के अलावा इसके कई आर्थिक आयाम भी हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं: क) किसान और दस्तकार परिवारों में बच्चे भी श्रमदान करते हैं, (ख) निर्धन परिवारों में छोटी उम्र से ही बच्चे परिवार की उत्तरजीविता यानी उसकी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए काम करने लगते हैं, इसलिए अपने परिवार के लिए वे बोझ न हो कर उनकी पूंजी बन जाते हैं। (ग) वृद्धावस्था में निर्वाह के लिए पेंशन इत्यादि के अभाव के चलते बच्चों को वृद्धावस्था या शारीरिक पंगुता की स्थिति में सुरक्षा की गारंटी समझा जाता है। यह भी देखा गया है कि उच्च शिशु मृत्यु दर उच्च प्रजनन-दर की स्थितियों को जन्म देती है। इसका यही मतलब है कि परिवार में अधिक बच्चे उत्पन्न करने की प्रवृत्ति हावी रहती है ताकि यह सुनिश्चित हो सके कि कुछ बच्चे तो जीवित बचे रहें।

महिला स्वास्थ्य और शिशु स्वास्थ्य दोनों परस्पर जुड़े हैं। इसीलिए बाल उत्तरजीविता में सुधार और उसके फलस्वरूप शिशु-मृत्यु दर में कमी आने से कुल प्रजनन-दर में भी कमी आ जाती है। इससे महिलाओं के जनन-स्वास्थ्य में गुणात्मक सुधार आता है। इसी तरह महिला को स्वास्थ्य स्थिति में सुधार, जिसका अंतर-पीढ़ीय प्रभाव है, शिशु मृत्यु-दर में भारी कमी लाता है।

जरा सोचिए 2

1) क्या आप ऐसे कारक सोच सकते हैं जो एक सम्प्रदाय विशेष में प्रजनन-दर को प्रभावित करते हैं?

2) बच्चे का स्वास्थ्य मा के स्वास्थ्य से क्यों जुड़ा है?

3) उन कार्यों की सूची बनाइए जो महिलाओं को रोजाना करने पड़ते हैं।

तालिका 2 : पृष्ठभूमि के अनुसार प्रजननदर

पृष्ठभूमिगत विशेषताएं	कुल प्रजनन-दर	40 से 49 की आयु के बीच महिलाओं को उत्पन्न होने वाले बच्चों की माध्य संख्या
आवास		
शहरी	2.70	4.16
देहात	3.67	5.13
जाति/संवर्ग		
अनुसूचित जाति	3.92	5.40
अनुसूचित जनजाति	3.55	4.81
अन्य	3.30	4.76
शिक्षा		
निरक्षर	4.03	5.26
साक्षर, मिडिल	3.01	4.50
मिडिल स्कूल तक पूर्ण	2.49	3.71
हाई स्कूल तक पूर्ण	2.15	2.80
कुल	3.39	4.84

15-49 वर्ष की आयु वाली महिलाओं के लिए दर

स्रोत: एनएफएचएस, इंडिया, 1992-93, पृ. 9

14.5.4 शिक्षा और बाल उत्तरजीविता

विश्व प्रजनन-दर सर्वे के 115 देशों के आंकड़ों का कई देशों की बच्चे जनने वाली महिलाओं का पुनः अध्ययन किया गया है, जिससे मातृ शिक्षा और बाल मृत्युदर में सकारात्मक सहसंबंध की पुष्टि होती है (काल्डवेल, 1979)। शिशु मृत्यु-दर की मां की शिक्षा से संबंध पर तालिका-3 में दिए गए भारतीय आंकड़े इस रुझान को बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट कर देते हैं।

इस निष्कर्ष को कुछ समय पहले हुए राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (1992-93) ने भी दुहराया है। तालिका-1 में प्रस्तुत आंकड़ों से ये बातें पता चलती हैं।

- समग्र स्तर पर मादा शिशु मृत्यु दर की तुलना में उच्च नर शिशु-मृत्युदर। मगर विस्तृत

आंकड़े जो यहां नहीं दिए गए हैं, उनसे पता चलता है कि पुरुषों को जीवन के पहले महीने में मरने का खतरा अधिक रहता है, तो वहीं महिलाओं को अपने पहले जन्म दिन से पचासवें जन्मदिन के बीच इसका खतरा रहता है। ऐसा माना जा रहा है कि यह व्युत्क्रम स्तन-पान के बंद हो जाने के बाद लड़कियों की पोषण और चिकित्सा संबंधी उपेक्षा को प्रतिबिंबित करता है।

- चरम जनन आयु में माताओं में निम्नतर शिशु मृत्युदर। बहुत कम उम्र और अधिक उम्र वाली माताओं से जन्म लेने वाले बच्चों के मरने का खतरा अधिक रहता है।
- बच्चों के जीवित रहने की संभावनाओं को बच्चों के बीच अंतर रखे जाने का पैटर्न भी बड़े शक्तिशाली ढ़ग से प्रभावित करता है। जन्मों में अंतर जितना कम होगा शिशु की मृत्यु का जोखिम उतना ही ज्यादा होगा।

तालिका 3 : मातृ शिक्षा और शिशु मृत्युदर

शैक्षिक स्तर	ग्रामीण	शहरी
साक्षर	90	53
प्राथमिक और उससे ऊपर	64	49
प्राथमिक से नीचे की साक्षर	105	59
निरक्षर	132	81

स्रोत: शिशु और बाल मृत्युदर सर्वेक्षण, 1999, रजिस्ट्रार जनरल, केन्द्रीय गृह मंत्रालय, नई दिल्ली, 1981, विश्व बैंक (19XX) के "जेंडर एंड पॉवर्टी इन इंडिया" में उद्धृत; वाशिंगटन, डी.सी. यू.एस.ए.

तालिका - 2 में प्रस्तुत आंकड़ों से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं:

- मां की शिक्षा के स्तर में वृद्धि के साथ शिशु मृत्युदर में तेजी से कमी आती है;
- शहरी क्षेत्रों की तुलना में ग्रामीण क्षेत्रों में शिशु मृत्युदर अधिक;
- अनुसूचित जातियों में शिशु मृत्युदर जनजातियों से अधिक है, तो जनजाति की महिलाओं में शिशु मृत्यु दर अन्य जातियों की महिलाओं से अधिक है।
- हिन्दुओं में शिशु और बाल मृत्युदर अन्य संप्रदायों से अधिक है।

प्रसवपूर्व और प्रसव के बाद मां और शिशु की देखभाल, संस्थागत ढांचे (अस्पताल इत्यादि) में जनन, जन्म के समय प्रशिक्षित लोगों से सहायता लेना, टीकाकरण, प्रतिरक्षण (इम्यूनाइजेशन) का ज्ञान इन सभी पहलुओं का महिला शिक्षा से सकारात्मक संबंध है। ऐसी क्रिया प्रणाली जिससे महिला शिक्षा की परिणति निम्न बाल मृत्यु में हो, संकल्पनात्मक मॉडलिंग का विषय बनी हुई है। कुछ समय पहले सामाजिक लिंग सोच की समानता, निर्धनता और जनन व्यवहार के बीच मौजूद जटिल संबंधों का विश्लेषण एक सूक्ष्य स्तरीय अध्ययन में किया गया था। इसमें साक्षरता सूचकों के विपरीत प्रजनन दर के एक व्याख्यात्मक परिवर्ती के रूप में प्रति व्यक्ति आय (आमदनी) के शक्तिशाली प्रभाव को देखा गया (आईएसएसटी, 1996)। तमिलनाडु के हालिया जनसांख्यिक अनुभव पर हुए एक अन्य अध्ययन में जिला-स्तरीय असमेकित आंकड़ों ने दक्षिण भारत में महिलाओं की वृहत्तर स्वायत्तता पर प्रचलित व्यापक सामान्यीकरण के असत्य होने के संकेत दिए हैं। इसमें संदेह नहीं है कि उच्च महिला साक्षरता दर, वृहत्तर महिला कार्य-सहभागिता और मित्रवत् महिला नातेदारी ढांचे प्रजनन दर को घटाते हैं। मगर अंतरक्षेत्रीय भिन्नताएं काफी व्यापक है जो इस तरह के सामान्यीकरण को गड़बड़ा देते हैं। इसलिए जहां स्वतंत्रता की कमी से उपजी उच्च प्रजनन दर के तर्क को उचित ठहराया जा सकता है, वहीं निम्न प्रजनन दर का मतलब यह जरूरी नहीं है महिलाओं को स्वायत्तता प्राप्त है (स्वामीनाथन, 1996)।

क्या आप जानते हैं? 1

आंकड़ों के मिथक: महिला स्वास्थ्य का गलत निरुपण

आधुनिक युग में परिमाणात्मक आंकड़े स्थितियों के आकलन, उनके विश्लेषण का आधार बन गए हैं। भूमंडलीय प्रक्रियाओं या घटनाओं की माप-जोख तरह-तरह की संख्याओं से की जा रही है, जिसके चलते आंकड़ों के खेल को समझना जरूरी हो गया है। विशेषकर महिला स्वास्थ्य संबंधी आंकड़ों के बारे में यह बात अक्षरशः सत्य है। समूचे विश्व में महिलाओं के स्वास्थ्य की स्थिति को उन्नत बनाने के लिए लक्ष्य तय किए जा रहे हैं, जिसे मातृ मृत्युदर, शिशु मृत्युदर, प्रजननदर, स्त्री पुंजाति (स्त्री-पुरुष के बीच) अनुपात के जरिए मापा जा रहा है।

मगर महिला स्वास्थ्य कार्यकर्ता और शोधकर्ता मांग करने लगे हैं कि संख्याओं के झरोखे से महिलाओं के स्वास्थ्य पर मिलने वाली सीमित जानकारी को संशोधित किया जाए। ये संख्याएं महिलाओं के जननात्मक काल (वर्षों में) को बताती हैं या ये सिर्फ उनकी आयु संभाविता में आई वृद्धि को बताती तो हैं मगर मरने वाली महिलाओं की आयु या उनके सामाजिक-आर्थिक वर्ग के बारे में कुछ नहीं बताती हैं।

इस तरह के सवालों से प्रेरित होकर कुछ स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं ने नई दिल्ली स्थित समन्वय इकाई से कहा कि महिलाओं के स्वास्थ्य-संबंधी आंकड़ों की रहस्यमयता को तोड़ने और उनके पीछे छिपे सच (या झूठ) को उजागर करने के लिए काम किया जाए। समन्वय इकाई नई दिल्ली की क्रिश्चियन मेडिकल एसोसिएशन के साथ मिलाकर पोस्टरों का एक सेट बनाने का काम कर रही है, जिनमें चित्रों के जरिए जटिल आंकड़ों को सरल बनाया और उनमें निहित संदेश को उजागर किया जाएगा। ये पोस्टर सामाजिक-लिंग सोच, जाति और वर्ग संबंधी असमेकित आंकड़ों के संग्रह में मौजूद कमियों को भी दिखाएंगे क्योंकि भारत जैसे विकासशील देशों में ये आंकड़े महिलाओं के स्वास्थ्य की स्थिति पूरी तरह से नहीं बता सकते।

स्वास्थ्य परामर्श टोली के सदस्यों ने सुझाया है कि आंकड़ों के सांख्यिक संग्रह के बारे में जानकारी का आदान प्रदान हो और इसमें मौजूद उन कमियों को दूर करने की दिशा में कार्य किया जाए, जिनके चलते महिलाओं का स्वास्थ्य अवास्तविक समग्र आंकड़ों के दायरे में सिमट कर रह जाता है, जो स्वास्थ्य की दयनीय स्थिति को छिपा देते हैं।

लोकायन बुलेटिन–वीमेन टुवार्ड्स बेइजिंग:
वॉयसेज फ्रॉम इंडिया, जुलाई, अक्तूबर, 1995

14.6 सारांश

इस इकाई में महिलाओं और बालिका के विशेष संदर्भ में शिक्षा और स्वास्थ्य के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की गई।

यह चर्चा बहुत सामान्य सी है और यह स्वास्थ्य और शिक्षा के विशेष बिन्दुओं को छूती है। किसी भी आबादी की शैक्षिक व स्वास्थ्य स्थिति को कुछ सूचकों के जरिए चित्रित किया जाता है, जैसे: मृत्युदर, रुग्णता, प्रजननदर इत्यादि। इसी प्रकार किसी आबादी की शैक्षिक स्थिति उपलब्ध आंकड़ों से ही जाहिर होती है। मगर यह जरूरी नहीं है कि ये आंकड़े वास्तविक जटिल प्रक्रिया के बारे में बताएं जो इन रुझानों को शुरू करती है।

14.7 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

गर्भ निरोध : विभिन्न युक्तियों से गर्भधारण को रोकना, जिससे कि बच्चा न हो पाए।

जनसांख्यकी : जनसंख्या का संख्यात्मक अध्ययन

घर-परिवार : एक घर में रहने वाले सभी सदस्य

साक्षरता : लिखने और पढ़ने की क्षमता

मृत्युदर : जनसंख्या-मृत्युदर में मृत्यु का अनुपात

14.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बसु, मालवांडे (1992) *कल्चर: द स्टैटस ऑफ वीमेन एंड डिमोग्रैफिक बिहेवियर*. लंदन : कैलरेंडन प्रेस.

संदर्भ

अग्निहोत्री, इंदू और वीणा मजुमदार, (1995) लोकायन बुलेटिन में बेइजिंग: वॉइसेज फ्राम इंडिया जुलाई से अक्तूबर, 1995.

लैविया, एग्नेस (1995) स्टेट, जेंडर एंड द रेटॉरिक ऑफ लॉ रिफार्म. आरसीडब्लूएस एसएनडीटी वीमेंस यूनिवर्सिटी : मुम्बई.

बसु, मालवाडे (1992) कल्चर, द स्टैटस ऑफ वीमेन एंड डेमोग्रैफिक बिहेवियर. लंदन : कैलरेंडन प्रेस.

कमेटी ऑन द स्टैटस ऑफ वीमेन इन इंडिया: टुवार्ड्स इक्वेलिटी (1974), नई दिल्ली, भारत सरकार.

किश्वर, मधु (1994) इन सर्च ऑफ आनसर्स. नई दिल्ली : हॉरिजांटल इंडियाबुक्स.

कुमार, राधा (1993) हिस्ट्री ऑफ डुइंग. नई दिल्ली : काली फॉर वीमेन.

सरकार, लोतिका (1995) वीमेंन मूवमेंट एंड लीगल प्रोसेस: आकेजनल पेपर्स. सीडीडब्लूडीएस, 1998.

सार्क गाइड बुक ऑन वीमेन एंड डेवलमेंट, भारत सरकार साठे, एस.पी. (1973), टुवार्ड्स जस्टिस आरसीडब्लूएस: एसएनडीटी वीमेंस यूनिवर्सिटी : मुम्बई.

द नेशनल पर्सपेक्टिव प्लान (1988-2000), भारत सरकार.

1974, रिपोर्ट ऑफ द कमेटी ऑन दि स्टैटस ऑफ वीमेन इन इंडिया, भारत सरकार.

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

CWED-01

महिला सशक्तिकरण एवं विकास में आधार पाठ्यक्रम

खंड

4

विषय संबंधी अध्ययन (केस स्टडी): सहभागिता की ओर बढ़ते कदम

खंड प्रस्तावना

इकाई 15
महिलाएं और पर्यावरण 5

इकाई 16
महिलाएं और सहकारिता 16

इकाई 17
अरक-विरोधी आंदोलन 31

इकाई 18
शोध रिपोर्ट का लेखन 44

खंड प्रस्तावना

इस खंड के विषय महिला और पर्यावरण के मुद्दे हैं। ये मुद्दे प्राकृतिक वातावरण और सामाजिक वातावरण दोनों से जुड़े हैं।

इस तरह इकाई 15 में भारत में पारिस्थितिकी की अवधारणा और पर्यावरण के ह्रास के महिलाओं पर पड़ने वाले प्रभावों पर चर्चा की गई है। हमने इसमें पर्यावरण के संबंध में सामाजिक लिंग सोच और जैवविविधता (बायोडाइवर्सिटी) के मुद्दों का विवेचन भी किया है। इस सिलसिले में हमने चिपको, अप्पिको, नर्मदा और गंधमर्दन आंदोलनों के उदाहरण यहां दिए हैं।

इकाई 16 में महिलाओं और सहकारिताओं के मुद्दों को उठाया गया है और यह बताया गया है कि सहकारिता क्या है। इसके लिए हमने 'सेवा' समेत कुछ उदाहरणों को विस्तार से दिया है और बताया है कि सहकारिता किस तरह से सशक्तिकरण की ओर ले जाती है। कार्य संबंधी वातावरण और सामाजिक-लिंग सोच से जुड़े मुद्दों पर भी यहां चर्चा की गई है।

इकाई 17 में हमने महिलाओं द्वारा उठाए गए अरक-विरोधी आंदोलन के बारे में विस्तार से बताया है। इसमें हमने अपनी बात इससे शुरू की है कि मद्यनिषेध या नशाबंदी किस तरह से औपनिवेशिक और स्वतंत्रताकालीन भारत में हमेशा एक ज्वलंत मुद्दा रहा है। फिर 1992 में आंध्र प्रदेश की महिलाओं ने अरक-विरोधी आंदोलन छेड़ा। उन्होंने शराब की दुकानों के आगे धरना दिया, अपने परिवार के पुरुषों से शराब छुड़वाई। इससे उन्होंने यह दिखा दिया कि अगर "महिला शक्ति" को सही दिशा में ढाला जाए तो वह क्या कुछ नहीं कर सकती।

अंत में इकाई 18 में शोध पत्र लेखन के लिए एक कार्यगत ढांचा प्रदान किया गया है। यह विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है क्योंकि उन्हें इससे लक्षित समूह, सामग्री और नैतिकता जैसी अन्य तरह की बातों की जानकारी मिलती है।

इस पाठ्यक्रम की ये सभी इकाइयां बेहद उपयोगी हैं क्योंकि इनमें महिलाओं से जुड़े विभिन्न सैद्धांतिक और व्यावहारिक मुद्दों और स्वयं को अधिकारसंपन्न बनाने और इस प्रकार अपना जीवन बेहतर बनाने में उनकी भूमिका के बारे में बताया गया है।

इकाई 15 महिलाएं और पर्यावरण

रूपरेखा

15.0 लक्ष्य और उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 भारत में सामाजिक पारिस्थितिकी की अवधारणा

15.3 पर्यावरण का ह्रास और महिलाओं पर उसका प्रभाव

15.4 सामाजिक लिंग-सोच (जेंडर) और पर्यावरण

15.5 महिलाएं और जैवविविधता (बायोडाइवर्सिटी)

15.6 ग्रामीण भारत में महिलाएं और पर्यावरण आंदोलन

- 15.6.1 चिपको आंदोलन
- 15.6.2 अप्पिको आंदोलन
- 15.6.3 नर्मदा आंदोलन
- 15.6.4 गंधमर्दन आंदोलन

15.7 महिला सहभागिता की सीमाएं और समस्याएं

15.8 सारांश

15.9 परिभाषिक शब्दों की व्याख्या

15.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.0 लक्ष्य और उद्देश्य

पुरुषों की तुलना में महिलाओं का पारिस्थितिक तंत्र या पर्यावरण से एक विशिष्ट और भिन्न रिश्ता होता है। इस इकाई का विषय यही है। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप :

- अपने पर्यावरण के संबंध में एक ही समुदाय में महिलाओं और पुरुषों के दृष्टिकोण और अभिरुचियों के भेदों को समझा सकेंगे,
- यह बता सकेंगे कि विभिन्न पारिस्थितिक प्रदेशों में पारिस्थितिक ह्रास किस प्रकार से महिलाओं को पुरुषों से अधिक प्रभावित करता है,
- यह समझा सकेंगे कि स्वतंत्रताकालीन भारत में हुए विभिन्न पर्यावरण आंदोलनों की महिलाओं में किस तरह प्रतिक्रिया हुई और उनमें उन्होंने किस तरह भागीदारी की।

इस इकाई का दोहरा उद्देश्य है: पहला आपको प्रकृति–यानी वन और आवास–और निर्माण कार्यों के बीच संतुलन के महत्व को बताना और उसकी थीम को विस्तार देना है। निर्माण कार्य अमूमन समूचे पर्यावरण समीकरण को ध्यान में रखे बगैर किए जाते हैं। हमारा दूसरा उद्देश्य आपको यह एहसास कराना है कि कई पर्यावरण संबंधी मुद्दों में महिलाएं ही सबसे ज्यादा प्रभावित होती हैं और इसीलिए वे ही देश के अनेक महत्वपूर्ण पर्यावरण आंदोलनों में सबसे आगे रही हैं।

15.1 प्रस्तावना

आदिवासियों, बंजारों, मछुवारों और दस्तकारों के लिए पारिस्थितिकतंत्र लाभ अर्जन का ही स्रोत नहीं हैं बल्कि जीवित बने रहने का स्रोत भी है। इस पारिस्थितिक-तंत्र का विनाश उन्हें जीवनदायी सहायक प्रणाली से वंचित करता है जिसके इर्द-गिर्द वे अपना आर्थिक और सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का ताना-बाना बुनते हैं। पारिस्थितिकीय ह्रास मौजूदा आर्थिक प्रक्रिया की शोषणात्मक प्रकृति का परिणाम है। इसके फलस्वरूप ऐसी अनेक सामाजिक वानिकी परियोजनाएं स्थापित की गई हैं, जो लंबे समय तक कायम नहीं रखी जा सकती। इसी के चलते प्राकृतिक संसाधनों के नियंत्रण में महिलाओं की हमेशा उपेक्षा की गई है।

इस इकाई में हम भारत में सामाजिक पारिस्थितिकी की अवधारणा पर विशेषकर पर्यावरण ह्रास और महिलाओं पर उसके प्रभावों के मद्देनजर रोशनी डालेंगे। इसके लिए हम पर्यावरण और जैवविविधता (बायोडाइवर्सिटी) के संबंध में सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) का अध्ययन करेंगे।

इसके बाद हम ग्रामीण भारत में चिपको, अप्पिको, नर्मदा और गंधमर्दन आंदोलनों समेत नारी और पर्यावरण आंदोलनों का अध्ययन करेंगे। इकाई के अंत में हमने इन आंदोलनों में महिलाओं की सहभागिता की सीमाओं और समस्याओं पर थोड़ी-बहुत चर्चा की है।

15.2 भारत में सामाजिक पारिस्थितिकी की अवधारणा

व्यावसायिक लाभ के लिए वृक्षों का कटान, वनों में खननकार्य, वनाच्छादित क्षेत्रों में विशाल बांधों का निर्माण जैसे कार्य वनों में रहने वाले आदिवासी और देहाती गरीब लोगों की आजीविका को प्रभावित करते हैं, जो ईंधन, भोजन, चारा और कच्चे रेशे के लिए वनों पर निर्भर हैं। बड़ी विकास योजनाएं भी सामूहिक विस्थापन की समस्या लेकर आती हैं जो देहाती गरीब आबादी को अपने प्राकृतिक मातृभूमि से सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से उखाड़ फेंकती है।

पश्चिमी देशों के विपरीत, जहां विकास परियोजनाएं निर्जन क्षेत्रों में चलाई जाती हैं, भारत में प्रत्येक पारिस्थितिक निकेत किसी न किसी जन समूह या समुदाय का आश्रय है। इसलिए ये विशाल परियोजनाएं इन निकेतों में रहने वाले लोगों की आजीविका कि लिए खतरा बन जाती हैं। फिर पश्चिमी पर्यावरणविदों का पहला सरोकार प्रकृति, पेड़-पौधों और जीव-जंतुओं को उनके सौन्दर्यात्मक महत्व के लिए उनका संरक्षण रहा है। गहन पारिस्थिति की को वे अधिक महत्व देते हैं जो प्राकृतिक विश्व को उसी दशा में देखती है। गहन पारिस्थतिकी (डीप इकॉलॉजी) पर्यावरण संबंधी पारंपरिक सरोकारों की उपज है जिसका उद्देश्य वन संरक्षण आंदोलन के मूल्यों को विस्तार देना है। इसकी तुलना में, सामाजिक पारिस्थितिकी (सोशल इकॉलॉजी) का भारतीय पर्यावरणवाद में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि देश के कई तबकों, विशेषकर देहात के गरीब लोगों का सामाजिक जीवन उनके पारिस्थितिक तंत्रों से बंधा हुआ है। सामाजिक पारिस्थितिकी मानव चेतना की प्रकृति आत्मीयता, समाज में क्रमपरंपरा और प्रभुत्व की आमूल परिवर्तनवादी समीक्षा और पारिस्थितिकीय और सामाजिक सरोकारों की ऐतिहासिक एकता को महत्व देती है।

15.3 पर्यावरण का ह्रास और महिलाओं पर उसका प्रभाव

अब तक हुए अनेक अध्ययनों से यह सिद्ध हो चुका है कि महिलाएं, विशेषकर ग्रामीण महिलाएं उन क्षेत्रों में सबसे ज्यादा प्रभावित होती हैं जहां का पारिस्थितिक-तंत्र नष्ट हो चुका है, क्योंकि अपने परिवारों का बड़ा बोझ उन्हें ही ढोना पड़ता है। इनमें भी उपेक्षित, भूमिहीन परिवारों की महिलाओं

को सबसे बुरी स्थिति का सामना करना पड़ता है। उनके कार्यभार में वृद्धि पर कोई आंकड़े हालांकि मौजूद नहीं हैं। मगर अपने कामकाज में जितना समय वे बिताती हैं उसके मौजूदा दस्तावेज बताते हैं कि वह असाधारण है। वनों के विनाश का प्रभाव पुरुषों से ज्यादा आदिवासी महिलाओं पर अधिक पड़ता है क्योंकि आदिवासी और वन अर्थव्यवस्था अनिवार्यत: महिला अर्थव्यवस्था है। वनों के विनाश के कारण आदिवासी महिलाओं को जलावन की लकड़ी और छोटे वन उत्पादों की खोज के लिए मीलों पैदल जाने के लिए विवश होना पड़ता है क्योंकि यही आदिवासी अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार हैं। एक अध्ययन के अनुसार कोंड जनजाति की महिलाओं को प्रतिदिन औसतन 14 घंटे काम करना पड़ता है जबकि पुरुष सिर्फ 9 घंटे ही काम करते हैं। वनों के विनाश के चलते वन उत्पाद भी लुप्त होते जा रहे हैं। जिसके कारण आदिवासी महिलाओं को अपने परिवार की भोजन संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आमदनी के वैकल्पिक स्रोत तलाशने पड़ रहे हैं। यही कारण है कि आजीविका की तलाश में उन्हें पलायन के लिए विवश होना पड़ रहा है। वनों के विनाश का एक बड़ा परिणाम यह रहा है कि पेड़ों के साथ-साथऔषधि गुणों से भरपूर जड़ी-बूटियां प्राय: लुप्त हो गई हैं, इससे आदिवासियों और विशेषकर महिलाओं के शारीरिक स्वास्थ्य की स्थिति और बिगड़ती है।

क्या आप जानते हैं?

ईंधन के लिए लकड़ी, चारा और पानी जैसी बुनियादी पारिवारिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए महिलाएं 14 से 16 घंटे रोजाना इनमें ही खर्च करती हैं। उनकी किसी दिन छुट्टी नहीं होती। देश के शुष्क और अर्ध-शुष्क प्रदेशों और पहाड़ों में बसे गांवों में रहने वाली महिलाओं को सबसे ज्यादा कष्ट साध्य श्रम करना पड़ता है। इन प्रदेशों में वनों के विनाश के चलते जलावन लकड़ी, चारा और पानी की भारी कमी हो गई है। फलस्वरूप महिलाएं बच्चे तड़के सबसे ही लकड़ी, चारे और पानी लाने निकल पड़ते हैं और देर शाम को घर लौटते हैं। एक औसतन अर्ध-शुष्क गांव में एक औरत सिर्फ जलावन लकड़ी लाने के लिए हर वर्ष कम से कम 1400 कि.मी. पैदल चलती है, जो कि दिल्ली और कलकत्ता के बीच की दूरी के बराबर है। पहाड़ी प्रदेशों में लकड़ी की समस्या तो और खराब भी है, जहां की खत्वाट (बंजर) पहाड़ियों के कारण घरों में चूल्हे जलने बंद होते जा रहे हैं।

इसके विपरीत केरल जैसे राज्य में पारिस्थितिकी-जलवायु परिस्थितियां ऐसी हैं कि वहां कि धरती हरी-भरी है, जिसके चलते महिलाओं पर बोझ शायद देश भर में सबसे कम है। न्यूनतम भूमि सुधारों के तहत, जिन भूमिहीन परिवारों को एक एकड़ के दसवें भाग के बराबर जमीन का टुकड़ा दिया गया था, उनके पास अपने मकान से लगा जमीन का टुकड़ा भी है, जिसमें वे कुछेक दर्जन नारियल के पेड़ उगा लेते हैं। इससे उनकी ईंधन संबंधी आवश्यकताएं लगभग आधी पूरी हो जाती हैं।

पानी लाने या भरने की जिम्मेदारी हमेशा महिलाओं की ही रहती है। बड़े बांधों द्वारा जल स्रोतों पर अधिकार या "विकास" परियोजनाओं द्वारा जल-प्रदूषण महिलाओं के जीवन को सबसे ज्यादा प्रभावित करता है। इसका एक उदाहरण मध्य प्रदेश के कोरबा में कोहडिया गांव है। यहां की नदी फैक्टरियों की चिमनियों से निकलने वाली उड़न-राख (फ्लाई-ऐश) से भर गई तो इस गांव की महिलाओं को गांव के संपन्न लोगों के निजी कुओं पर निर्भर रहना पड़ा। चारागाहों के अभाव में ग्रामवासियों को अपने पालतू पशुओं को बेचना या त्यागना पड़ा। कोहाडिया अपवाद नहीं है, बल्कि देश के कई इलाकों में यही होता जा रहा है।

हाल के वर्षों में पलायन ने महिलाओं के कार्यभार को और बढ़ा दिया है। महिलाओं को अपने घरों की जरूरतों का ही ध्यान नहीं रखना पड़ता है बल्कि पुरुषों के पलायन कर जाने पर घर की खेतीबाड़ी की देखभाल भी उन्हें ही करनी पड़ती है। ऐसी महिलाओं को तनावपूर्ण और श्रमसाध्य जीवन जीना पड़ता है और वे अक्षरश: अपनी "सहन क्षमता" के अंतिम पड़ाव पर हैं।

जरा सोचिए 1

1) पारिस्थितिकीय ह्रास क्या महिलाओं को पुरुषों से अधिक प्रभावित करता है? आपके क्षेत्र में पारिस्थितिक तंत्र क्या महिलाओं की परिस्थिति के प्रतिकूल है?

2) वे पांच बुनियादी जरूरतें क्या हैं, जिन पर देहाती महिलाओं को अपने रोजमर्रा के जीवन में निर्भर रहना पड़ता है?

15.4 सामाजिक–लिंग सोच (जेंडर) और पर्यावरण

आधुनिक पर्यावरण आंदोलन में पर्यावरण-नारीअधिकारवाद (इकोफेमिनिज्म) की अवधारणा को बल मिलने लगा है। पर्यावरण-नारीअधिकारवाद की अवधारणा प्रकृति को नारी के नजरिए से देखती है। इस अवधारणा का जन्म 1970 के दशक में हुआ था जब नारी और प्रकृति के बीच संबंधों के बारे में विश्व में जनचेतना बढ़ने लगी थी। पर्यावरण-नारीअधिकारवाद (इकोफेमिनिज्म) शब्द का सृजन फ्रेंच लेखक फ्रैंकॉई डी योबोन ने 1974 में किया था, जिन्होंने महिलाओं से आह्वान किया कि वे इस धरती को बचाने के लिए एक पारिस्थितिकीय (या पर्यावरण) आंदोलन का नेतृत्व करें। उनका कहना था कि यह आंदोलन नारी और पुरुष के बीच एक नए सामाजिक लिंग संबंध को जन्म देगा। यही नहीं यह मानव और प्रकृति के बीच एक नया संबंध बनाएगा।

पश्चिमी मूल की होने के बावजूद भी यह अवधारणा भारतीय पर्यावरण आंदोलनों में लोकप्रिय हुई है। यहां यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है: अपने पारिस्थितिक तंत्र के प्रति महिलाओं का दृष्टिकोण और व्यवहार क्या पुरुषों से भिन्न है? क्या कोई पहाड़ी या ग्रामीण महिला अपने प्राकृतिक पर्यावरण के बारे में अपने परिवार के पुरुषों से भिन्न महसूस करती है, उनकी प्रतिक्रिया और आचरण क्या अपने पुरुषों से भिन्न होते हैं? इस मामले में मुख्यत: दो विचार हैं। एक विचार आमूल परिवर्तनवादी नारी-अधिकारवादी विचारधारा से उपजा है जो पुरुषों की तुलना में महिलाओं को प्रकृति के अधिक समीप मानती है। इसके अनुसार महिलाएं स्वभावत: संरक्षणवादी हैं और वे प्रकृति की देखरेख पुरुषों से अच्छा करती हैं।

उदाहरण के लिए आदिवासी, विशेषकर उनकी महिलाएं अपनी संस्कृति की संरक्षक हैं जिसकी जड़ें समेकित पर्यावरण-मूल्यों में मौजूद हैं। आदिवासियों का पारंपरिक ज्ञान कहता है कि धरती मां सिर्फ मनुष्य की बुनियादी जरूरतों को ही पूरा नहीं करती है। बल्कि यह समूची सृष्टि की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। इसीलिए वे प्रकृति से सिर्फ उतना ही लेते हैं जो उनके लिए आवश्यक है। उनकी कला, विश्राम और मनोरंजन कर्म धरती मां की गोद में ही होते हैं। वृक्षों, जल-प्रपातों, जानवरों और सृष्टि की सभी रचनाओं में वे देवत्व का वास और उन्हें पवित्र मानते हैं। पृथ्वी उनके लिए देवी मां है। यह अपने आप में बड़ा हैरतअंगेज है कि आदिवासियों ने युगों से प्रकृति की जैवविविधता (बायोडाइवर्सिटी) को जिस तरह से खोजा, उसका वरण और संक्षरण किया है।

दूसरा है आधुनिक विचार जो प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण में सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) जनित भेदों की व्याख्या श्रम के विभाजन के रूप में करता है। इस विचार के अनुसार महिलाओं को हर सूरत में घरेलू काम-काज करने पड़ते हैं इसलिए वनों के विनाश का प्रभाव सबसे पहले उन्हीं पर पड़ता है। "आखेटक-पुरुष" को मुख्य आजीविका अर्जनकर्ता के रूप में तो "संग्रहकर्ता-महिला" को नियमित भोजन आपूर्ति के स्रोत के रूप में देखा गया है। वह कंद-मूल, फलों, इत्यादि का संग्रहण करती थी जबकि पुरुषों द्वारा आखेट में लाया जाने वाला मांस सिर्फ एक सम्पूरक भोजन था। इसीलिए महिलाओं की धारणा को समझने के लिए वृक्षों के संसाधनात्मक उपयोगों को ध्यान में रखा जाता है। दैनिक गृह प्रबंधन में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका के कारण प्रकृति के प्रति महिलाओं की धारणा और नजरिया पुरुषों से काफी अलग होता है।

जरा सोचिए 2

1) पर्यावरण-नारीअधिकारवाद (ईको-फैमिनिज्म) क्या है? इसके मूलभूत सिद्धांतो के बारे में संक्षेप में लिखिए।

2) प्रकृति के प्रति नारी की अवधारणा और दृष्टिकोण के संबंध में प्रचलित दो विचारों के बारे में बताइए। क्या इनमें हितों को लेकर कोई अंतर्विरोध है?

15.5 महिलाएं और जैवविविधता

जो महिलाएं वनों और कृषि पर आश्रित रहती हैं उनकी रुचि विविधता में होती है, जो प्रकृति के साथ उनके संबंध तक जाती है। पुरुष तो एकधान्य कृषि (मोनो कल्चर)–यानी एक किस्म की खेती या वृक्षों को पसंद करते हैं। क्योंकि इससे उन्हें तत्काल नकद आमदनी होती है। मगर महिलाएं नाना किस्म के पेड़ पसंद करती हैं जो कई किस्म की घरेलू जरूरतें पूरी कर सकें।

अब तक हुए अनेक अध्ययनों से पता चलता है कि पुरुष प्राय: नकदी फसल अर्थव्यवस्था को महत्व देते हैं, लेकिन महिलाएं जैव द्रव्यमान (बायोमास) के आधार पर वनीकरण के लिए वृक्षों का चयन करती हैं। ये अभिरुचियां चिपको आंदोलन के दौरान स्पष्ट रूप से देखने में आईं, जिसके बारे में हम आगे चर्चा करेंगे। एक ही घर में ऐसी स्थिति भी दिखाई देती है कि नकद धन कमाने के लालच में पुरुष खुशी-खुशी प्रकृति का नाश कर देते हैं हालांकि इससे उनकी औरतों को लकड़ी और चारे की आवश्यकताओं की पूर्ति करना दिन-ब-दिन कठिन होता जाता है। नकद-आमदनी की अर्थव्यवस्था की पैठ से उपजी नई संस्कृति ने पुरुषों की धीरे-धीरे पारिस्थितिक-तंत्र से विमुख कर दिया है। उनके लिए रोजगार का मतलब एकमात्र वही कार्य है, जिससे उन्हें नकद आमदनी हो। पुरुषों को महिलाओं की अपेक्षा एक-धान्य कृषि से कम परहेज होता है। भोजन बनाने, घर के प्रबंधन, जलावन की लकड़ी इत्यादि कार्यों के बोझ उसी समुदाय की महिलाओं को एकदम अलग तरीके से सोचने पर विवश कर देते हैं। महिलाओं की रुचि ऐसे पेड़ पौधों में अधिक रहती है जिनसे भोजन और दूसरे उपयोग के दोनों तरह के उत्पाद मिल सकें।

अनुभव से सीखें 1

अपने आस-पास काम कर रहे कुछ देहाती लोगों से बातचीत करें। पर्यावरण के साथ उनके सम्पर्क और निर्भरता के संदर्भ में उनके दैनिक जीवन के बारे में पूछिए।

15.6 ग्रामीण भारत में महिलाएं और पर्यावरण आन्दोलन

समें संदेह नहीं है कि पुरुषों के अधीन होने के कारण महिलाओं पर काम का भारी बोझ है, मगर सने जंगलों और पारिस्थितिकी की रक्षा के लिए होने वाले जन आंदोलनों में उनकी बढ़ती भागीदारी ौर उन्हें उनके समर्थन में कोई कमी नहीं आई है।

र्यावरण और अपनी आजीविका के बचाव के लिए स्वतंत्रताकालीन भारत में महिलाओं ने कई र्यावरण आंदोलनों में सक्रिय भागीदारी की है। जैसे गढ़वाल हिमालय में सत्तर के दशक के दौरान आ चिपको आंदोलन, अस्सी के दशक में कर्नाटक का अप्पीको आंदोलन, अस्सी के दशक-मध्य में ड़ीसा का चिलकिया झील आंदोलन, ये ऐसे कुछ आंदोलन हैं जिनमें महिलाओं ने अपनी छवि को कृतिक आवास के संरक्षकों के रूप में स्थापित किया। वैसे तो देश में कई छोटे-बड़े पर्यावरण दोलन हुए हैं या अब भी चल रहे हैं मगर यहां हम भारत के भौगोलिक रूप से चार विभिन्न प्रदेशों हुए मुख्य आंदोलनों का उल्लेख करेंगे और उनमें महिलाओं की भूमिका व सहभागिता का विश्लेषण

करेंगे। ये आंदोलन व्यावसायिक लकड़ी, बड़े बांधों के निर्माण, खनन, मिलिटरी टेस्टिंग रेंजों इत्यादि के विरोध में किए गए हैं जिनके फलस्वरूप निर्धन लोग विशेषकर महिलाएं सबसे अधिक प्रभावित हुई हैं।

15.6.1 चिपको आंदोलन

स्वतंत्रताकालीन भारत में चिंपको आंदोलन वनों के विनाश और अंधाधुंध व्यावसायिक दोहन के खिलाफ संभवत: सबसे पहला और सबसे सफल आंदोलन रहा है। इस आंदोलन में गढ़वाल की पर्वतीय महिलाओं ने नेतृत्वकारी भूमिका अदा की। बाहर से आए ठेकेदारों ने जंगलों के कटान का सिलसिला कई दशकों से चला रखा था। इसके फलस्वरूप भूस्खलन और बाढ़ की स्थितियां पैदा होने लगी थी। वहीं स्थानीय गांव वासियों को अपने पशुओं के लिए चारा और खाना बनाने के लिए लकड़ी ला पाना जंगलों के लोप के कारण कठिन होता जा रहा था। स्थानीय ग्रामीण किसानों को हल बनाने के लिए तक लकड़ी लेने से रोक लगाने के बाद वन विभाग ने कुछ ठेकेदारों को अंगूर के पेड़ काटने का ठेका दिया तो स्थानीय ग्रामीण महिलाओं के सब्र का बांध टूट गया। सो पर्वतवासियों ने सीधीं कारर्वाई का निश्चय किया। जिस जंगल में कटान होना था, गांव वासी वहीं पंहुच कर वृक्षों से लिपट गए। उन्होंने चिरवानों (लकड़ी काटने वाले मजदूरों) और ठेकेदारों को जंगल से खाली हाथ लौटने के लिए विवश कर दिया। यहीं से चिपको आंदोलन आरंभ हुआ। चिपको का मतलब है वृक्षों का आलिंगन करना। इस आंदोलन की जड़ें प्राचीन भारतीय संस्कृति में हैं जिसमें वृक्ष देवी की पूजा की जाती थी। चिपको आंदोलन की तर्ज पर ही वृक्षों के आलिंगन का ऐसा पहला आंदोलन महिलाओं के नेतृत्व में कोई तीन सौ वर्ष पहले राजस्थान में 1763 में हुआ था। जोधपुर के महाराजा ने वृक्षों को काटने का आदेश दिया तो बिश्नोई सम्प्रदाय की महिलांए ने वृक्षों से लिपट कर अपने प्राण

चिपको आंदोलन – पर्यावरण अनुकूल आवासों के लिए लड़ते हुए
सौजन्य : इंडिया टुडे

न्यौछावर कर दिए। फिर 1970 के दशक में गांधीवादी नेता सुंदरलाल बहुगुणा ने इस आंदोलन को पुनर्जीवित किया उन्होने अपने सहयोगी चंडी प्रसाद भट्ट के साथ मिलकर उत्तरकाशी और गोपेश्वर समेत समूचे गढ़वाल में ठेकेदारों द्वारा वनों के व्यावसायिक दोहन के खिलाफ महिलाओं और पुरुषों को संगठित किया। घनश्याम रतूड़ी जैसे जनकवियों ने भी जनगीत गाकर वनों की रक्षा के लिए जनता का आह्वान किया, उनमें चेतना का संचार किया। चिपको आंदोलन के दौरान उनका एक लोकगीत बड़ा प्रसिद्ध हुआ था, जिसका भाव-रूपांतरण इस प्रकार है:

वृक्षों का अंगीकार करो, इन्हें कटने से बचाओ।

ये हमारी पहाड़ों की संपत्ति हैं, इन्हें लुटने से बचाओ।

चिपको आंदोलन को व्यापक सफलता इसलिए मिली क्योंकि वनों का कटान भोजन, ईंधन लकड़ी और चारे के रूप में वनों के परंपरागत उपयोग के विरुद्ध था। चिपको आंदोलन गढ़वाल हिमालय के विभिन्न भागों जैसे अडवाणी, अमरसर और वडियारगढ़ में फैला। कालांतर में इसने देश के अन्य भागों में भी ऐसे वन आंदोलनों को प्रेरित किया। इस आंदोलन के फलस्वरूप उत्तर प्रदेश सरकार ने राज्य के पर्वतीय भागों में हरे वृक्षों के कटान पर पंद्रह वर्षों तक प्रतिबंध लगाया।

चिपको ने राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर समकालीन पर्यावरण आंदोलन के सामने एक आदर्श तो स्थापित किया ही इसने पर्यावरण आंदोलन में महिलाओं की नेतृत्वकारी भूमिका का आदर्श भी स्थापित किया। प्राकृतिक संसाधन जीवन जितना ही अनमोल हैं इस मूल सचाई को बड़ी सहजता से समझने वाली ये अनपढ़ महिलाए ही थीं। इस आंदोलन ने यह सिद्ध कर दिखाया कि महिलाएं वनों की स्वाभाविक संरक्षक हो सकती हैं। पुरुष सरकारी अधिकारियों को भय या आदरभाव से देखते हैं, लेकिन उनसे सीधा संपर्क नही होने के कारण महिलाएं अपनी अंतरात्मा के अनुसार चलती हैं। वे तो सिर्फ इतना ही जानती हैं कि वृक्षों का कटान गलत और समूचे जनसमुदाय के लिए हानिकारक है।

क्या आप जानते हैं? 2

चिपको आंदोलनकारियों ने रैलियां, जुलूस निकाले, जिला मुख्यालयों में धरना दिया, वन अधिकारियों का घिराव किया, आर्थिक नाकेबंदी, चक्काजाम किया। आंदोलन की सबसे महत्वपूर्ण घटना 1974 में रेणी में घटी थी, जब गौरा देवी के नेतृत्व में 27 ग्रामीण महिलाओं की टोली ने असंख्य पेड़ो को ठेकेदार की कुल्हाड़ी से बचाया। रेणी में महिलाओं का विरोध इमारती लकड़ी के ठेकेदार के खिलाफ था मगर ज्यादातर मामलों में उनका संघर्ष स्वंय अपने लालची पुरुषों से हुआ जिन्हें वनों के विनाश की तनिक भी परवाह नहीं थी भले ही उनकी महिलाओं को लकड़ी और चारे के लिए मीलों पैदल जाना पड़ता था।

चिपको आंदोलन ने दुनिया को यह भी दिखाया कि वनीकरण कार्यक्रमों में सबसे आगे पुरुष नहीं बल्कि महिलाओं को होना चाहिए। चिपको आंदोलन के अनुभव से वृक्षों को लेकर महिलाओं और पुरुषों के हितों के बीच मौजूद तीव्र भेद स्पष्ट हो जाता है। नए वृक्षारोपण कार्यक्रमों के दौरान प्राय: यह देखा जाता है कि इस क्षेत्र के पुरुषों की रुचि फलदार पेडों में अधिक रहती है। मगर महिलाएं ऐसे वृक्ष लगाना पसंद करती हैं जिनसे उन्हें जलाने के लिए लकड़ी और पशुओं के लिए चारा मिल सके। "फलदार पेड़ लगाए जाते हैं तो इससे हमें क्या मिलेगा? मर्द लोग फल बेचकर शराब या तंबाकू ही तो खरीदेंगे ना," एक महिला का कहना था। चिपको आंदोलन के तहत वनीकरण कार्य अधिकांश महिलाएं ही कर रही हैं।

चिपको आंदोलन के बड़े व्यापक निहितार्थ रहे। इसी के चलते पश्चिमी घाट और विंध्य पर्वत क्षेत्रों में वृक्षों का कटान थमा और एक राष्ट्रीय वन नीति बनी जो जनसाधारण की आवश्यकताओं और देश के पारिस्थितिकीय विकास के प्रति अधिक संवेदनशील थी।

15.6.2 अप्पिको आंदोलन

चिपको आंदोलन के एक दशक बाद कर्नाटक के पश्चिमी घाट में भी ऐसा ही एक वन आंदोलन चला जो अप्पिको आंदोलन के नाम से प्रचलित हुआ (कन्नड भाषा में अप्पिको का अर्थ "आलिंगन" में लेना होता है)। उत्तर कन्नड के इस जिले में राज्य वन विभाग विद्यमान अर्ध-सदाबहार वनों को पूरी तरह से साफ करके उनकी जगह सागौन के वन लगा रहा था। वन विभाग का यह कार्यक्रम कई दशकों से चला आ रहा था। चिपको आंदोलन की तरह यहां के ग्रामीणों ने भी वृक्षों से लिपटकर वनों के व्यावसायिक कटान के विरोध में आंदोलन छेड़ दिया। उन्होंने वन देवी की शपथ देकर पेड़ काटने वाले आदिवासी मजदूरों से यह वचन लिया कि वे पेड़ों को नहीं काटेंगे। इस आंदोलन में महिलाओं की भूमिका का विस्तार से अध्ययन किए जाने की जरूरत है।

अनुभव से सीखें 2

ऐसे पुरुषों और महिलाओं की टोली बनाए जिन्हें आपके क्षेत्र में पर्यावरण के प्रति चिन्ता हो। कुछ पेड़-पौधों का रोपण करें और उन्हें मिल-जुलकर बड़ा करें।

15.6.3 नर्मदा आंदोलन

नर्मदा नदी पर बन रहे सरदार सरोवर बांध के विरोध में चल रहा यह आंदोलन स्वतंत्रताकालीन भारत का एक और लोकप्रिय जनांदोलन है। यह आंदोलन बड़े बांधो के विरोध में चलाया जा रहा है, जिनके चलते हजारों गरीब बेघर हो जाते हैं। सरदार सरोवर बांध नर्मदा घाटी विकास परियोजना का हिस्सा है, जिसके तहत अकेले नर्मदा नदी में 30 विशाल और 3000 मध्यम व छोटे बांध बनाए जाने हैं। इस परियोजना का क्षेत्र 125 मील लंबी पट्टी है। इसमें 254 गांव डूबेंगे और 66,000 लोग बेघर हो जाएंगे।

यूं तो 1979 से ही इस बांध परियोजना का छिट-पुट विरोध हो रहा था मगर इसे संगठित आंदोलन का स्वरूप 1986 में जाकर मिला। आज यह लोकप्रिय आंदोलन बन चुका है, जिसने वर्ग और सामजिक-लिंग सोच की दीवारों को तोड़ कर लोगों को एकता के सूत्र में बांधा है। असल में नर्मदा आंदोलन का नेतृत्व महिलाओं के हाथ में ही है। इस आंदोलन की बड़ी विशेषता यही है कि इसका नेतृत्व मेधा पाटकर जैसी महिला कार्यकर्ता कर रही है। इसने आदिवासी महिलाओं को लामबंद करने और अन्य महिला कार्यकर्ताओं के साथ जोड़कर उन्हें एक संगठित शक्ति में परिवर्तित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

मेधा पाटकर के आंदोलन से जुड़ने से पहले रैलियों में जो महिलांए कभी-कभार भाग लेती दिखाई देती थीं वही अब आंदोलन की अग्रिम पंक्ति में हैं। तीन अगस्त 1991 के दिन, पुरुष आंदोलनकारियों के जेल चले जाने और मेधा पाटकर के भूमिगत हो जाने पर महिलाओं ने हर दिन में तीन बार रैलियां निकाली। इन रैलियों में अगर कोई पुलिस वाला आंदोलनकर्ताओं पर लाठी तानता तो महिला पलट कर 'मारो मारो' कहते हुए उस पर टूट पड़ती थीं। इन उदाहरणों से हमें पता चलता है कि महिलाएं के बाहरी विश्व के प्रभाव में न होने के कारण ही उनकी प्रतिक्रिया बड़ी ईमानदार और संगठित होती है। "ज़मीन हमारी मां है, जंगल हमारा बाप है," इस नारे ने नारीत्व की अवधारणा को आंदोलन का अंग बना दिया। इस असाधारण स्त्रीशक्ति का रचनात्मक उपयोग किया गया। व्यापक जन-विरोध के बावजूद सरदार सरोवर परियोजना पर कार्य बदस्तूर जारी है। इस बांध परियोजना से प्रभावित और बेघर हुए लोग न्याय पाने के लिए नए तरीके तलाश रहे हैं। इस आंदोलन से मेधा पाटकर को बड़ी ख्याति मिली और उसे 1991 में अतंरराष्ट्रीय आजीविका अधिकार पुरस्कार (इंटरनेशनल राइट टू लाइवलीहुड) से सम्मानित किया गया, जिसे वैकल्पिक नोबेल पुरस्कार का दर्जा दिया जाता है।

बांकुरा परियोजना : वन-रोपण की ओर एक कदम

15.6.4 गंधमर्दन आंदोलन

इसी तरह पश्चिमी उड़ीसा में 1985 में भारत एलुमिनियम कारपोरेशन लिमिटेड (बाल्को) के बॉक्साइट खनन-कार्यों के विरुद्ध एक बड़ा जनांदोलन हुआ। गंधमर्दन पहाड़ियों में चल रही बाल्को की खनन-परियोजना ने इन पहाड़ियों की तलहटी में बसी जनजातियों और ग्रामीण किसानों की जीवन-निर्वाह व्यवस्था को ही खतरे में डाल दिया जो लकड़ी, फल, भोजन जैसी दैनिक बुनियादी आवश्यकताओं के लिए इन्हीं पहाड़ियों पर आश्रित थे। इन जंगलों से बांस लाकर महिलाएं टोकरियां इत्यादि बुनती थीं और जंगलात विभाग के लिए केन्दू की पत्तिया चुनती थीं। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि गंधमर्दन की ये पहाड़ियां ही इन लोगों के लिए पानी का मुख्य स्रोत थीं। खनन-कार्य इन सब के लिए खतरा बन गया तो इन लोगों में एक मजबूत आंदोलन जन्म लेने लगा।

इस आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी बड़ी महत्वपूर्ण रही, जिसके दौरान इन्होंने, सड़कों पर चक्का जाम करने, रैलियों के आयोजन में बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया। सांस्कृतिक अवरोधों के चलते महिलाएं इस आंदोलन में पुरुषों से काफ़ी देर बाद शामिल हुईं। मगर उनके आगे आते ही आंदोलन ने एक नया मोड़ ले लिया। आंदोलनकारी महिलाएं यह जनगीत गाते हुए धरती से लिपट जाती थीं "माटी देवता आमार धरमा देवता"। इसका भावार्थ यही है: पृथ्वी मां ही हमारी देवी है। आंदोलनकारियों ने बाल्को के वाहनों का रास्ता रोका। घर की तमाम जिम्मेदारियों के बावजूद अनेक महिलाओं ने स्वेच्छा से गिरफ्तारी दी और कई दिन जेल में बिताए। उड़ीसा और देश के विभिन्न भागों की महिला कार्यकर्ता और छात्राएं आंदोलन से जुड़ गईं और उन्होंने स्थानीय महिलाओं और लड़कियों को संगठित किया। इस क्षेत्र की महिलाओं के जुझारूपन ने आंदोलन को और शक्ति प्रदान की। इन महिलाओं और उनके परिवारों की पीड़ा और उनका यह संघर्ष व्यर्थ नहीं गया। आंदोलन के लंबे दौर के बाद आख़िरकार बाल्को को 1989 में अपनी खनन गतिविधियों को रोकना ही पड़ा।

जरा सोचिए 3

1) चिपको आंदोलन में महिलाओं की विशेष भूमिका के बारे में बताइए।

2) महिलाएं अपने पुरुषों की अपेक्षा सरकारी और वन अधिकारियों का सामना बहादुरी से क्यों और कैसे करती हैं? चिपको और नर्मदा आंदोलनों से उदाहरण देकर समझाइए।

15.7 महिला सहभागिता की सीमाएं और समस्याएं

पर्यावरण आंदोलनों को लेकर महिलाओं की प्रतिक्रिया और सहभागिता संबंधी समस्याएं एक नहीं अनेक हैं। सबसे पहले सांस्कृतिक अवरोध हैं, जिनके चलते महिलाएं इन प्रतिरोध आंदोलनों में शामिल होने से कतराती हैं या फिर काफी देर बाद आगे आती हैं। पुरुष प्रधान समाज में महिलाओं की सहभागिता पुरुषों की अनुमति पर निर्भर करती है। फिर महिलाओं को दैनिक घरेलू काम-काज जैसे खाना बनाने, बच्चों की देखभाल, घर की साफ-सफाई इत्यादि के बीच में से ही समय निकालना होता है। तिस पर गरीब महिलाओं को तो घर और बाहर दोनों जगह काम करना पड़ता है। किसी भी आंदोलन या वानिकी कार्यक्रम में उनकी भूमिका को अक्सर सही ढंग से आंका या पहचाना नहीं जाता है। इसका कारण सामाजिक लिंग सोच जनित गहरे पुर्वाग्रह हैं जो हमेशा पुरुषों के पक्ष में जाते हैं। पुरुषों को भूमि पर एकछत्र अधिकार प्राप्त हैं और परिवार में फैसले भी वे ही लेते हैं। सामाजिक चिंतन में इस तरह के पूर्वाग्रहों के चलते भी महिलाओं की भूमिका को कम करके आंका जाता है और उसे कम महत्त्व मिलता है।

वन और जल संरक्षण के जरिए भारतीय ग्रामीण महिलाएं स्वयं के जीवन-निर्वाह तंत्र को बनाए रखने, मृदा उर्वरकता को बहाल करने और पारिस्थितिकीय विविधता के संरक्षण के लिए कार्य कर रही हैं। कई स्थानों पर महिलाएं अपने समुदाय में नेतृत्वकारी भूमिका में है। यद्यपि उन्हें सरकार और अन्य पर्यावरणवादी संगठनों से पर्याप्त सम्मान नहीं मिल रहा है तथापि वे अपने काम में जुटी हुई हैं। अब वनों के पुनर्जीवन में स्थानीय समुदायों को शामिल करने के प्रयास किए जाने लगे हैं। विभिन्न पर्यावरण संबंधी योजनाओं को देखकर यह सिद्ध हो जाता है कि महिलाएं बड़ा परिवर्तन ला सकती हैं बशर्ते निर्णय प्रक्रियाओं में उनकी राय ली जाए।

विकास प्रक्रियाओं में महिलाओं के सशक्तिकरण के क्षेत्र में सकारात्मक परिवर्तन आया है। अस्सी और 90 के दशकों में महिला आंदोलनों ने अनेक मध्यमवर्गीय महिला कार्यकताओं को पर्यावरण आंदोलनों में हिस्सा लेने के लिए प्रेरित किया। इसका परिणाम यह रहा है कि इससे स्थानीय महिलाओं को भी भागीदारी करने की प्रेरणा या उनके संघर्षों को शक्ति मिली है। अन्य क्षेत्रों की भांति पर्यावरण अध्ययन के क्षेत्र में भी नारी अधिकारीवादी परिप्रेक्ष्य उभरा है और महिला विद्वान और अनुसंधानकर्ता अपने कार्यों में अब भारतीय पर्यावरण आंदोलन में महिलाओं की भूमिका को महत्वपूर्ण स्थान देने लगी हैं। मगर अभी तक ऐसे विषयसंबंधी अध्ययन (केस स्टडी) का अभाव बना हुआ है जो समकालीन भारतीय पर्यावरण आंदोलनों में महिलाओं की भागीदारी, दृष्टिकोण, समस्याओं के संबंध में हमें विस्तृत जानकारी दे सकें। महिला और प्रकृति के बीच इस कमी को दूर करने के लिए अनेक विषयसंबंधी अध्ययन (केस स्टडी) की आवश्यकता है।

15.8 सारांश

इस इकाई में हमने जाना कि पर्यावरण संबंधी मुद्दे भारत के लिए अति महत्वपूर्ण हैं। हमने यह भी जाना कि ग्रामीण महिलाओं की प्रतिक्रिया सबसे महत्वपूर्ण रही है और पर्यावरण संबंधी महत्वपूर्ण (वन, आवास, बांध इत्यादि) आंदोलनों का नेतृत्व खुद महिलाओं ने किया है। सबसे बड़ी बात यह है कि

इन आंदोलनों में मुख्य भागीदार भी महिलाएं ही रही हैं। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि महिलाएं महत्वपूर्ण क्षेत्रों में नेतृत्व करने की क्षमता रखती हैं और उन्होंने भारत में पर्यावरण के संरक्षण की दिशा में सार्थक योगदान किया है।

इस इकाई में हमने अपनी चर्चा जनसाधारण के लिए पारिस्थितिकी की प्रासंगिकता से आंरभ की थी, जिसके बाद हम ग्रामीण और आदिवासी महिलाओं के दैनिक जीवन में उसकी विशेष प्रांसगिकता पर आए। हमने विभिन्न उदाहरण देकर अपने पर्यावरण के प्रति महिलाओं और पुरुषों के दृष्टिकोण, व्यवहार, रुचि और भूमिका के बीच मौजूद भेदों के बारे में भी बताया। सामाजिक-लिंग सोच की भूमिका का भी विशेष उल्लेख किया गया। तत्पश्चात हमने भारत के तीन विख्यात पर्यावरण आंदोलनों मसलन चिपको, नर्मदा और गंधमर्दन आंदोलनों में महिलाओं की भूमिका के बारे में विस्तार से जानकारी दी। अंत में हमने महिला सहभागिता की कुछ सीमाओं के बारे में बताया और महिलाओं के परिप्रेक्ष्य को और अच्छी तरह से समझने के लिए अधिकाधिक विषयसंबंधी अध्ययन (केस स्टडी) किए जाने की आवश्यकता पर बल दिया।

15.9 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

सामाजिक पारिस्थितिकी : यह गहन पारिस्थितिकी से भिन्न है। यह पारिस्थितिकी को सामाजिक संबंधों, क्रमपरंपरा इत्यादि के साथ जोड़कर चलती है।

पर्यावरण-नारीअधिकारवाद (इको-फैमिनिज्म) : यह नारीअधिकारवाद को पारिस्थितिकी से जोड़कर देखता है। इसके अनुसार पुरुषों की तुलना में महिलाओं का प्रकृति के साथ एक भिन्न और विशेष संबंध होता है।

15.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गुहा, रामचंद्र (संपा.) (1994) *सोशल इकॉलॉजी.* दिल्ली : आक्सफोर्ड यूनि. प्रेस.

शिवा, वंदना (1988) *स्टेइंग एलाइव: इकॉलॉजी एंड डेवेलपमेंट.* लंदन : जेन बुक्स.

इकाई 16 महिलाएं और सहकारिता

रूपरेखा

16.0 लक्ष्य और उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 सहकारिता क्या है?

- 16.2.1 सहकार के सिद्धांत
- 16.2.2 सहकारिताओं के सामाजिक उद्देश्य

16.3 महिला सहकारिता: 'सेवा'

- 16.3.1 कुछ विषयसंबंधी अध्ययन
- 16.3.2 पैबंदकारों की सहकारिता
- 16.3.3 कबाड़ियों की सहकारिता
- 16.3.4 स्वास्थ्य सेवा संबंधी सहकारिता

16.4 सहकारिताएं और सशक्तिकरण

16.5 महिलाएं और कार्यसंबंधी वातावरण

- 16.5.1 महिलाओं के कार्य को मान्यता
- 16.5.2 "ट्रिकिल डाउन" का तर्क

16.6 सामाजिक-लिंग सोच जनित पूर्वाग्रह

- 16.6.1 शहरी अनौपचारिक क्षेत्र
- 16.6.2 सामाजिक और रोज़गार की सुरक्षा
- 16.6.3 परिवार की मुखिया के रूप में महिलाएं
- 16.6.4 अनुसूचित जाति और जनजाति
- 16.6.5 महिलाओं पर पलायन का प्रभाव

16.7 सारांश

16.8 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

16.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

16.0 लक्ष्य और उद्देश्य

इस इकाई में महिलाओं और सहकारिता आंदोलन के बारे में बताया गया है। इसमें गरीब तबकों की महिलाओं की आर्थिक और सामाजिक स्थिति के बारे में भी जानकारी दी गई है। ऐसा करते हुए हमने:

- महिलाओं और सहकारिता आंदोलन पर रोशनी डाली है;
- 'सेवा' के रूप में सहकारिता आंदोलन का एक उदाहरण पेश किया है,
- सहकारिताओं के उद्देश्यों से आपको परिचित किया है,
- सहकारिताओं के सामने आने वाली समस्याओं के बारे में बताया है,

- महिलाओं पर सहकारिता के सामाजिक और आर्थिक प्रभावों पर रोशनी डाली है; और
- भारत में गरीब महिलाओं की समस्याओं के बारे में आपको जानकारी दी है।

इस इकाई का प्रयोजन यह बताना है कि सहकारिताएं निर्धन और सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित महिलाओं के सशक्तिकरण का एक महत्वपूर्ण माध्यम बन सकती हैं। यहां हमने यह भी बताया है कि कठोर आर्थिक स्थिति में जी रही निर्धन महिलाएं सहकारिता आंदोलन चलाने का प्रयास तभी कर सकती हैं कि जब उनके सूचना और ज्ञान का आधार समुचित तरीके से बढ़ जाए।

16.1 प्रस्तावना

सहकारिता और सहकारिता आंदोलन की अवधारणा महत्वपूर्ण है क्योंकि यह उन महिलाओं के लिए एक मुख्य आर्थिक जरिया है जिनके पास पर्याप्त संसाधन नहीं हैं। एक सामूहिक उद्यम के तहत वे ऋण प्राप्त कर सकती हैं और अन्य निर्धन औरतों के लिए सहायता जुटा सकती हैं। इस प्रकार अपने आर्थिक क्रिया कलापों से वे बेहतरीन परिणाम प्राप्त करने का प्रयास कर सकती हैं।

इस इकाई में हम अपनी चर्चा का आरंभ इस प्रश्न से कर रहे हैं कि सहकारिताएं क्या हैं और उनकी रचना किस तरह से होती है?

इसके बाद हमने यह समझने का प्रयास किया है कि सहकार के बुनियादी सिद्धांत क्या हैं। हमने सहकार के सामाजिक उद्देश्यों पर रोशनी डाली है। इसके बाद हमने 'सेवा' का अध्ययन किया है जो एक महिला सहकारिता है, जिसके साथ हमने पैबंदकारों की सहकारिता, सौंदर्य और तृप्ति नाश्ता सहकारिता का व्यक्ति निष्ठ अध्ययन (केस स्टडी) प्रस्तुत किया है। फिर हमने सहकारिता और सशक्तिकरण के मुद्दों पर चर्चा की है।

हमारी चर्चा इसके बाद स्वरोजगाररत महिलाओं पर गठित राष्ट्रीय आयोग की रिपोर्ट पर आती है। आयोग कहता है कि गरीब महिलाओं को आर्थिक अवसर दिए जाने की जरूरत है। मगर उनके लिए अवसरों, दक्षताओं, शिक्षा, गतिशीलता का अभाव है और उन्हें बेहतर प्रौद्योगिकी सुलभ नहीं है। आयोग यह भी कहता है कि वंचना और शोषण गरीब महिलाओं का भाग्य बन गए हैं और गरीबी-उन्मूलन कार्यक्रम उन तक नहीं पहुंच पाए हैं या उनका लाभ उन तक नहीं पहुंच सका है।

16.2 सहकारिताएं क्या हैं?

सहकारिताएं ऐसी संस्थाएं हैं जिनका उद्देश्य विभिन्न तबकों में स्व-प्रबंधन को प्रोत्साहित करना होता है। विश्व की सबसे पहली सहकारिता (को-ओपरेटिव सोसायटी) 1844 में इंग्लैंड के टोडहॉल नामक नगर में आरंभ हुई थी। यह एक उपभोक्ता स्टोर थी, जिसमें भोजन और कपड़े जैसी आवश्यक वस्तुएं उचित दर पर बेची जाती थीं। इस कोआपरेटिव स्टोर को बुनकरों के एक छोटे से दल ने शुरू किया था। उन्होंने अपनी इस सहकारिता का नाम रखा रॉशडेल। आगे चलकर यह दल रॉशडेल पायोनियर्स के नाम से जाना गया क्योंकि सहकारिता आंदोलन का सूत्रपात इसी ने किया था। यह स्टोर मुख्यत: कस्बे के गरीब लोगों को उचित दरों पर आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध कराने के लिए खोला गया था। इस स्टोर के संयुक्त स्वामी इसके वे सदस्य थे जिन्होंने इस उद्यम को शुरू करने के लिए धन दिया था। इस योगदान के लिए उन्हें शेयर दिए गए। स्टोर का प्रबंध मंडल सदस्यों ने चुना। सारे निर्णय सामूहिक रूप से मतदान के जरिए किए जाते थे। इस सहकारिता के संचालन के लिए तय किए बुनियादी सिद्धांत इस प्रकार थे :

i) हर सदस्य को सिर्फ एक वोट, न कि हर शेयर के लिए वोट। इस तरह हर सदस्य को सिर्फ एक वोट का अधिकार था चाहे उसके शेयरों की संख्या कुछ भी हो।

ii) सामान की बिक्री बाजार भाव पर, उससे अधिक दाम पर नहीं।

iii) प्रत्येक सदस्य के शेयरों के आधार पर शेयरधारकों में लाभ का बंटवारा।

iv) शेयर धारकों को भुगतान किए जाने वाले लाभांश पर एक सीमा। सहकारिता का मानना था कि अगर लाभ अधिक भी हो तो भी लाभांश उतना ही ज्यादा नहीं दिया जाना चाहिए। इसका पहला कारण यह था कि एक कोओपरेटिव के शेयरधारकों ने उसके शेयर सहकारिता की वित्तीय सहायता के लिए खरीदे थे, यह सिर्फ पूंजी का निवेश नहीं था जैसा कि अन्य कंपनियों में किया जाता है। दूसरा कारण यह था कि जो अतिरिक्त लाभ लाभांश के रूप में बांटा नहीं गया था उसे वापस को-ओपरेटिव में लगाया जा सकता था ताकि वह अपने आर्थिक क्रिया-कलापों को बढ़ा सके।

16.2.1 सहकार के सिद्धांत

कालांतर में उपरोक्त चारों सिद्धांत सारे विश्व में सहकारिता आंदोलन का आधार बन गए। फिर 1966 में अंतरराष्ट्रीय सहकारिता गठबंधन (इंटरनेशनल को-ओपरेटिव एलाइन्स) ने सहकार के छः बुनियादी सिद्धांत निश्चित किए, जो असल में रॉशडेल पायोनियर्स के चार मूल सिद्धांतों का विस्तार ही थे। ये इस प्रकार हैं:

i) किसी भी सहकारिता की सदस्यता स्वैच्छिक हो, या बलात् नहीं।

ii) सहकारिता या कोओपरेटिव का प्रशासन लोकतांत्रिक होना चाहिए। जो इसके अधिकारी होंगे उनका चुनाव किया जाएगा और उन्हें किसी के द्वारा चयन या मनोनीत नहीं किया जाएगा। कोओपरेटिव द्वारा लिए जाने वाले निर्णय सभी सदस्यों की आम सहमति या मतदान के जरिए तय किए जाएंगे।

iii) प्रत्येक सदस्य को एक मत का अधिकार रहेगा।

iv) शेयर पूंजी पर सीमित ब्याज। यह रॉशडेल पायोनियर्स द्वारा प्रस्तावित शेयर पूंजी पर सीमित लाभांश के सिद्धांत के समान है।

v) अतिरिक्त लाभ का साम्यिक वितरण। इसका यह मतलब है कि लाभ का वितरण प्रत्येक सदस्य के शेयरों की संख्या के अनुसार किया जाएगा न कि समान दर पर सभी को समान रूप से लाभ बांटा जाएगा।

vi) सदस्यों में सहकारिता शिक्षा का प्रसार। यह सदस्यों को सहकार के सिद्धांतों और उनके अधिकारों व दायित्वों का एहसास कराएगा।

जरा सोचिए 1

आपके विचार में सहकारिताएं और सहकार के सिद्धांत क्या सफल हैं? अपने विचारों को कागज पर नोट कर लीजिए और फिर 'सहकार के सिद्धांतों' को दुबारा पढ़िए। क्या आप इसमें कुछ नया जोड़ सकते हैं?

सहकारिताओं के बीच परस्पर सहयोग का एक और सिद्धांत भी चलाया गया। क्योंकि ऐसा महसूस किया गया कि सहकारिताएं एक-दूसरे की सहायता नहीं करेंगी तो एक स्पर्धापूर्ण वातावरण में अपना अस्तित्व बनाए रखना उन्हें दुष्कर हो जाएगा। उपरोक्त चर्चा से हमारे सामने यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सहकारिताएं दूसरे किस्म के व्यापारिक संगठनों से बिल्कुल भिन्न हैं। दो मुख्य भेदों में पहला तो यह है कि ये सिर्फ लाभ कमाने के लिए ही नहीं होतीं बल्कि इनकी सामाजिक जिम्मेदारियां भी हैं। दूसरा अंतर यह है कि निजी या सरकारी स्वामित्व वाले उद्यमों के विपरीत सहकारिताएं अपने प्रबंधन में लोकतांत्रिक सिद्धांतों को महत्वपूर्ण स्थान देती हैं।

16.2.2 सहकारिता के सामाजिक उद्देश्य

मगर वहीं सहकारिता सिर्फ अपने सदस्यों के हितों की पूर्ति के लिए ही नहीं होती। अंतरराष्ट्रीय सहकारिता गठबंधन के द्वारा सहकार के सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए गठित सहकारिता सिद्धांत आयोग (कमीशन ऑन कोओपरेटिव प्रिंसिपल्स) ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि, "सहकार का लक्ष्य सदस्यों के निजी हितों के बढ़ावे से आगे की चीज है... बल्कि इसका उद्देश्य मानवता की उन्नति और कल्याण के लिए काम करना है। यही लक्ष्य कोओपरेटिव सोसायटी को साधारण आर्थिक उद्यम से अलग करता है और यही लक्ष्य इसे इसके आर्थिक लाभ ही नहीं बल्कि इसके नैतिक और सामाजिक मूल्यों की कसौटी पर भी परखता है जो मानव जीवन को भौतिक और पशु के स्तर से ऊपर उठाते हैं।" इस कथन से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि सहकारिताओं की सामाजिक के साथ-साथ आर्थिक भूमिका भी है। यही विशेषता उन्हें अन्य आर्थिक संगठनों से अलग करती है। एक सहकारिता की सामाजिक भूमिका दो स्तरों पर कार्य करती है। पहला, जैसा कि उपरोक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है, सहकारिताएं समाज के लिए प्रतिबद्ध होती हैं। दूसरा, सहकारिता अपने सदस्यों में सहभागिता की भावना पैदा करती है, जिससे उन्हें यह एहसास होता है कि अपने मामलात वे खुद संभाल सकते हैं। यह दूसरा पहलू सहकारिताओं के लोकतंत्रीकरण से जुड़ा है। इसे हम यहां समझाएंगे।

एक सहकारिता को निजी उद्यम से उसके हर एक सदस्य को एक वोट के सिद्धांत से अलग किया जा सकता है। इसका अर्थ हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। इसमें यही सुनिश्चित करने का प्रयास किया जाता है कि संगठन का नियंत्रण उसके चंद सदस्यों के हाथों में सिमट कर नहीं रह जाए, जिन्होंने किसी तरह से उसके ढेर सारे शेयर जुटा लिए हों। इस प्रकार इसमें सभी सदस्यों की हैसियत सिद्धांततः बराबर होती है क्योंकि इसकी निर्णय-प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार सभी को बराबर रहता है। सहकारिता सिद्धांत आयोग का भी कहना था कि साधारण सदस्यों के विकास के लिए सहकारिता में लोकतंत्र बेहद महत्वपूर्ण है। सहकारिता आंदोलन की यह महत्वपूर्ण सामाजिक प्रतिबद्धता है। आयोग ने कहा था कि, सहकारिता का ध्येय "आधुनिक आर्थिक जीवन की क्रिया-प्रणालियों को साधारण लोगों के प्रभावी नियंत्रण में रखना है... इसे व्यक्ति को (जिसे अक्सर उस मशीन में एक पुर्जे की भूमिका तक सीमित रखा जाता है) अभिव्यक्ति का अवसर, अपनी सहकारिता के मामलों में बोलने का अधिकार और स्वयं निर्णय करने का अवसर देना चाहिए।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अगर सहकारिता सफलतापूर्वक चल सकें तो वे निश्चय ही अपने सदस्यों के आत्म-विश्वास को बढ़ाएंगी क्योंकि ये उन्हें यह एहसास करा सकेंगी कि वे बेबस और पराश्रित नहीं हैं बल्कि वे भी उत्पादन और प्रबंधन की जटिल समस्याओं को सुलझाने में सक्षम हैं। इकाई में आगे हम अब आर्थिक और सामाजिक रूप से उपेक्षित महिलाओं द्वारा चलाई जा रही सहाकारिताओं के कुछ उदाहरण देकर यह जानने का प्रयास करेंगे कि सहकारिताएं किस हद तक उनके सशक्तिकरण में सहायक हो सकती हैं।

16.3 महिला सहकारिता: 'सेवा'

इस भाग में हम जिन सहकारिताओं का अध्ययन करेंगे उन्हें अहमदाबाद, गुजरात, स्थित सेल्फ एम्प्लाइड वीमेन्स एसोसिएशन ('सेवा'—यानी स्वरोजगार रत महिला संगठन) ने आरंभ किया था। 'सेवा' महिला कामगारों की ट्रेड यूनियन है। इसके सदस्य समाज के सबसे गरीब तबकों की महिलाएं हैं। शहरी क्षेत्रों में ये महिलाएं सड़कों, गलियों-कूचों से रद्दी कागज इकट्ठा करती हैं, फुटपाथों पर छोटा-मोटा खुदरा सामान बेचने का धंधा करती हैं, कपड़े सिलती हैं, साफ-सफाई का काम करती हैं, या बीड़ी बनाती हैं, ग्रामीण क्षेत्रों में ये महिलाएं खेतिहर मजदूरों या सीमांत कृषकों के रूप में काम करती हैं। इस प्रकार 'सेवा' की सभी सदस्य महिलाएं असंगठित या अनौपचारिक क्षेत्र में कार्यरत हैं। वस्तुतः यह देश की एकमात्र बड़ी ट्रेड यूनियन है जो शुद्धतः अनौपचारिक क्षेत्र में महिलाओं के

उत्थान के लिए काम कर रही है। इस समय 'सेवा' की सदस्य संख्या दो लाख से ऊपर है और इस तरह यह गुजरात की सबसे बड़ी ट्रेड यूनियन है।

स्वरोजगार के माध्यम से आजीविका

सौजन्य : देवल के. सिंहराय, इग्नू, नई दिल्ली

अपनी ट्रेड यूनियन संबंधी गतिविधियों के दौरान 'सेवा' के नेतृत्व ने महसूस किया कि उसकी महिला सदस्यों की समस्याएं यूनियनीकरण मात्र से ही नहीं सुलझेंगी। ट्रेड यूनियनों का सबसे बड़ा सकारात्मक पहलू यह है कि ये श्रमिकों, कामगारों को संगठित करती हैं ताकि वे अपने अधिकारों के लिए लड़ सकें। मगर वहीं यह भी उतना ही सच है कि एकता और जुझारुपन मात्र से ही इन कामगारों को बहुत कुछ हासिल नहीं हो सकता। इनकी सबसे बड़ी कमजोरी इनकी गरीबी है जिसके कारण ये लंबे समय तक चलने वाले संघर्षों को झेल नहीं सकते हैं। इसलिए ट्रेड यूनियन गतिविधियों के अलावा भी सामूहिक काररवाई के अन्य साधन तलाशे जाने उतने ही आवश्यक हैं। 'सेवा' के नेतृत्व ने पाया कि सहकारिताएं या कोओपरेटिव एक ऐसा साधन बन सकती हैं, जो ट्रेड यूनियन आंदोलन को शक्तिशाली बनाने के साथ-साथ महिलाओं को आत्म-निर्भर भी बनाएंगी। सो 'सेवा' ने अपने सदस्यों के बीच सहकारिताओं को बढावा देना आंरभ किया। ये सहकारिताएं नाना प्रकार की सेवाओं से जुड़ी हैं, जिनमें बीड़ी बनाने वाले मजदूरों, बांस के उत्पाद बनाने वाले कारीगरों, पैबंदकारों और ब्लॉक छपाई की कारीगरों की औद्योगिक सहकारिताएं, सब्जी, मिट्टी का तेल जैसा खुदरा सामान बेचने वाली महिलाओं, रद्दी उठाने वाली महिलाओं, साफ-सफाई का काम करने वाली महिलाओं, स्वास्थ्य और बाल सेवा में कार्यरत कामगारों की सेवा सहकारिताएं और ग्रामीण क्षेत्रों में नमक निर्माताओं और वृक्ष उत्पादकों की सहकारिताएं और दुग्ध सहकारिताएं शामिल हैं। इनके अलावा महिलाओं का एक सहकारिता बैंक भी है जिसे 1974 में सेवा बैंक के नाम से शहरी और देहात

की गरीब महिलाओं को ऋण देने और उनकी बचत को जमा करने के लिए खोला गया था। वर्ष 1996 तक 'सेवा' 571 सहकारिताएं बना चुकी थी।

16.3.1 कुछ विषयसंबंधी अध्ययन

इकाई के इस भाग में हम अहमदाबाद नगर में 'सेवा' द्वारा शुरू की गई कुछ सहकारिताओं के बारे में बताएंगे। इनमें रद्दी कपड़े से चादरें, रजाइयां-गद्दे इत्यादि बनाने के काम में लगी महिलाओं की एक सहकारिता और रद्दी, कूड़ा-करकट बीनने के काम में लगी महिलाओं द्वारा आरंभ की गई दो सहकारिताएं शामिल हैं। ये सभी महिलाएं शहरी निर्धनों में सबसे निर्धन तबकों की हैं। इनका अस्तित्व-दूसरे लोगों द्वारा कूड़े के रूप में फेंके गए कपड़े या कागज को चुनने पर टिका है। 'सेवा' ने इन महिलाओं को संगठित कर इनकी ट्रेड यूनियनें बनाई ताकि उनके जीवन-यापन के अधिकार की रक्षा की जा सके। निर्धन और असहाय होने के कारण इन महिलाओं को पुलिस, नागरिक अधिकारियों और दलालों (व्यापारियों) के उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता था। 'सेवा' का उद्देश्य इन महिलाओं को संगठित करना था ताकि वे अपनी समस्याओं का समाधान या जीवन-यापन के वैकल्पिक साधन सामूहिक रूप से तलाशें।

16.3.2 पैबंदकारों की सहकारिता

कई गरीब महिलाएं, विशेषकर मुस्लिम सम्प्रदाय की महिलाएं बेकार फेंके हुए कपड़े के टुकड़ों को सिलकर बिस्तर की चादरें, गद्दे-रजाइयां या इसी तरह का सामान बनाती थीं और इस तरह अपने परिवार की तुच्छ आमदनी को बढ़ाने के जतन में लगी थीं। ये महिलाएं ज्यादातर घर से ही अपने कामधंधे चला रही थीं। बाहरी लोगों से उनका कोई सम्पर्क, परस्पर-व्यवहार नहीं था। इसलिए उनके पास अपने माल को बेचने का एकमात्र जरिया दलाल थे, जो उन्हें कुछ नकदी अग्रिम में देकर उनसे माल लेकर उसे व्यापारियों को बेच रहे थे। यह कहने की जरूरत नहीं कि ये दलाल इन महिला कारीगरों का शोषण कर रहे थे क्योंकि ये उन्हें बहुत कम मेहनताना दे रहे थे। मगर इन असहाय महिलाओं के पास अपने माल को इन दलालों के हाथों बेचने के सिवाय कोई और चारा भी नहीं था क्योंकि वे कच्चा माल खरीदने या निर्मित माल को स्वयं बेचने में असमर्थ थीं।

'सेवा' के कार्यकर्ताओं ने अपना काम इन्हीं महिलाओं से शुरू किया। उन्होंने इन महिला कारीगरों को संगठित करने का प्रयास किया ताकि वे अपनी समस्याओं को मिल-जुलकर सुलझा सकें। उनकी पहली समस्या बेकार कपड़े की सुलभता थी, दूसरी समस्या अपने माल को लाभकारी मूल्य पर बेचने की थी। तीसरी समस्या यह थी कि मांग के स्वरूप में आने वाले परिवर्तनों की उन्हें कोई समझ नहीं थी। उनकी एक आम समस्या ऋण प्राप्त करने की थी क्योंकि कोई भी वित्तीय संस्था उन्हें ऋण देने को राजी नहीं थी। इसके लिए उन्हें दलालों या सूदखोरों पर निर्भर रहना पड़ता था जो उन्हें हमेशा कर्ज में दबाए रखते थे।

'सेवा' ने महसूस किया कि इन महिलाओं को सामूहिक इकाई के रूप में संगठित करना ही पर्याप्त नहीं होगा। दलालों के कुछ गलत प्रचलनों के खिलाफ लड़ने में यूनियन उनकी मदद कर सकती थी या उन्हें बेकार कपड़ा बेहतर मूल्य पर दिला सकती थी। ये उपाय उनकी समस्याओं को कुछ हद तक कम तो कर सकते थे मगर उनका स्थायी समाधान नहीं कर सकते थे। इसलिए इन परिस्थितियों में सबसे उत्तम उपाय यही था कि इनकी एक सहकारिता बनाई जाए जो उनके कार्य की मौजूदा पद्धति का एक बेहतर विकल्प उन्हें दे सके। इस तरह कुछ महिलाओं को जुटाकर सबीना महिला सेवा चिंदी उत्पादक सहकारिता बनाई गई। वर्ष 1996 तक 270 महिलाएं इसकी सदस्य बन चुकी थी, जो कपड़ा मिलों से त्यागे जाने वाले रद्दी कपड़े को सिलकर अपनी आजीविका चलाती थीं।

क्या आप जानते हैं 1

सहकारिता बना लेने के बाद यूनियन ने कपड़ा मिल मालिकों से बातचीत कर उन्हें रद्दी कपड़े की थोक में आपूर्ति देने के लिए मना लिया। इससे कच्चे माल की कीमत कम हो गई, यूनियन के जरिए कपड़े की एक केन्द्रीकृत आपूर्ति व्यवस्था स्थापित हो गई और सहकारिता ने महिलाओं को एक जुट होकर एक समूह के रूप में काम करने का अवसर दिया जो कि अभी तक अपने घरों में अलग-अलग काम कर रही थीं। विपणन की समस्याएं भी सुलझा ली गईं क्योंकि सहकारिता ने उनके उत्पादों को सीधे बेचने या रेडी-मेड कपड़े के फुटकर विक्रेताओं के जरिए बेचने का प्रबंध किया जो 'सेवा' के सदस्य थे।

इस सहकारिता ने बाजार की समस्याओं को समझने में उनकी सहयता की है, जिससे जरूरत पड़ने पर वे अपने उत्पादों के दायरे को बढ़ा सकती हैं। पैबंदकारी के सामान को हमेशा समान बाजार नहीं मिल पाता है। इसलिए सहकारिता के कुछ सदस्य महिलाओं ने रेडीमेड-वस्त्र सिलने का काम आरंभ कर दिया है, जिससे उन्हें आमदनी का वैकल्पिक स्रोत मिल गया है। एक और बड़ी समस्या, जिसे सहकारिता की सदस्यों ने आसान करने में सफलता पाई है, वह है ऋण की समस्या। 'सेवा' बैंक से सहकारिता को कर्ज मिलने लगा है। महिलाओं को आपस में बचत समूह बनाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। ताकि वे स्वयं आपस में मिल कर कुछ पूंजी जुटा सकें या सेवा बैंक से कर्ज ले सकें। सेवा के प्रोत्साहन से बने एक बचत मंडल में 10 से लेकर 20 सदस्य होते हैं। बचत मंडल एक नेता या आगमन चुनता है, जिसका उत्तरदायित्व प्रत्येक सदस्य से बचत एकत्र कर उसे सेवा बैंक में जमा करना है। सदस्यों की आर्थिक स्थिति के अनुसार मासिक बचत अलग-अलग होती है, मगर यह 10 रुपये प्रतिमाह से कम कभी नहीं रहती। बचत को सेवा बैंक में प्रत्येक सदस्य के नाम चढ़ा दिया जाता है। मगर इसमें बचत मंडल की जिम्मेदारी भी होती है। इस बचत के आधार पर सदस्य बैंक से कर्ज ले सकते हैं। यह बचत मंडल असल में सिक्योरिटी या जमानत के रूप में काम करता है और इसकी जिम्मेदारी उन सदस्यों से ऋण वसूलना है जिन्होंने बैंक से ऋण लिया हो। इस तरह से उचित ब्याज पर ऋण पाने जैसी बड़ी समस्या हल हो जाती है। ये महिलाएं अपने बूते किसी भी वित्तीय संस्था से ऋण कभी नहीं पा सकती थीं। चूंकि किसी भी सदस्या को कर्ज बचत मंडल की कुल बचत को ध्यान में रखकर दिया जाता है। इसलिए अगर वे अलग-अलग कर्ज लें तो उन्हें अपनी निजी बचत से कहीं ज्यादा कर्ज मिल जाता है।

16.3.3 कबाड़ियों की सहकारिता

'सेवा' एक और रोचक प्रयोग कर रही हैं, जो रद्दी बटोरने वाली महिलाओं से जुड़ा है। इन महिलाओं को हर रोज रद्दी जुटानी होती है। इनके और इनके परिवार के लिए आजीविका या रोजी रोटी का एकमात्र साधन सड़कों, गलियों-कूचों से रद्दी इकट्ठा करना है जिसे वे रद्दी और कबाड़ के व्यापारियों को सस्ते दाम में बेचते हैं। उनकी आमदनी कम होती है। सरकारी अधिकारी और कर्मचारी उन्हें तंग करते हैं क्योंकि उन्हें लोक कंटक माना जाता है, हालांकि वे सड़कों से कूड़ा-करकट उठाकर सरकारी कार्य को ही अंजाम दे रही होती हैं। 'सेवा' ने इन महिलाओं को यूनियन में संगठित करने का बीड़ा उठाया ताकि उन्हें इस तरह के उत्पीड़न से बचाया जा सके। सेवा ने धन जुटाकर उन्हें रद्दी उठाने के लिए थैले और एप्रन व दस्ताने सुलभ कराए। इन उपकरणों पर सेज का चिन्ह बना हुआ था, जो एक तरह से इस यूनियन की सदस्यों की पहचान बन गया। अगला कदम इन सदस्यों के लिए वैकल्पिक रोजगार या नियमित आमदनी का साधन तलाशना था। सो इस प्रक्रिया के फलस्वरूप सहकारिताओं की स्थापना की गई। इस समय इनकी दो सहकारिताएं हैं: सौंदर्य सेवा महिला कोओपरेटिव और तृप्ति नाश्ता सेवा महिला कोओपरेटिव।

सौंदर्य सहकारिता में लगभग 500 सदस्य हैं, जो साफ-सफाई और रद्दी कागज के रिसाइक्लिंग के कार्य में लगे हैं। यह सहकारिता कार्यालय और सरकारी भवनों की साफ-सफाई का ठेका लेती है। इसके

लगभग 150 सदस्य इन कार्यों में लगी हैं, जिन्हें इससे नियमित आमदनी होती है। यह कार्य सड़कों से रद्दी बटोरने के काम से अधिक सम्मानजनक भी है।

यह सहकारिता सरकारी, नगरपालिका और अन्य कार्यालयों से भी रद्दी कागज एकत्र करती है। यहां भी सहकारिता रद्दी उठाने का इन कार्यालयों से ठेका लेती है। सहकारिता के शेष सदस्य इसी काम में लगी हैं। रद्दी कागज अगर बड़ी थोक में बेचा जाए तो उसके अच्छे दाम मिलते हैं। रद्दी उठाने वाले अलग-अलग थोड़ी मात्रा में ही रद्दी जमा कर पाते हैं। फिर रद्दी कागज के दाम सीजन के अनुसार बदलते रहते हैं। अगर इसे सीजन आने तक गोदाम में रख दिया जाए, तो इसका दाम निश्चित ही अधिक मिलेगा। इसी विचार से सहकारिता ने रोजाना अपने सदस्यों द्वारा जमा की जाने वाली रद्दी को रखने के लिए एक गोदाम खोला है। यह उन रद्दी उठाने वाली महिलाओं के माल को भी गोदाम में रखने देता है जो सेवा की सदस्य नहीं हैं। इस सारी रद्दी को बाद में सार्वजनिक नीलामी से बेचा जाता है, जिससे इन लोगों को उससे तीन गुना ज्यादा दाम मिल जाता है जो इन्हें कबाड़ के व्यापारी देते थे।

तृप्ति नाश्ता सहकारिता भोजन सामग्री की आपूर्ति के कार्य में लगी है। इस सहकारिता में 150 सदस्य महिलाएं हैं जो पहले रद्दी उठाने का काम करती थीं। यह सहकारिता विवाह, पार्टी इत्यादि समारोहों के लिए भोजन बनाने या सप्लाई करने का ठेका लेती है। यह अहमदाबाद के नगरपालिका कार्यालय में एक कैन्टीन, और अन्य दफ्तरों में ऐसे स्टाल चला रही है। इसके अलावा यह समेकित बाल विकास परियोजना के अंतर्गत स्कूली बच्चों को गर्म नाश्ते की आपूर्ति भी करती है। सहकारिता ने अपने सदस्यों को पाक-शास्त्र के विभिन्न पहलुओं में निपुण बनाने के लिए अल्प-कालिक पाठ्यक्रम आयोजित किए हैं, जिनमें उन्हें कैटरिंग (जैसे, भोजन की सजावट जिसे डिसप्ले कहा जाता है, खाना परोसना इत्यादि), खाना पकाने और पोषण विज्ञान संबंधी प्रशिक्षण दिया जाता है।

16.3.4 स्वास्थ्य सेवा संबंधी सहकारिता

उपरोक्त सहकारिताओं ने महिलाओं को संगठित कर अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने में सहायता की है, इन सहकारिताओं ने उनके लिए नियमित काम जुटाया है और उनकी आमदनी को बढ़ाया है। असंगठित क्षेत्र में कार्यरत महिला श्रमिकों को दूसरी किस्म की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इन समस्याओं को यूनियन बनाकर और आयवर्धनकारी सहकारिताओं के माध्यम से ही दूर नहीं किया जा सकता है। 'सेवा' को इन समस्याओं का एहसास अपना कार्य आरंभ करते ही हो गया था। यूनियन ने पाया कि इन महिलाओं को स्वास्थ्य और अपने बच्चों की देखभाल संबंधी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उनकी खराब-सेहत उनके परिवार की आमदनी में रुकावट डालती है। इन महिलाओं के लिए अपना शरीर ही अपनी आजीविका का एकमात्र साधन है। बीमारी से अगर उनका शरीर काम करना बंद कर दे तो उनकी आजीविका भी ठप्प हो जाती है।

इस तथ्य के मद्देनजर 'सेवा' ने अपने सदस्यों के लिए स्वास्थ्य चेतना कार्यक्रम आरंभ करने का निश्चय किया। उसने इन महिलाओं के लिए कार्यशालाएं आयोजित कीं, जिनमें उन्हें स्वास्थ्य और अपने शरीर की देख-भाल के बारे में सिखाया गया। इसके बाद 'सेवा' ने इन्हीं महिलाओं में से स्वयंसेवियों को प्रशिक्षित करने की योजना चलाई, जो स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं का काम कर सकें। इन महिला स्वयंसेवियों को बुनियादी उपचार सेवा प्रदान करने और दवाओं के बारे में प्रशिक्षित करने के अलावा उन्हें माताओं को बच्चों की देखभाल और पोषण के बारे में शिक्षित करना भी सिखाया गया। दवाइयों के लिए रोगी सदस्यों से 3 रुपये से 5 रुपये की फीस ली जाती है। इन स्वास्थ्य स्वयंसेवियों ने आगे चलकर स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं की एक सहकारिता भी बना ली।

स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं की यह सहकारिता कई तरह के कार्य कर रही है। झोपड़पट्टियों या स्लम बस्तियों में रहने वाली महिलाओं को सस्ती स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध कराने के अलावा यह सहकारिता सरकारी अस्पतालों में भी अपने केन्द्र चला रही है जहां मरीजों को सस्ती दवाइयां बेची जाती हैं।

इस सहकारिता के सदस्य सरकारी एजेन्सियों समेत कई अन्य विकास एजेंसियों के लिए मेडिकल किट भी बनाते हैं। इन सब कार्यों के लिए ली जाने वाली फीस और दवाइयों की बिक्री से होने वाले मुनाफे को सहकारिता के खाते में जमा कर दिया जाता है, जिससे पूर्णकालिक स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को वेतन दिया जाता है। इस सहकारिता की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें काम करने वाले स्वास्थ्य कार्यकर्ता यूनियन के साधारण सदस्यों की समान पृष्ठभूमि के हैं। इस सहकारिता ने इन महिलाओं को यह सिद्ध कर दिखाया है कि कुछ प्रशिक्षण के बाद वे जटिल स्वास्थ्य समस्याओं से सहजता से निपट सकती हैं।

16.4 सहकारिताएं और सशक्तिकरण

उपरोक्त चर्चा से हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि सहकारिता आंदोलन में असंगठित क्षेत्र में कार्यरत महिला कामगारों को अधिकार संपन्न बनाने या उनके सशक्तिकरण की असीम संभावनाएं हैं। सहकारिताओं के विशेष महत्व को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही हमने यहां 'सेवा' का उदाहरण दिया है। सशक्तिकरण अधिकारहीन लोगों के समूह की सामूहिक कारवाई से आता है जिनके जीवन की संभावनाएं समान हों। दूसरी तरह से कहें तो जब समान सामाजिक-आर्थिक स्थितियों वाले लोग आपस में मिल जाते हैं और सामूहिक रूप से अपने अधिकारों के लिए लड़ते हैं तो यह निश्चय ही सशक्तिकरण का संकेत हैं। उनके संघर्ष में अनिवार्य कारक यह है कि इससे वे एक सामूहिक इकाई के रूप में अपनी शक्तियों से परिचित हों जाएं।

> **अनुभव से सीखें 1**
>
> अपने क्षेत्र में सक्रिय मत्स्य-पालन, कृषि, दुग्ध-उत्पाद इनमें से किसी भी सहकारिता का पता लगाएं और यह जानने की कोशिश करें कि वह किस तरह काम करती है। यह भी पता लगाने की कोशिश करें इस सहकारिता में सामाजिक-लिंग समीकरण क्या हैं। अपनी खोज-बीन के आधार पर एक नोट तैयार कीजिए।

ट्रेड यूनियनें कुछ हद तक यह लक्ष्य प्राप्त कर सकती हैं। बशर्ते वे लोकतांत्रिक तरीके से काम कर रही हों। इसका सीधा सा तात्पर्य यही है कि अगर ट्रेड यूनियन संघर्षों के माध्यम से उन्हें यह एहसास हो जाता है, कि एक वर्ग या सामूहिक शक्ति के रूप में कार्य कर वे अपनी स्थिति, अपनी नियति को बदला सकते हैं, (और जिसके लिए आंदोलन के भीतर या बाहर के किसी व्यक्ति विशेष की कृपा की कोई आवश्यकता नहीं) तो निश्चित ही वे सशक्तिकरण की ओर बढ़ रहे हैं। लेकिन सेवा के उदाहरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रमिक संगठनों या ट्रेड यूनियनों की अपनी सीमाएं होती हैं। निर्धन लोगों की समस्याओं का समाधान सिर्फ ट्रेड यूनियनों से ही संभव नहीं है। अन्य साधनों या विकल्पों की उतनी ही आवश्यकता है। ऐसा ही एक साधन सहकारिता हैं जो सशक्तिकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाती हैं। 'सेवा' का अनुभव कहता है कि ट्रेड यूनियनों के माध्यम से महिलाएं अपने शोषकों से मोर्चा ले सकती हैं, मगर वहीं सहकारिता इससे अधिक सार्थक कार्य करती है। यह उन्हें बताती है कि वे मौजूदा शोषणकारी व्यवस्था का विकल्प स्वयं तलाश सकते हैं और उससे मुक्ति पा सकते हैं। 'सेवा' द्वारा बनाई गई सहकारिताओं ने महिलाओं को आत्म-विश्वास दिया है और उन्हें यह दिखाया है कि वे सामूहिक कारवाई से अपनी आर्थिक और स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं को हल कर सकती हैं। यह अपने आप में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि असंगठित क्षेत्र में महिलाओं का अधिकारहरण इसलिए होता है क्योंकि उनमें अपनी क्षमताओं को लेकर आत्म-विश्वास नहीं होता। इसी कमी के चलते अपनी आजीविका के लिए इन्हें बाहरी एजेंटों पर निर्भर रहना पड़ता है। उनकी यह निर्भरता दलालों से लेकर समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था तक हो सकती है जिसका अवलंबन जानकारी की कमी और यह अंधविश्वास है कि वे अपनी जीवन-स्थितियों को बदलने में अक्षम हैं।

वस्तुत: सहकारिताओं के इन उदाहरणों ने महिलाओं को यह समझने योग्य बना दिया है कि जीवन में कुछ भी नियत नहीं है, कि उसे नियति मान लिया जाए। बल्कि वे अपने सामूहिक प्रयासों से बदलाव ला सकते हैं।

यहां यह बात ध्यान में रखना जरूरी है कि सहकारिता बना लेने से ही सशक्तिकरण का लक्ष्य हासिल नहीं हो जाता। महिलाओं को सहकारिता चलाने का प्रशिक्षण दिया जाना जरूरी है और वे उनसे अनुभव लें। तभी वे इन संस्थाओं को स्वयं कुशलता से चला सकती हैं। एक यूनियन या संगठन के रूप में 'सेवा' उन्हें वे सब गुर सिखाती है। यह महिलाओं के लिए विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाती है, जिसके माध्यम से वे सहकार और सहकारिता के उद्देश्यों के बारे में जानती हैं।

16.5 महिलाएं और कार्यसंबंधी वातावरण

जैसाकि राष्ट्रीय स्वरोजगाररत महिला आयोग ने भी बताया है हमारा सामाजिक वातावरण निर्धन महिलाओं को आवश्यक आर्थिक अवसर उपलब्ध नहीं होने देता। गरीब महिलाओं को अनेक समस्याओं से जूझना पड़ता है जिनमें कुछ इस प्रकार हैं:

i) प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ के लिए काम के गिने-चुने अवसर उपलब्ध होना,

ii) बेरोजगारी और अल्परोजगार उन्हें अधिक प्रभावित करते हैं,

iii) उनमें शिक्षा और दक्षता की कमी होती है,

iv) उनकी गतिशीलता कम है,

v) उन्हें बेहतर प्रौद्योगिकी सुलभ नहीं है।

इन कारकों के चलते ही ऐसी महिलाओं को उनकी परिस्थितियों के अनुसार या तो छिट-पुट रोजगार मिलता है या वे बेरोजगार रहती हैं। ग्रामीण क्षेत्र में हम पाते हैं कि गरीब महिलाएं एक सरल समरूप जन समूह नहीं हैं। उनमें जातिगत, वर्गीय और रोजगार संबंधी कई तरह के भेद हैं। उनमें बस एक समानता यह है कि परिवार में उनके साथ परिसंपत्ति और उपभोग के मामले में भेदभाव बरता जाता है फलत: उनमें शिक्षा, स्वास्थ्य और उपभोग का स्तर भी कम होता है।

यह स्थिति इस तथ्य के मद्देनजर और भी जटिल हो जाती है कि असंगठित क्षेत्र की महिलाओं के पास अमूमन कोई कृषि भूमि नहीं होती है। उनका काम दूसरों की जोत पर दिहाड़ी में मजदूरी करना और पालतू जानवर पालना है। ये महिलाएं खाद्य उत्पादन, वानिकी और ग्रामीण उद्योग में भी लगी हैं।

क्या आप जानते हैं 2

गरीब महिलाओं में ज्यादातर निर्माण, कारखानों , खदानों, बिक्री इत्यादि में लगी हुई हैं। फिर घर-परिवार की सभी जिम्मेदारियों, जैसे बच्चों की देखभाल, लकड़ी पानी लाना, खाना बनाना घर की साफ-सफाई करना, को उन्हें ही पूरा करना होता है। ये सारे कार्य बड़े थकाऊ और समय खपाने वाले हैं। पर्यावरण का ह्रास, वनों का विनाश और बाढ़ इत्यादि उन्हें पुरुषों से अधिक प्रभावित करते हैं।

16.5.1 महिलाओं के कार्य को मान्यता

यूं तो महिलाएं हर दिन कई घंटे काम करती हैं और परिवार के लिए भारी योगदान करती हैं परंतु यह अपने आप में एक बड़ा आश्चर्य है कि वे न तो स्वयं को 'कामगार' मानती हैं और न ही सरकार सहित अन्य लोग ऐसा मानते हैं। कई बहसों और आयोगों के बावजूद महिलाओं के उत्पादक और

जननात्मक कार्यों को मान्यता नहीं दी गई है। महिलाओं के उत्थान के लिए बनाए जाने वाले सरकारी कार्यक्रम न तो उनकी जरूरतों का पूरा करते हैं, न ही वे उन सब तक पहुंच पाते हैं। महिला श्रमिक तो सबसे अधिक उपेक्षित हैं, जबकि उनकी दयनीय स्थिति को सातवीं पंच वर्षीय योजना दस्तावेज में स्वीकारा गया था। कृषि उत्पादन, भंडारण, विपणन और खाद्य संसाधन, पशुपालन इत्यादि आर्थिक क्रिया-कलापों में महिलाओं की भूमिका महत्वपूर्ण है। जैसा कि पीछे बताया जा चुका है वे इसके अतिरिक्त 10-12 घंटे घर के काम-काजों में लगाती हैं। मछली पकड़ कर, छोटे-मोटे शिकार कर, सिलाई-बुनाई जैसे कई तरह के कार्य कर महिलाएं घर की आमदनी को बढ़ाने में भी लगी रहती हैं। दुर्भाग्यवश न तो इन कार्यों की आर्थिक पैमाने में कोई गिनती की जाती है और न ही इनका कोई लेखा-जोखा रखा जाता है। तिस पर नई प्रौद्योगिकी ने महिलाओं को उनके परंपरागत आय-अर्जन क्षेत्रों से ही उखाड़ फेंका है। यह देखा जा चुका है कि हरित क्रांति के फलस्वरूप किस तरह से दिहाड़ी मजदूरों या अनियमित श्रमिकों की संख्या में वृद्धि हुई क्योंकि छोटी जोतों को बड़े किसानों ने अपने अधिकार में ले लिया। इन जोतों की महिलाएं श्रमिकों में शामिल होकर दिहाड़ी मजदूर बन गईं। महिलाओं को प्राय: श्रम-प्रधान कार्यों में लगा देखा जाता है जैसे धान की रोपाई, अनाज की सफाई और भंडारण, फल तोड़ना, नारियल छीलना इत्यादि।

16.5.2: 'ट्रिकिल डाउन' का तर्क

'ट्रिकिल डाउन' तर्क का यह कहना है कि योजना प्रक्रिया में पुरुष और महिलाएं दोनों समान रूप से लाभान्वित होंगे। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। छठी पंच वर्षीय योजना दस्तावेज में यह बात स्वीकार की गई कि महिलाओं को विभिन्न कारणों से निम्न स्थिति में धकेल दिया गया है। दस्तावेज ने उनके दूसरे दर्ज की स्थिति को स्वीकार किया। ये सभी कारण उन सभी शक्तियों से कहीं ज्यादा शक्तिशाली थे, जो उनके आर्थिक उत्थान के जतन में लगी थीं। गरीबी-उन्मूलन कार्यक्रमों के जरिए गरीबी दूर करने के प्रयास अधिक सफल नहीं रहे यह विभिन्न विकास परियोजनाओं और वनों के विनाश से हुए भूमि विसंबंधन और पर्यावरण ह्रास के कारण हुआ। फिर चंद हाथों में संसाधनों का केन्द्रण और एक ओर धनाढ्यों और निर्धनों और दूसरी ओर देहात और शहर के बीच बढ़ता ध्रुवीकरण जैसे कारक भी इसके लिए उत्तरदायी थे।

जरा सोचिए 2

गरीब महिलाएं प्राय: गरीब ही क्यों रहती हैं? आपके विचार में निर्धनता के इस दुश्चक्र से बाहर निकलने में और उच्च जीवन-स्तर का आनंद उठाने में वे किस हद तक समर्थ हैं? अपने विचारों को कलमबद्ध कीजिए।

ग्रामीण क्षेत्र को भूमि-सुधारों के माध्यम से उन्नत करने के प्रयासों का लाभ भी महिलाओं को नहीं हुआ क्योंकि महिलाओं के नाम भूमि तो कभी नहीं रही। सो भूमि सीलिंग और काश्तकारी संबंधी सुधारों का उन्हें कोई लाभ नहीं मिला। सामूहिक संपत्ति को या तो सरकार ने अधिग्रहीत कर लिया या उसे निजी स्वामित्व में सौंप दिया गया है। इसके चलते भी महिलाओं पर भारी बोझ पड़ गया है क्योंकि इससे लकड़ी एकत्र करने, पानी लाने और वन उत्पाद लाने की क्षमता प्रभावित होती है। वनों के विनाश और उनके व्यवसायीकरण जैसे विकासीय परिणामों ने भी महिलाओं की स्थिति पर बुरा प्रभाव डाला है।

खेतिहर निर्धनता के बढ़ते पुरुषों को भी रोजगार की तलाश में शहरों की ओर पलायन करने के लिए विवश होना पड़ता है, जो अपने परिवारों को अपने हाल में पीछे छोड़ जाते हैं दोषपूर्ण बांध और औद्योगिक परियोजनाओं के कारण बड़े पैमाने पर विस्थापन हो रहे हैं। जिनमें मानव परिवेश समेत समस्त पर्यावरण की स्थिति को ध्यान में नहीं रखा जाता है। इससे प्राय: संबंधित क्षेत्र में बड़े पैमाने पर निर्धनता जन्म लेती है और महिलाओं को अपने परंपरागत रोजगारों को खोना पड़ता है, क्योंकि

विस्थापित जनसंख्या के पुनर्वास की योजनाओं में महिलाओं की दयनीय स्थिति को कभी ध्यान में नहीं रखा जाता है।

16.6 सामाजिक-लिंग सोच जनित पूर्वाग्रह

यह बताया जा चुका है कि रोजगार क्षेत्र पुरुषों के पक्ष में पूर्वाग्रहित है। उदाहरण के लिए श्रम का विभाजन स्त्रियों के प्रति पूर्वाग्रस्त है। इसलिए धान की खेती को ही लें तो पुरुषों का काम खेत जोतने के बाद समाप्त हो जाता है। उसके बाद के सारे कार्य जैसे निराई, गुड़ाई, रोपाई इत्यादि महिलाओं को ही करने पड़ते हैं।

इसी तरह कपड़ा उद्योग में बुनाई का काम प्राय: पुरुष करते हैं और कताई का काम महिलाएं ही करती हैं। भवन निर्माण उद्योग को ही लें तो पुरुष चिनाई और राज मिस्त्री के जैसे दक्ष कार्य करते है मगर मज़दूर औरतों को अपने सिरों पर ईंट और गारा इत्यादि ढोने जैसे कमर तोड़ कार्य करने पड़ते हैं। अध्ययनों से यह पुष्टि होती है कि अधिक वेतन वाले काम और नौकरियां पुरुषों को ही मिलते हैं और एक तरह से ये उनका विशेषाधिकार बन गए हैं जबकि कम मजदूरी वाले और श्रमसाध्य काम महिलाओं को करने पड़ते हैं। बीड़ी, नारियल और काजू जैसे उद्योगों में महिलाओं को छलेशा कम मज़दूरी दी जाती है। यही नहीं दक्षता वाले कामों में भी उन्हें पुरुषों से कम पारिश्रमिक मिलता है।

अनुभव से सीखें 2

निर्माण उद्योग या कपड़ा उद्योग में कार्यरत कुछ गरीब महिला श्रमिकों से संपर्क करें और उनसे अनौपचारिक तरीके से बातचीत करें। उनसे पूछिए कि क्या उन्हें लगता है कि वे श्रमसाध्य कम मज़दूरी वाला काम कर रही हैं। उनके उत्तर को नोट कीजिए और देखिए कि क्या उनके उत्तर में सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) जनित शोषण और उसके बारे में ज्ञान की झलक मिलती है।

16.6.1 शहरी अनौपचारिक क्षेत्र

शहरी अनौपचारिक क्षेत्र में असाधारण रूप से बड़ी संख्या में महिलाएं कम पारिश्रमिक वाले काम-धंधों या पेशों में लगी हुई हैं। संगठित क्षेत्र में 90 प्रतिशत महिलाएं अदक्षता या अर्धदक्षता वाले कामों में लगी हुई हैं।

शैक्षिक और व्यावसायिक दक्षता अर्जन के क्षेत्र में भी सामाजिक-लिंग (जेंडर) जनित पूर्वाग्रह काम करते हैं। साक्षर महिलाओं की कुल संख्या बढ़ी तो जरूर है मगर पुरुषों और महिलाओं में अभी भी काफी बड़ा अंतर है। वहीं तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति जस की तस बनी हुई है। वैसे उच्च शिक्षा के क्षेत्र में नामांकन स्थिति में कुछ सुधार अवश्य आया है।

महिलाओं की साक्षरता दर में शहर और देहात के बीच अंतर अब भी काफी बड़ा है, स्कूल छोड़ने की दर लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में ज्यादा है। इससे यही स्पष्ट होता है कि शिक्षा नीति और कार्यनीति का लाभ प्रवासियों, झोपड़पट्टियों के वासियों और भूमिहीन श्रमिकों समेत तमाम गरीब लोगों तक नहीं पहुंच रहा है। इन तबकों में भी महिलाओं की दशा तो सबसे खराब है। उन्हें शिक्षा के अवसर उपलब्ध नहीं हैं और इसीलिए वे पुरुषों के समकक्ष नहीं आ पाती हैं।

16.6.2 सामाजिक और रोजगार की सुरक्षा

आइए अब असंगठित क्षेत्र पर दृष्टि डालते हैं, जो पिछले कुछ वर्षों में असाधारण रूप से बढ़ा है। अधिकांश महिला श्रमिक अनौपचारिक, असंगठित क्षेत्र में हैं। इसकी बनावट कुछ इस तरह की है कि इनमें लोगों को बेहद कम मज़दूरी पर अनियमित काम मिलता है। या अगर वे स्वरोज़गाररत भी हैं तो उसमें होने वाली आमदनी निराशाजनक ही है। इस क्षेत्र में किसी तरह की सामाजिक सुरक्षा

या रोजगार की सुरक्षा नहीं है। काम के घंटे लंबे हैं, कार्य संबंधी स्थितियां खराब हैं और स्वास्थ्य संबंधी ज़ोखिम भरे पड़े हैं। बड़ी औद्योगिक इकाइयां इन, स्थितियों का लाभ उठाती है। उदाहरण के लिए बीड़ी उद्योग में मजदूरों को तो पारिश्रमिक न के बराबर मिलता है, मगर वहीं इसे कुटीर उद्योग का दर्जा होने के कारण इसके मालिकों को कई तरह के लाभ मिलते हैं।

16.6.3 परिवार की मुखिया के रूप में महिलाएं

हम पाते हैं कि महिलाएं भारतीय समाज के मुख्यत: निर्धन तबकों में अपने परिवार की मुखिया होती हैं। यह भूमिका भी उसे पति द्वारा त्याग दिए जाने, पति के बीमार होने, नशे का आदी होने या फिर उसके विधवा हो जाने पर ही मिलती है। मगर समस्या यह है कि योजनागत कार्यनीतियां महिलाओं को परिवार की मुखिया मानकर ही नहीं चलतीं। ये परिवार गरीबी के सबसे निचले पायदान पर हैं। राष्ट्रीय स्वरोजगाररत महिला आयोग के अनुसार ऐसे परिवारों की संख्या बढ़ रहीं है।

यह स्पष्ट है कि ये परिवार नई प्रौद्योगिकी का लाभ नहीं उठा सकते क्योंकि इसके लिए अनिवार्य शिक्षा और दक्षताएं इन गरीबों की पहुंच से बाहर हैं। इसके प्रतिकूल प्रभाव से स्वरोजगार में लगी महिलाएं भी नहीं बच पाती हैं क्योंकि नई प्रौद्योगिकी उन्हें बाजार से बाहर कर देती है। इस स्थिति में उन्हें भी दिहाड़ी या सीमांत श्रमिक बनने को बाध्य होना पड़ता है। प्रौद्योगिकी को उन्नत बनाने के लिए ऐसा कोई कार्य नहीं किया गया है, जिससे महिलाओं के घर-परिवार का बोझ वास्तव में कम हो सके।

आजीविका के लिए आप्रवास करते हुए
सौजन्य : देवल के. सिंहराय, इग्नू, नई दिल्ली

यही स्थिति विपणन और ऋण के मामले में भी बनी हुई है। ऋण के मामले में महिलाओं के सामने यही समस्या बनी रहती है कि उनके पास जमानत में देने को कुछ नहीं होता। अनेक महिलाओं को ऋण योजनाओं का कोई ज्ञान नहीं हैं, फिर वे ऋण प्रक्रिया से भी परिचित नहीं हैं। विपणन के मामले में भी, बाजार की स्पर्धा संरचना कुछ इस तरह की है कि उसमें पुराने परंपरागत उत्पाद अपना आकर्षण खोते जा रहे हैं। इसीलिए रेशे/नारियल की रस्सी की जगह अब नाइलोन की रस्सी ने ले ली है। ऐसे सामान बनाने में लगी महिलाएं तेजी से बेरोजगारों की कतार में शामिल हो रही हैं।

16.6.4 अनुसूचित जातियां और जनजातियां

अनुसूचित जातियां और जनजातियां सदियों से चले आ रहे सामाजिक बहिष्कार और आर्थिक वंचना के कारण हमेशा अलाभकर स्थिति में रहती हैं। ये समुदाय सूचना और पहुंच के अभाव के कारण सरकारी नीतियों का लाभ नहीं उठा पाते हैं। फिर निहित स्वार्थ भी उनकी राह में आड़े आते हैं। अधिकांश अनुसूचित जातियां और जनजातियां भूमिहीन मजदूर हैं जिन्हें गुजारे के लिए अपनी औरतों के साथ मजदूरी करनी पड़ती है। वे खेतिहर मजदूरों, निर्माण मजदूरों के रूप में काम करते हैं। अपने मर्दों के साथ मजदूरी करने के अलावा उनकी महिलाओं को लकड़ी, चारा और पानी भी लाना पड़ता है ताकि वे जीवित रह सकें। अनुसूचित जनजातियां मूलत: वनवासी थीं। मगर पर्यावरण के ह्रास, वन भूमि का राष्ट्रीयकरण और आरक्षण, सामूहिक संपत्ति का निजीकरण इन सब कारणों से इनकी स्थिति भी दयनीय हो चली है। इनमें महिलाओं को मर्दों के साथ लगभग बराबरी का दरजा हासिल था, मगर आज वे भी प्रवासी मजदूरों की पंक्ति में जा मिली हैं।

16.6.5 महिलाओं पर पलायन का प्रभाव

जैसे जैसे गांव की आर्थिक उपयोगिता समाप्त होती जा रही है, कई ग्रामीणों के लिए पलायन करना एक बाध्यता बनती जा रही है, जिससे वे चाहें भी तो नहीं बच सकते। पलायन बड़ी बांध और औद्योगिक परियोजनाओं के कारण भी होता है। पुरुषों के पलायन कर जाने पर महिलाओं को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और अगर वे भी अपने पुरुषों के साथ शहरों की ओर पलायन करती हैं तो उन्हें ऐसी स्लम बस्तियों में अपना घर बनाना पड़ता है जिनमें साफ-सफाई की बुनियादी सुविधाएं तक सुलभ नहीं होती।

जब आमदनी कम हो और साथ में कमरतोड़ श्रम करना पड़े तो स्वास्थ्य संबंधी समस्याएं पैदा होना स्वाभाविक हैं। कुपोषण, बारंबार गर्भधारण और कार्यसंबंधी जोखिम समस्याओं को और जटिल बनाते हैं। स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध तो हैं मगर वे गरीब के लिए नहीं हैं।

16.7 सारांश

इस प्रकार उनका योगदान महत्वपूर्ण होते हुए भी महिलाओं के कार्य की कोई गिनती नहीं होती। रोजगार संबंधी विधान या कार्यक्रमों का वस्तुत: कोई लाभ नहीं हैं, क्योंकि नई प्रौद्योगिकी ने विशेषकर महिलाओं के लिए बेरोजगारी को बढ़ाया ही है। यह भी ध्यान देने की जरूरत है कि अधिकांश गरीबों के पास रहने को न तो घर है और न ही बच्चों की देखभाल की सुविधाएं। वे स्लम बस्तियों में रहते हैं। शिशुओं की देखभाल राष्ट्र के निर्माण के लिए आवश्यक है, इन सुविधाओं की जितनी आवश्यकता है ये सुविधाएं उतनी ही कम हैं। इस समस्या के समाधान के लिए राजनीतिक इच्छा और चुस्त प्रशासन जरूरी हैं।

योजनाकार महिलाओं की निम्न हैसियत और महिलाओं के विकास पर ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता के बारे में आप अच्छी तरह से परिचित हैं। मगर कथनी और करनी में बड़ा अंतर है जिसे दूर किए जाने की आवश्यकता है। उनकी दशा को सुधारने का एक तरीका सहकारिता आंदोलन

है, परंतु इसके लिए सूचना, ज्ञान और शिक्षा की कुछ हद तक जरूरत पड़ती है। इस प्रकार हमने इसमें यह जाना कि सहकारिता आंदोलन निर्धन महिलाओं के लिए सहायक हो सकता है। इसमें हमने 'सेवा' का उदाहरण दिया है, जो कई तरह की सहकारिताएं और दूसरे क्रिया-कलाप चला रही है। सहकारिताओं की भी अपनी समस्याएं, सीमाएं हैं मगर वे अपने सदस्यों के जीवन पर बड़ा प्रभाव डालती हैं। अंत में हमने स्वरोज़गार-रत निर्धन महिलाओं पर पड़ने वाले विभिन्न प्रकार के दबावों, काम और कार्य संबंधी वातावरण में प्रतिबिंबित होने वाले सामाजिक लिंग सोच जनित पूर्वाग्रहों के बारे में बताया है। कुल मिला कर हमने इसमें महिला और सहकारिता और निर्धन महिलाओं द्वारा झेली जाने वाली समस्याओं की रूपरेखा प्रस्तुत की है।

16.8 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

सहकारिता : यह एक प्रकार का व्यापारिक उद्यम है जिसे इसके सदस्य मिल-जुलकर चलाते हैं और अर्जित लाभ को आपस में साम्यिक रूप से बांटते हैं।

सेवा : सेल्फ एम्प्लॉइड वीमेन्स एसोसिशन।

'ट्रिकिल डाउन' का तर्क : यह सिद्धांत कि आर्थिक लाभ धीरे-धीरे मगर निश्चित रूप से गरीबों तक पहुंचेंगे।

सामाजिक-लिंग : मौजूदा आर्थिक और दृष्टिकोण संबंधी पूर्वाग्रह जो किसी एक विशेष लिंग (स्त्री या पुरुष) का पक्ष लेते हों।

16.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कार, एम.एम. शेन और आर. झावला (संपा.). 1997 *स्पीकिंग आउट: वीमेन्स इकॉनमिक एम्पावरमैंट इन साउथ एशिया.* दिल्ली : सेज पब्लिकेशंस.

नेशनल कोओपरेटिव यूनियन ऑफ इंडिया, *रिपोर्ट ऑफ द कमीशन ऑन कोओपरेटिव प्रिंसिपल्स,* नई दिल्ली :

रोज, कमिला (1994) व्हेर *वीमेन आर लीडर्स.* नई दिल्ली : सेज पब्लिकेशन्स.

रुद्रदत्त (संपा). *आर्गनाइजिंग द अनॉर्गनाइज्ड वर्कर्स.* दिल्ली : विकास पब्लिशिंग हाउस.

इकाई 17 अरक विरोधी आंदोलन

रूपरेखा

17.0 लक्ष्य और उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 सामाजिक पवित्रता और मिताचार

- 17.2.1 औपनिवेशिक भारत में मद्य-निषेध
- 17.2.2 औपनिवेशिक भारत में मद्य-निषेध की रणनीतियाँ
- 17.2.3 स्वतंत्र भारत में मद्य-निषेध

17.3 साक्षरता और अरक-विरोधी आंदोलन

- 17.3.1 आंध्र प्रदेश 1992 : अरक-विरोधी आंदोलन
- 17.3.2 शराब और घरेलू हिंसा

17.4 अरक के खिलाफ महिलाओं का संघर्ष

- 17.4.1 अरक विरोधी आंदोलन का प्रसार
- 17.4.2 राजनीतिक पहलू
- 17.4.3 जुझारू पहलू

17.5 सारांश

17.6 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

17.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

17.0 लक्ष्य और उद्देश्य

शराब को जब इसके घरेलू आयाम में देखते हैं तो यह हमेशा महत्वपूर्ण मुद्दा बन जाता है। परिवार में पति या पुरुष जब शराब पीते हैं तो यह गरीब परिवारों को और दरिद्रता की ओर धकेलता ही नहीं है बल्कि पारिवारिक हिंसा को भी जन्म देता है। इस इकाई में हमने एक वृतांत दिया है। जो आंध्र प्रदेश के अरक विरोधी आंदोलन ने महिलाओं से मिले निरंतर समर्थन के चलते जो दिशा पकड़ी थी, उसे विस्तार से चित्रित करता है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- औपनिवेशिक और स्वतंत्र भारत में नशाबंदी की रणनीतियाँ समझ सकेंगे,
- अरक-विरोधी आंदोलन में साक्षरता की भूमिका बता सकेंगे,
- अरकपान के खिलाफ संघर्ष में महिलाओं की भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे, और
- अरकपान के विरोध में हुए आंदोलन को समझ सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

इस विषय का आरंभ मद्य-निषेध (नशाबंदी) पर नज़र डालकर करना उचित होगा, जो ऐतिहासिक रूप से महिलाओं का सरोकार रहा है और जिसका दुनिया के विभिन्न हिस्सों में एक लंबा इतिहास

रहा है। मद्यव्यसन और मदोन्मत्तता एकाकी आचरण का मुद्दा और निजी सरोकार ही नहीं है बल्कि इसके कई महत्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आयाम भी हैं। मदोन्मत्तता का पहला असर परिवार में महसूस किया जाता है। अरक विरोधी आंदोलन इसलिए शुरू हुआ कि महिलाओं और बच्चों को भूखे-पेट सोना पड़ता था, तो उधर महिलाओं को बुरी तरह से पीटा जाता था। सो आंध्र प्रदेश का अरक- विरोधी आंदोलन यह बताता है कि जब भी महिलाएं सामूहिक रूप से पुरुष निरंकुशता का सामना करने की ठान लेती हैं तो इसके परिणाम आश्चर्यजनक हो सकते हैं। जैसा कि आप इस इकाई में पढ़ेंगे, समर्पित कार्ययोजना के जरिए वे बाजी पलट सकती हैं।

इस इकाई में हमने औपनिवेशिक और स्वतंत्र भारत में नशाबंदी के बारे में बताया है और उसका विश्लेषण दिया है। साथ ही उन रणनीतियों के बारे में भी जानकारी दी है जो इसके लिए अपनाई गई थीं। इसके बाद हमने आंध्र प्रदेश में हुए अरक-विरोधी आंदोलन में साक्षरता की भूमिका के बारे में भी अध्ययन किया है। फिर हम अरक के विरुद्ध महिलाओं के संघर्ष पर आते हैं और उसके राजनीतिक और जुझारु पक्षों के बारे में बताते हैं। आखिर में हमने सार रखा है।

17.2 सामाजिक पवित्रता और मिताचार

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इंग्लैंड और अमेरिका में एक आंदोलन उठा और उसने एक जन आंदोलन का रूप धारण कर लिया। इस आंदोलन का नाम था प्योरिटी क्रूसेड (पवित्रता के लिए धर्मयुद्ध)। सदाचार और संयम के सरोकार ने कला और साहित्य तक को अपने अधिकार में ले लिया, जिसमें श्रृंगाररस (काम विषयक) निंदनीय था। प्योरिटी क्रूसेड का मुख्य उद्देश्य यौन जीवन और मद्यपान में मिताचार को बढ़ावा देना था। यह तर्क दिया जा सकता है कि सामाजिक पवित्रता आंदोलन ने मध्यम वर्ग के हितों की पूर्ति की थी। लेकिन इस आंदोलन ने सामाजिक पवित्रता के मूल्यों को बढ़ावा दिया था उन मूल्यों को तत्कालीन मेहनतकश वर्ग के कुछ हिस्सों ने आत्मसात कर लिया। सामाजिक पवित्रता के प्रवर्तकों ने दरअसल मेहनतकश वर्ग को अपने आंदोलन का हिस्सा बनाने का सचेतन प्रयास किया था। 1880 के दशक के बीच में महिला समाज सुधारकों ने शुचिता लीगों (चेस्टिटी लीग) का गठन किया और लगभग दो सौ स्त्री उद्धार समीतियां (लेडीज रेस्क्यू कमेटी) बनाई। इन्होंने मेहनतकश वर्ग के पुरुषों की सभाओं में जाकर पुरुष शुचिता की आवश्यकता पर भी बल दिया, हजारों की संख्या में पुरुष श्रमिकों को ह्वाइट क्रॉस आर्मीज (श्वेत क्रूस सेना) का सदस्य बनाया गया। इन सेनाओं का लक्ष्य शुचिता के एकल मानदंड को बढ़ावा देना और बुराइयों पर हमला करना था। मेहनतकश वर्गों ने सामाजिक पवित्रता के इस एजेंडे को सहजता से स्वीकार कर लिया, जिसके पीछे एक तर्काधार था– यौन प्रतिष्ठा। यह 'अभिजात्य' श्रमिक के लिए पहचान का सूचक बन गया, जो गरीब अनियमित मजदूरों की 'पशुता' से अपने को दूर रखने के लिए व्यग्र था क्योंकि इस प्रतिष्ठित मेहनतकश वर्ग पर 'बहिष्कृत' समूहों से अपने संबंध तोड़ने के लिए भारी दबाव डाला जा रहा था। फिर अन्य ढांचागत कारक भी अपना काम कर रहे थे।

रोजगार के बदलते स्वरूपों ने मेहनतकश वर्ग के बीच कुशल धड़ों में पितृसत्तात्मक प्रवृत्तियों को मजबूती दी। क्योंकि सदी के अंत तक घर से बाहर काम करने वाली महिला कामगारों की संख्या घट चुकी थी और पुरुष कामगारों के लिए परिवार वेतन ट्रेड यूनियनों की मांग बन गया। इस प्रसंग में देखा जाए तो सामाजिक पवित्रता आंदोलन ने परिवार भत्ते की मांग को वैचारिक धरातल प्रदान किया, जिसने घर के अंदर और बाहर पुरुष के विशेषाधिकारों पर नैतिक वैधता की मोहर लगाई। यूं भी यह आंदोलन स्त्रियों की रक्षा करने और उन्हें वश में रखने के लिए पुरुषों का आह्वान करता था। सामाजिक पवित्रता आंदोलन ने इस तरह मेनतकश वर्ग की एकता को तोड़ा और साथ में प्रतिष्ठित कामगार पुरुषों और महिलाओं में सामाजिक-लिंग की परंपरागत परिभाषाओं को मजबूत किया।

उधर बीसवीं सदी के शुरू में इसी तरह की वीमेन्स क्रिश्चियन टेम्परैंस यूनियन (क्रिश्चियन महिला मिताचार यूनियन) समूचे अमेरिका में उभरीं। प्योरिटी क्रूसेड के विपरीत ये यूनियनें चर्च-मूल के महिला समूह की थीं, जिनके विचार में मदिरापान का संबंध पारिवारिक हिंसा से था। यूं इस दौर में पश्चिमी जगत में नैतिक प्रश्न उठाए जा रहे थे और नैतिक आचार-संहिताएं फिर से रची जा रही थीं। यहां पर उल्लेखनीय है कि यूं शराब-विरोधी आंदोलनों के सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ दुनिया में ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग मिलते हैं और उनमें स्थानीय विशिष्टताएं पायी जाती हैं, मगर शराब विरोधी आंदोलनों ने अमूमन महिलाओं को राजनीतिक क्षेत्र में खींचा है और उन्हें एक ऐसा नज़रिया दिया है जो उन्हें अपने बड़े राजनीतिक एजेंडों को कारगर ढंग से साधने में सहायक होगा।

17.2.1 औपनिवेशिक भारत में मद्य-निषेध

इधर औपनिवेशिक भारत में चले सामाजिक पवित्रता आंदोलन के मुख्य लक्ष्य थे नशा करने वाले पेय से पूरा परहेज, निजी जीवन में पवित्रता और देवदासी प्रथा का उन्मूलन। भारत में इस आंदोलन के संस्थापक थे रघुपति वेंकटरत्नम नायडू (1862-1939), जिन्होंने इसकी शुरुआत 1880 के दशक में मद्रास में की थी। नायडू ने अपने आंदोलन में मद्यव्यसन और वेश्यावृत्ती को दो जुड़वां बुराईयाँ बताया, मगर मोहनदास करमचंद गांधी (1869-1948) ने मद्य-निषेध या नशाबंदी को राष्ट्रीय आत्मनिर्णय की लड़ाई का एक महत्वपूर्ण मुद्दा बनाया। सन् 1930 में नागरिक अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत से लेकर 1937 में प्रांतीय स्वायत्तता तक नशाबंदी राष्ट्रवादी आंदोलन का खासकर कांग्रेस की राजनीति का मुख्य मुद्दा थी।

महात्मा गांधी ने नशाबंदी की मांग को आगे बढ़ाकर ही सामाजिक सुधार को स्वराज आंदोलन से जोड़ा। सन् 1929 में गांधीजी ने सभी स्वराजियों का आह्वान किया कि वे पूर्ण नशाबंदी को अपने चुनाव अभियान में एक बड़ा मुद्दा बनाएं। फिर 1930 में गांधीजी ने घोषणा की वे नागरिक अवज्ञा आंदोलन को छोड़ने के लिए तैयार है अगर ब्रिटेन उनके ग्यारह: सूत्री मांगपत्र को मान ले : पूर्ण नशाबंदी, मुद्दा विनिमय दर की बहाली, भू-लगान में 50 प्रतिशत कटौती, नमक कर की समाप्ति, सैन्य खर्च में 50 प्रतिशत की कटौती जिसे कम से कम नागरिक सेवा में वेतन में आधी कटौती से शुरू किया जाए, विदेशी कपड़े पर एक रक्षात्मक कर, तटीय आरक्षण विधेयक पास करना, हत्या के लिए फांसी की सजा पाए मुज़रिमों को छोड़ सभी राजनीतिक कैदियों की रिहाई। गांधी जी जानते थे कि ब्रितानी सरकार इन मांगों को आसानी से नहीं मानेगी। गांधी जी नशाबंदी को असल में राष्ट्र के लिए एक तरह की प्रौढ़ शिक्षा मानते थे, जो उसे नैतिक चेतना की ओर ले जाएगा।

क्या आप जानते हैं? 1

शुरू-शुरू में अंग्रेजों ने मद्यपान के मामले में संयम को बढ़ावा देने और नशीले पेयों के प्रचलन पर अंकुश लगाने की नीति अपनाई। अंग्रेजों ने अपने शुरुआती नीतिगत घोषणाओं में से 1905 की एक घोषणा में कहा था कि सरकार की नीति शराब न पीने वालों के लिए इसके प्रलोभन को कम करना और शराब पीने वालों में अत्यधिक सेवन की प्रवृत्ति को रोकना है और इस नीति को कारगर बनाने के लिए राजस्व का लिहाज गौण रखा जाएगा। यह नीति 1921 तक चली। जब पहले संवैधानिक सुधार शुरू हुए तो नशाबंदी सरकारी नीति का लक्ष्य बनी जिसे कई प्रांतीय विधान सभाओं ने भी अपना लिया।

17.2.2 औपनिवेशिक भारत में मद्य निषेध की रणनीतियां

गांधीजी के नेतृत्व में नशाबंदी आंदोलन में महिलाओं ने भारी संख्या में हिस्सा लिया। मगर उन्होंने शराब की दुकानों के आगे धरना और गिरफ्तारी देने की रणनीति अपनाई। गांधी जी ने यह भी महसूस किया कि नमक कानूनों को तोड़ने तक सीमित नागरिक अवज्ञा आंदोलन महिलाओं को संतुष्ट

नहीं कर पाएंगा और न ही राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के संघर्ष में वे अपनी पूरी शक्ति लगा पाएंगी। उन्होंने आह्वान किया : "इन दोनों कार्यों को महिलाओं को करने दो और उन्हें इनमें कुशल बनने दो, तो राष्ट्रीय आंदोलन में वे पुरुषों से अधिक योगदान करेंगी।" गांधी जी का मानना था कि उन्हें इससे सत्ताधिकार और आत्मविश्वास हासिल होगा, जिससे वे अभी तक अपरिचित रही थीं। नशाबंदी और स्वदेशी आंदोलनों का नेतृत्व महिलाओं से करने का आह्वान कर गांधीजी ने बड़ी सूझ-बूझ के साथ महिलाओं को शांतिप्रिय, अंहिसक, मैत्रीपूर्ण और विनम्र शक्ति के रूप में लामबंद किया। इसका परिणाम यह रहा कि इस आंदोलन ने वर्गों के निहित स्वार्थों को कोई हानि नहीं पहुंचाई क्योंकि इसके सामने कोई शत्रु नहीं था जिसकी पहचान कर यह उसे परास्त करे। नशाबंदी के लिए गांधीजी के तर्कों पर गौर करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे सिर्फ शराब और नशीली दवाओं के सेवन की समाप्ति ही नहीं चाहते थे बल्कि उन्होंने इस आंदोलन को राष्ट्रीय पुनर्जागरण की प्रक्रिया का मूलभूत तत्व माना था। उनका मुख्य तर्क था कि मदोन्माद में चूर लोग राष्ट्र निर्माण की नैतिक और राजनीतिक जिम्मेदारी का निर्वाह नहीं कर सकते। सो राष्ट्र निर्माण के लिए पुरुषों को मुक्त छोड़ने की इस समूची प्रक्रिया में महिलाओं को ही मुख्य भूमिका निभानी थी।

17.2.3 स्वतंत्र भारत में मद्यनिषेध नीति

जहां तक भारत में नशाबंदी का सवाल है, 1947 से ही गांधीजी के विचारों के अनुरूप देश में शराब उत्पादन और बिक्री को बंद करने की नीति रही है। तभी से योजना दस्तावेजों और नीतिगत बयानों में गांधी जी की बातों को दोहराते हुए नशाबंदी की आवश्यकता और शराब के व्यापार को बंद करने और उससे जुड़े लोगों के लिए वैकल्पिक आजीविका के लिए कार्यनीतियाँ बनाने पर जोर दिया जाता रहा है।

मगर योजना आयोग की सिफारिशों के कार्यान्वयन में यह फर्क था कि गांधी जी के नशाबंदी का एजेंडा राष्ट्रीय आत्म-निर्णय और औपनिवेशिक शासन से मुक्ति की आवश्यकता पर एक व्यापक राजनीतिक कथन था। शायद इसके असफल होने का कारण यही था। शराब का मुद्दा नौकरशाही उपायों पर बहस तक सिमट कर रह गया। अब इसमें कोई वृहत्तर सामाजिक-राजनीतिक मुद्दा जुड़ा नहीं था। न ही मद्यनिषेध पर नीतिगत घोषणाओं में ग्रामीण और शहरी गरीबों की समस्याओं के समाधान का कोई गंभीर प्रयास हुआ। इकाई के इस अनुभाग में हम संक्षेप में नशाबंदी के लिए बनाई गई विशेष समितियों की सिफारिशों और योजना घोषणाओं की समीक्षा करेंगे। संविधान की धारा 47 और राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत कहते हैं कि राज्य की "चिकित्सा में प्रयोग को छोड़, स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सभी नशीले पेयों और दवाओं के सेवन को रोकने का प्रयास करना होगा।" इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही योजना आयोग को मद्यनिषेध नीति के कार्यान्वयन की कार्यनीतियां बनाने का जिम्मा सौंपा गया।

जरा सोचिए।

1) क्या आप सोचते हैं कि आज एक राष्ट्रीय स्तर पर मद्यनिषेध की नीति संभव है? कारण बताइए।

2) भारत में नशाबंदी के लिए महिलाएं पुरुषों से अधिक उत्सुक क्यों रहती हैं? समझाइए।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने श्रीमन नारायण समिति के सरोकारों को प्रतिबिंबित करते हुए नशाबंदी को अपनी सामाजिक नीति का महत्वपूर्ण हिस्सा बनाया। इसी योजना के दौरान केंद्रीय मद्यनिषेध समिति गठित हुई तथा तीसरी पंचवर्षीय योजना ने स्वीकार किया कि सिर्फ पुलिस और आबकारी अधिकारियों के भरोसे ही मद्यनिषेध नीति सफल नहीं होगी। इसने लोगों को जागरूक बनाने, इस अभियान में स्वयंसेवी संगठनों को शामिल करने और गरीबों को सबसीडी और पौष्टिक भोजन सुलभ कराने पर जोर दिया।

योजना आयोग ने 1963 में न्यायमूर्ति टेक चंद की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया। इसकी रिपोर्ट 1964 में जमा की गई। इसकी महत्वपूर्ण सिफारिशें इस प्रकार हैं : शराब कानूनों में परिवर्तन, शराब अपराधों में लिप्त व्यक्तियों को चुनाव के अयोग्य घोषित करना, जनशिक्षा और प्रचार, स्वयंसेवी संस्थाओं की सक्रिय हिस्सेदारी और संभवत: 30 जनवरी, 1970 तक पूर्ण नशाबंदी के लिए चार-चरणों में एक कार्यक्रम।

साठ के दशक के बीतते शराब के जिस व्यापार को सामाजिक कलंक माना जाता था और जिससे ज्यादातर शराब के तस्कर, आपराधिक और असामाजिक तत्व जुड़े रहते थे, उसे राजनीतिक सम्मान मिलने लगा। दरअसल राजनेता धन और बाहुबल के लिए शराब के व्यापारियों पर अधिकाधिक निर्भर रहने लगे। सत्तर के दशक के अंत तक राजनीति के अपराधीकरण ने अपनी जड़ें शराब के व्यापार में जमा लीं।

17.3 साक्षरता और अरक-विरोधी आंदोलन

राष्ट्रीय साक्षरता मिशन, राजीव गांधी के शासनकाल में शुरू किए गए पांच टेक्नोलॉजी मिशनों में एक है। देश के प्रत्येक राज्य में इस मिशन ने बिल्कुल अलग मार्ग चुना है, जो स्थानीय सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों और राजनीति ने तय किया है। आंध्र प्रदेश में प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम असफल रहा है क्योंकि इसकी रचना या परिकल्पना इस तरह से नहीं की गई थी कि जिसमें सहभागिता सहज हो। इस लीक से सोच-समझकर अलग हटते हुए, राज्य सरकार ने 2 अक्तूबर 1990 को नेल्लोर जिले में राष्ट्रीय साक्षरता मिशन शुरू कर दिया। यह कार्यक्रम केरल के अर्नाकुलम जिले के सफल प्रयोग के बाद शुरू किया गया था, जहां शत प्रतिशत साक्षरता का असंभावित लक्ष्य पूरा हुआ था। नेल्लोर कार्यक्रम को एक अभियान के रूप में चलाया गया, जिसमें लिखना पढ़ना सिखाने के साथ-साथ विशेषकर महिलाओं के विकास और शक्तीकरण के मुद्दों पर विशेष ध्यान दिया गया।

मिशन के दूसरे चरण में एक विद्वता समिति बनाई गई, जिसमें 80 केंद्रीय संसाधन कर्मी शामिल थे। इस विद्वता समिति का काम साक्षरता की आरंभिक पुस्तकें और स्वयंसेवियों के लिए संदर्शिका (गाइड बुक) लिखना था। दूसरा चरण पूरा होने पर जिले में 1.5 लाख लोगों को साक्षरता प्रमाण पत्र दिए गए जिनमें एक लाख महिलाएं थीं। विकास और शक्तीकरण के लिए शिक्षा के लक्ष्य की पूर्ति के लिए साक्षरता के बाद के चरण में जन-चेतना बढ़ाने के लिए 6000 जन चेतना केन्द्र खोले गए। स्थानीय समस्याओं और मुद्दों पर बहस शुरू करने और उनका समाधान तलाशने में इन केंद्रों की महिलाओं ने मुख्य भूमिका निभाई। यहां यह इसलिए बताया गया है कि क्योंकि यह अरक-विरोधी आंदोलन के लिए प्रासंगिक है।

17.3.1 आंध्र प्रदेश, 1992 : अरक-विरोधी आंदोलन

अरक-विरोधी आंदोलन कहां और कैसे शुरू हुआ? सरसरी तौर पर देखने से लगता है कि इस आंदोलन की उत्पत्ति दूबागुंटा के साक्षरता कार्यक्रम से हुई थी, जहां से यह पूरे राज्य में फैला। मगर थोड़ा सा गहरा जाएं तो पता चलता है कि दूबागुंटा को इस आंदोलन की प्रेरणा अक्षरज्योति आरंभिक पुस्तिका में एक पाठ 'श्रीपुरम सीताम्मा' ने दी। इस पाठ में सीताम्मा की कहानी थी। अपने गांव के पुरुषों पर शराब का असर जब असहनीय हो गया तो सीताम्मा ने गांव की सभी महिलाओं को इकट्ठा कर गांव में शराब का आना बंद कर दिया। इस कहानी को पढ़ने के बाद दूबागुंटा की महिलाओं ने भी तय किया कि अक्षर [illegible] पाठ की इस नायिका की कथा को वे अपने गांव में दोहराएंगी। जिन लोगों को लगा कि जिस कहानी ने एक राज्य व्यापी आंदोलन को प्रेरणा दी, वह सिर्फ एक कहानी नहीं होगी, उन्होंने इस कथा की उत्पत्ति की खोज आरंभ कर दी जो अंतत: उन्हें रंबीली मंडल के मारीपाडू गांव ले गई। असल में एक महिला मंडल की मीटिंग में एम. वीरायम्मा के

प्रयासों की चर्चा हुई जिसने शराब के खिलाफ अपने गांव की महिलाओं को लामबंद किया था। इस मीटिंग में भगवतुला धर्मार्थ ट्रस्ट की मूर्ती ने भी भाग लिया था, जिन्होंने ट्रस्ट के साक्षरता कार्यक्रम को इसकी जानकारी दी। इस समय साक्षरता कार्यक्रम के सदस्य रीडर 'जागृति' को तैयार कर रहे थे। उन्होंने इस कथा को 'श्रीपुरम सीताम्मा' के शीर्षक से अपने पाठ्यक्रम में शामिल कर लिया। तो फिर मारीपाडू के लिए प्रेरणास्रोत क्या था? उस समय वहां क्या परिस्थितियां थीं जिनके चलते वहां की महिलाएं एक साक्षरता आरंभिक पुस्तिका से प्रेरणा लेकर ऐसा कदम उठाने को बाध्य हुई।

ताडी-विरोधी संघर्ष में महिलाएं

सौजन्य : इंडिया टूडे

इस आंदोलन के कारणों और उसकी प्रकृति को समझने के लिए हमें साक्षरता कार्यक्रम से परे जाना होगा। इस आंदोलन को हमें एकाधिकारवादी और दमनकारी राज्य के प्रति बढ़ते जन विरोध के संदर्भ में देखना होगा, जिस राज्य की शासक वर्गों पर निर्भरता बढ़ती जा रही थी। अरक की बिक्री से राजस्व बढ़ाने के लिए तेलगू देशम पार्टी की सरकार ने 1980 के दशक के शुरू में वरुण वाहिनी कार्यक्रम चलाया। अभी तक अरक सिर्फ बोतलों में मिलती थी वह अब थैलियों में बिकने लगी, जिसे बड़ी मात्रा में लाना-ले जाना, पीना-पिलाना पहले से कहीं आसान हो गया। अरक के दुकानों की बिक्री जिला स्तर पर की जाती थी, जिससे शराब के व्यापारियों का एक समूचा वर्ग उठ खड़ा हुआ, शराब के व्यापार में जो करोड़ों रुपयों का वारा-न्यारा कर रहे थे। गांव स्तर पर अरक की दुकानें छुटभैया एजेंटों को चलाने के लिए दी जाने लगीं, जिन्होंने अरक को बेचने के लिए आक्रामक रणनीतियां अपनाई। इसका एक उदाहरण शराब के व्यापारियों और देहात के जमींदारों के बीच पनपा नापाक गठजोड़ था। दोनों के बीच ऐसा तालमेल था कि जमींदार अपने मजदूरों को दैनिक मजदूरी कूपनों के रूप में चुकाता था, जो अरक की दुकान पर जाकर उन कूपनों के बदले अरक की थैलियां ले लेते थे।

दूसरी ओर बढ़ती बेरोजगारी के कारण ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में गरीबी और बढ़ती जा रही थी। तिस पर आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में 30 से 50 प्रतिशत की वृद्धि हो गई। उधर इस परिस्थिति में मर्द लोग दिन भर काम करके लौट रहे थे तो अरक के नशे में धुत और खाली हाथ, घर के लिए न तो कोई पैसा और न राशन। अरक पीने वाले वर्गों पर एक नज़र दौड़ाई जाए तो पता चलेगा कि देहातों में इसे ज्यादा खेतिहर मजदूर पीते हैं। इसका एक पहलू सामाजिक-लिंग से भी जुड़ा है। यह सच है कि अनुसूचित जाति की महिलाएं भी शराब पीती हैं। कम से कम तेलंगाना में महिलाएं ताड़ी की आदी हैं, तो उधर पुरुष अरक के व्यसनी हैं, इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं कि इन्हीं जातियों और वर्गों की महिलाएं अरक के विरोध मे उठ खड़ी हुईं, क्योंकि उन्हें ही राज्य की आबकारी नीति का सारा बोझ उठाना पड़ रहा था।

17.3.2 शराब और पारिवारिक हिंसा

इन सबका परिणाम यह रहा कि पारिवारिक हिंसा में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। महिलाओं के प्रति हिंसा के कारण तेजी से बढ़ती गरीबी में ढूंढे जाएं, तो बढ़ती गरीबी के कारणों को भी हमें सरकार की आर्थिक नीतियों में ढूंढना होगा। परिवार महिलाओं के उत्पीड़न को बढ़ाता है और महिलाओं को पराधीन बना कर ही परिवार अपना वर्चस्व बनाए रखता है।

गर्मी में महिलाओं को खेती के काम से आराम मिल जाता है। यही वह समय है जब वे साक्षरता और जन-जागरण कार्यक्रमों में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेती हैं। दूबागुंटा, नेल्लोर की रोजम्मा और उनकी बहनों का अनुभव हमें यही बताता है। उधर पुरुष आदतन अरक पीते और महिला मंडल की बैठकों में रुकावट डालते थे। यह महिलाओं को बड़ा खलने लगा था। आरंभिक पुस्तिका के पाठ ने चिंगारी सुलगाने का काम किया। साक्षरता की कक्षाओं के अलावा वे अब काम पर और खेतों में इस समस्या पर बातचीत करने लगी। मिलावटी, जहरीली शराब पीने वालों की तादाद भी बढ़ रही थी। अपने बेटों को शराबी होते देखना महिलाओं के लिए असहनीय था। विवाह से पूर्व अपने पिताओं के हाथों पिटते वक्त वे सोचती थी कि उनके पति उनके उद्धारक बनेंगे। मगर उनसे निराशा मिलने के बाद बेहतर जीवन की उनकी उम्मीदें अब अपने बेटों पर टिकीं थीं। वे जब पति की हिंसा का शिकार बनीं और अपने बेटों को उन्होंने अकाल मौत के मुंह में जाते देखा तो महिलाओं के पास प्रतिरोध के अलावा कोई दूसरा चारा नहीं बचा था। जीवन की इन कठोर वास्तविकताओं, साक्षरता कार्यक्रम की आरंभिक पुस्तिका, दूबागुंटा की घटना और जिलाधिकारी के सहयोग ने सुलगती आग को भड़का दिया।

अपने अनुभव से सीखें 1

एल्कोहलिक एनोनिमस जैसे किसी सामाजिक संगठन से मिलिए और सामाजिक कार्यकर्ताओं से शराब के खतरे के बारे में पूछिए। आपको जिन-जिन मामलों की जानकारी मिलती है, उस पर नोट तैयार कीजिए। इस भाग को दुबारा पढ़िए। क्या आप इसे अब बेहतर ढंग से समझ गए हैं।

17.4 अरक के खिलाफ महिलाओं का संघर्ष

आंदोलन के विभिन्न चरणों, सरकारी दृष्टिकोण और लोगों की हिस्सेदारी की जटिलताओं पर नज़र डालना जरूरी है। महिलाओं ने शराब की बिक्री रोकने के लिए एक रणनीति बनाई और उन्होंने शराब की बिक्री को इस हद तक रोक दिया कि शराब की दुकानों के मालिकों को दुकान बंद कर जाना पड़ा। उधर घर में उन्होंने धमकी दी कि अगर मर्दों ने शराब पी तो वे जहर खाकर आत्महत्या कर लेंगी। उन्होंने शराब की गाड़ियों का रास्ता रोका। अधिकारियों ने भी शुरू में उनके प्रयासों को सराहा और महिलाओं को लगा कि उन्हें भी कुछ कर सकने का अधिकार है। यह बात समाचार-पत्रों तक जा पहुँची।

कोंडापुरम मंडल का साईपेटा गॉव आंदोलन का दूसरा मील का पत्थर बना। मई-जून तक आंदोलन छुट-पुट गांवों तक सीमित था। मगर जुलाई तक अरक के विरोध में 40 गांव उठ खड़े हुए। इस पहले चरण में आंदोलन को जिलाधिकारी और पुलिस सुपरिंटेंडेंट जैसे अधिकारियों से समर्थन मिला। सो तब तक महिलाओं के पास लड़ने को कुछ विशेष नहीं था। महिलाओं ने शराब बंदी कुछ ऐसे प्रभावशाली ढंग से की कि अरक के ठेकेदार तक को महिलाओं के तर्क उचित, अकाट्य लगे। ठेकेदारों को तभी चिंता सताने लगी जब आंदोलन एक जिले से दूसरे जिलों में फेलने लगा। तब भी उन्होंने आंदोलन में रुकावट डालने की नहीं सोची। लेकिन शीघ्र ही ठेकेदारों ने महसूस किया कि अगर आंदोलन को इसी तरह चलने दिया गया तो उन्हें भारी नुकसान उठाना पड़ेगा। बस तभी से उन्होंने महिला आंदोलनकारियों को तंग करने के लिए पुलिस, प्रशासन और गुंडों का सहारा लेना शुरू किया।

क्या आप जानते हैं? 2

वरीकुदापाडु मंडल में एक ठेकेदार ने एक महिला के खिलाफ़ रिपोर्ट दर्ज कराई कि उसने शराब के 56 पैकेट चुराए हैं। लेकिन सच कुछ और था, उसे जब शराब की दुकान बंद करने को कहा गया तो वह गुपचुप खेतों में जाकर अरक बेचने लगा। महिलाओं ने यह सुना तो उन्होंने अरक की थैलियां जब्त कर उन्हें जला दिया। पंद्रह जुलाई तक और दुकानें बंद कर दी गईं। बाईस जुलाई को महिलाओं ने घोषणा की कि अरक पीने या बेचने वालों पर 500 रुपये का जुर्माना लगाया जाएगा। फिर 22 जुलाई को पहली बार पुलिस ने महिला आंदोलनकारियों पर रावूर में लाठी चार्ज किया। अब ठेकेदारों ने भी अपना रवैया बदल दिया। वे आंदोलनकारी महिलाओं को बम से उड़ाने और पुलिस और गुंडों से पिटवाने मरवाने की धमकी देने लगे। सो अब महिलाओं को हिंसक कार्रवाइयों का सामना करना पड़ा मगर उन्होंने हार नहीं मानी। जुलाई बीतने तक 864 दुकानों में से 200 बंद कर दी गईं तो ठेकेदारों ने हारकर हैदराबाद जाकर आबकारी आयुक्त की शरण ली। आबकारी आयुक्त ने नेल्लोर के संयुक्त कलक्टर को बुला भेजा और उसे अरक की दुकानों को हर हालत में खुलवाने का आदेश दिया।

अरक के ठेकेदारों ने राज्य सरकार से कहा कि अगर सरकार उनकी जमानत राशि लौटा दे तो वे अपनी दुकानें बंद कर देंगे। आबकारी आयुक्त ने कहा कि उन्हें जमानत राशि तो चुकानी ही पड़ेगी मगर सरकार अरक की दुकानों को पूरी सुरक्षा देगी। आबकारी वृत्त निरीक्षक शेख नूर मोहम्मद ने रावूर मंडल में सारी दुकानें खुलवा दीं मगर उसके वहाँ से प्रस्थान करते ही महिलाओं ने फिर से उन्हें बंद कर दिया। जो अरक पीते थे उन्हें पहले पांच थप्पड़ मारे गए। अरक पीते दुबारा पकड़े गए पुरुषों को दस थप्पड़ों की सजा दी गई। शराब की जीपों पर हमला किया गया, दुकान के मालिकों को बंद करने की चेतावनी दी गई। जिन महिलाओं के खिलाफ थानों में मामले दर्ज थे, जब उन्हें पेश होने का बुलावा भेजा गया तो उनके साथ सैकड़ों महिला आंदोलनकारी थाने जा धमकती और बेलाग होकर कहती कि उन्होंने भी सड़क जाम और दुकानों पर हमला किया था सो पुलिस उन्हें भी गिरफ्तार करे। पुलिस को समझ नहीं आया कि वह उनसे कैसे निपटे।

17.4.1 अरक-विरोधी आंदोलन का प्रसार

जन चैतन्य वेदिका ने 3 अक्तूबर को उदयगिरि मंडल में हुई एक आमसभा में राज्य-व्यापी आंदोलन छेड़ने का आह्वान किया। आठ अगस्त से महिलाओं ने अरक की दुकानों के साथ-साथ अरक के गोदामों पर भी धरना देना शुरू कर दिया। फलस्वरूप ठेकेदारों ने राज्य सरकार पर दबाव बढ़ा दिया है। आबकारी विभाग ने घोषणा की कि 16 अगस्त से अरक की दुकानें खोली जाएंगी। आबकारी विभाग ने राज्य सरकार को अपनी प्रार्थना में शिकायत की कि आंदोलन को जिलाधिकारी का समर्थन प्राप्त है, जो कानून और व्यवस्था संबंधी उस जिले का प्रशासनिक प्रभारी था।

इसके बाद जिला कार्यालयों को सरकार से निर्देश मिला कि वे अरक की दुकाने खुलवाने में सहयोग दें। जिलाधिकारी ने भी कहा कि इसमें उसे कोई आपत्ति नहीं और आबकारी विभाग इसके लिए एमआरओ (मंडल संसाधन अधिकारी) की सेवा ले सकता है। तब तक शराब की दुकानें खुलवाने में एमआरओ की कोई भागीदारी नहीं रही थी। लेकिन वे जब दुकानें खुलवाने गांवों में गए तो महिला आंदोलनकारियों ने उन्हें घर दबोचा। आंदोलन को तोड़ने के लिए सरकार ने तरह-तरह के जतन किए। महिलाओं को समझाया गया कि नशाबंदी से राज्य को राजस्व की भारी हानि होगी और सरकार को चावल और कैरोसीन (मिट्टी के तेल) से सबसीडी हटानी पड़ेगी।

तिस पर महिलाओं ने कहा कि वे चावल से सबसीडी हटाने की मार झेल सकती हैं लेकिन शराब की अंचिन (नीलामी) उन्हें स्वीकार नहीं। उन्होंने दुकानों को जबरिया बंद करना जारी रखा। नेल्लोर के कलक्टर राजू ने महिलाओं से कहा कि वे अपने पुरुषों पर कड़ी नज़र रखें और राज्य सरकार शराब से मिल रहे राजस्व के बिना काम नहीं चला सकती। अभी तक महिलाओं ने समझा था कि उनकी लड़ाई पुरुषों और ठेकेदारों से है मगर अब जाकर उन्हें एहसास हुआ कि उनकी असली लड़ाई तो सरकार से है। सो वे आंदोलन को अधिक गंभीरता से लेने लगीं और अपनी मांगें पूरी करवाने के लिए और लगन व समर्पण से जुट गईं। आंदोलन में यूं राजनीतिज्ञों की कोई भूमिका नहीं थी, मगर अक्षरज्योति के कुछ स्वयंसेवियों ने कुछ सीमा तक आंदोलन को दिशा दी। कुछ इलाकों में आंदोलन का नेतृत्व एक प्रगतिशील महिला संगठन, स्त्री विमुक्ति, ने किया तो कुछ इलाकों में इसकी बागडोर अम्बेडकर युवजन संघ और दलित महासभा के सदस्यों ने संभाली। मगर नेतृत्व की भूमिका आंदोलन के लिए कार्यक्रम तय करने तक सीमित थी। ब्यौरे और काररवाई महिलाएं इस तरह से तय करती थीं कि जो समय-समय पर स्थिति के अनुसार बदलते रहते थे।

विरोध के नित नए स्वरूपों पर प्रयोग करते-करते महिलाओं ने आंदोलन को आगे बढ़ाया। महिलाओं ने रात में गांवों में गश्त लगाई और दोषी लोगों को पकड़ा, शराबी पतियों की सजा तय की और छिपे अरक के भंडारों का पता लगाया। जन चैतन्य वेदिका और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी की महिला शाखा जैसे अन्य संगठनों ने जन-गीत लिखे और राज्य सरकार को जन-याचिकाएँ भेजीं। केसों पर आगे काम करने और आंदोलन के संचालन कार्य को देखने के लिए एक संयुक्त काररवाई समिति गठित की गई। नेल्लोर जिले में 23 अगस्त को सैकड़ों अरक की दुकानें बंद कर दी गईं। आंदोलन में महिलाएं और बड़ी संख्या में कूद पड़ीं।

इसी बीच यह जानकारी मिली कि सरकार आगामी वर्ष के लिए अरक की अंचिन (नीलामी) पहली सितंबर को करने जा रही है। पर सरकार ने असल में अलग-अलग जिले के लिए नीलामी की तारीख अलग-अलग रखी थी ताकि बड़े ठेकेदार नीलामियों में शामिल हो सकें। इससे छोटे ठेकेदार भड़क उठे। नेल्लोर के अरक के एक ठेकेदार रावुला अंकैय्या गौड ने घोषणा कि वह नेल्लोर में नीलामी नहीं होने देगा। उसने यह भी घोषणा की कि वह अरक पर प्रतिबंध लगाने के लिए काम करेगा। वह दरअसल आंदोलन को इस तरह बुरे इरादों के साथ हड़प लेना चाहता था। सभी जिलों से आकर जनता ने नेल्लोर की नीलामी पर विरोध प्रदर्शन किया। बहरहाल महिला आंदोलनकारियों पर इसका कोई गंभीर प्रभाव नहीं पड़ा। मगर स्वयं ठेकेदार अरक की नीलामी नहीं चाहते थे। जिला आबकारी निरीक्षक केशवलू नायडू ने कहा कि नीलामी अगर रोकी जाएगी तो राज्य सरकार हर मंडल में शराब की दुकान खोलेगी। सरकार को झुकना मंजूर नहीं था। उसने घोषणा की कि वह उन लोगों को लाइसेंस देगी जो इन दुकानों से शराब खरीदकर गांवों में बेच रहे थे। यह वारंगल से शुरू किया जाएगा और इससे उन लोगों को अच्छी आमदनी मिलेगी। नेल्लोर में भी ऐसा करने की संभावनाएँ तलाशी गईं तो महिला आंदोलनकारियों ने धमकी दी कि वे इन दुकानों को जला डालेंगी और उनकी बिक्री किसी भी सूरत में नहीं होने देंगी। तब तक उन्हें आंदोलन के पिछले दो महीनों में कुछ अनुभव मिल चुका था।

जरा सोचिए 2

1) क्या आप सोचते हैं कि महिलाएँ शराब के अलावा अन्य सामाजिक बुराइयों के खिलाफ भी एकजुट हो सकती हैं? अपना उत्तर लिखिए।

2) क्या महिलाओं के लिए यौन उत्पीड़न, असमान वेतन, देहज इत्यादि के खिलाफ संगठित होना संभव है? यह किस तरह कारगर ढंग से किया जा सकता है, क्या आप कुछ बता सकते हैं?

नीलामी के खिलाफ 11 सितंबर के दिन नेल्लोर में प्रदर्शन रखा गया। सुबह से ही महिलाएं नेल्लोर आने लगीं। महिलाओं ने जनगीत गाए और नृत्य किया, कुछ महिलाएं आकर्षक कपड़े तो कुछ काम के कपड़े पहनकर आई थीं। लगभग 40,000 महिला आंदोलनकारियों ने शराब पर प्रतिबंध लगाने की मांग उठाई और इसमें किसी भी बड़ी राजनीतिक पार्टी ने कोई पहल नहीं की थी। नीलामी 13 सितंबर के लिए स्थगित कर दी गई। उधर ठेकेदारों ने 20 सितंबर तक नीलामी में भाग नहीं लेने का फैसला लिया सो नीलामी स्थगित होती रही।

17.4.2 राजनीतिक पहलू

राजनीतिक दलों ने 11 सितंबर के नेल्लोर प्रदर्शन में महिला-आंदोलनकारियों के संकल्प को देखा तो उन्होंने भी आंदोलन की अग्रिम पंक्ति में शामिल होने का निश्चय किया। तेलुगू देशम पार्टी, भारतीय जनता पार्टी और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी 18 सितंबर को आंदोलन में उतर गईं। महिला आंदोलनकारियों ने घोषणा की कि इस बार चुनावों में नेताओं के भाग्य का फैसला शराब करेगी। उधर स्वयं सेवी संगठन जागृति ने शराब के राजकीय प्रायोजन के सवाल पर आंध्र-प्रदेश के उच्च न्यायालय में एक याचिका दायर कर दी। याचिका ने आबकारी कानून की कुछ धाराओं पर सवाल उठाए।

डा. रमा देवी, सीता लक्ष्मी, विजया आदि महिलाओं नें राज्य का दौर कर हैदराबाद में 28 सितंबर को होने वाली सभा का प्रचार किया। तभी सरकार ने घोषणा की कि नीलामी फिर से 26 सितंबर को की जाएगी। उस दिन नीलामी स्थल पर महिला आंदोलनकारियों और पुलिस के बीच बड़ी झड़पें हुई। महिलाएँ नहीं चाहती थीं कि कोई ठेकेदार या सरकारी अधिकारी नीलामी हॉल के अंदर आए। पुलिस ने उन्हें रोका तो आंदोलनकारियों ने पुलिस के घेरे को तोड़ दिया और वे नीलामी कक्ष में घुस आईं। पुलिस की लाठी की परवाह किए बिना महिलाएँ कलक्टर के कक्ष में जा घुसीं जहाँ उन्होंने नीलामी बंद करने की मांग की।

अनुभव से सीखें 2

शराब पीकर होने वाले अपराधों और दुर्घटनाओं के समाचारों की अखबारों से कतरनें काट कर एक फाइल बनाएँ। क्या आपको याद है कि ब्रिटेन की एक जानी-मानी हस्ती को 1997 में ऐसी ही एक कार दुर्घटना में जान गंवानी पड़ी थी जिसे ड्राइवर शराब पीकर चला रहा था। अध्ययन केन्द्र के दूसरे विद्यार्थियों से अपने नोट व उत्तर मिलाइए।

28 सितंबर तक अरक-विरोधी आंदोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। इसने हैदराबाद में होने वाली अगली बैठक की भूमिका तैयार करने का काम किया और महिलाओं में उत्साह का संचार किया। नेल्लोर से दो हजार महिला आंदोलनकारी हैदराबाद आईं। फिर पहली अक्तूबर से महिलाओं ने अपने आंदोलन का रुख सरकार की ओर मोड़ दिया क्योंकि सरकार ने सारे अरक व्यापार को अपने हाथ में ले लिया था।

कुछ ही महीने में आंदोलन राज्य के आठ सौ गाँवों में फैल गया और अरक की लगभग पाँच सौ दुकानें

जबर्दस्ती बंद कर दी गई। अरक की नीलामी 32 बार स्थगित की गई। उधर ओंगोले में महिलाओं ने 14 सितंबर की नीलामी भी रुकवा दी। नीलामी के संचालन और निरीक्षण के लिए आए आबकारी उपायुक्त का घेराव किया गया। वह जब पीछे के दरवाजे से नीलामी कक्ष में पहुँचा, तो इसकी ख़बर लगते ही महिलाएँ भी पुलिस का घेरा तोड़ कर वहाँ जा धमकीं। उधर कर्नूल में पुलिस ने जब नीलामी रोकने के लिए धरना देने से महिलाओं को रोका तो एक सयानी माँ ने पुलिस इंस्पेक्टर की धुनाई कर डाली। शराब की बिक्री को रोकने के बजाए पुलिस उन्हीं महिलाओं को प्रताड़ित कर रही थी, जो पुलिस के काम को ही अंजाम दे रही थीं। कोई एक हजार महिला आंदोलनकारियों ने कर्नूल में 16 सितंबर को शराब की नीलामी के विरोध में प्रदर्शन किया। फिर 27 सितंबर को सुंदीपेंटा में एक समिति गठित की गई जिसकी संयोजक भलिका बनीं। एक आम सभा हुई। पांच अक्तूबर को अरक के ठेकेदार राजशेखर रेड्डी ने लक्ष्मण नाम के अरक-विरोधी कार्यकर्ता को जूपाडू मंडल में अगवा कर लिया। बाद में उसे झूठे आरोप लगाकार पुलिस को सौंप दिया गया कि वह अवैध शराब बेच रहा था। मगर महिलाओं ने तत्काल काररवाई की और लक्ष्मण को रिहा करा लिया। अरक बेचने वाले जिस दुकानदार ने अपनी दुकान बंद की उसे ठेकेदारों ने उराया धमकाया। 18 अक्तूबर को संध्या और उसका गुट एक व्यापक अभियान यात्रा पर निकल पड़ा। उन पर रेड्डी के गुंडों ने हमला किया और धमकाया कि वे अरक विरोधी अभियान से बाज आएं। इस आंदोलन में एक नई बात यह हुई कि आंदोलनकारी महिलाओं को पुलिस थानों में जाकर अधिकारियों के साथ अपनी माँगों पर बातचीत करने का खूब अभ्यास हो गया।

17.4.3 जुझारु पहलू

महिलाओं को पता चला कि अरक भरी लारियां सुंदीपेंटा आ रही हैं तो उन्हें गाँव में घुसने से रोकने के लिए चार गाँवों की महिलाएँ सुंदीपेंटा से बाहर स्थित पुलिस चेक-पोस्ट पर जा पहुँची। उन्होंने दो दिन तक वहाँ पहरा दिया, वहीं खाना पकाया और सोई भी वहीं। तभी अधिकारियों ने उन्हें बताया कि वे लॉरियों को गोदाम में भेजकर उन्हें सील कर देंगे। उन्होंने महिला आंदोलनकारियों को भरोसा दिलाया कि वे अरक की बिक्री नहीं होने देंगे। आंदोलनकारियों ने उनका विश्वास कर लिया। मगर 5 अक्तूबर से पहले-पहले गाँवों में अरक फिर से बिकने लगी। अधिकारियों ने आंदोलनकारियों को दिया अपना वचन तोड़ दिया था। फिर क्या था, महिलाओं ने दुकानों पर हमला बोल दिया और अरक की थैलियाँ नष्ट कर दीं। जिन 26 महिलाओं ने दुकानों पर धरना दिया उनके खिलाफ मामला दर्ज किया गया और उन्हें गिरफ्तार कर आत्माकुर अदालत में पेश किया गया। न्यायाधीश ने इन महिलाओं को रिहा कर गाड़ी में वापस उनके घर छोड़ने का आदेश दिया। मगर सब-इंस्पेक्टर इन थकी मांदी और भूखी-प्यासी महिलाओं को आत्माकुर में ही छोड़ गया, इनके पास घर वापस जाने को पैसे तक नहीं थे। तत्कालीन मुख्यमंत्री विजय भास्कर रेड्डी श्रीसाइलम के दौरे पर गए तो 800-900 महिलाएँ उन्हें ज्ञापन देने उनके पास गईं। ज्ञापन पर सरसरी नज़र डाल रेड्डी ने कहा कि वह इस पर बाद में विचार करेंगे। मुख्यमंत्री के रवैए को लेकर महिलाओं को गुस्सा आ गया और वे उनसे तत्काल उत्तर देने की मांग करने लगी। पुलिस ने उन्हें वहाँ से हटा दिया, तो महिलाओं ने मुख्यमंत्री को बाहर निकलने से रोकने के लिए प्रवेश द्वार पर धरना शुरू कर दिया। मुख्यमंत्री के कार-काफिले के लिए रास्ता साफ करने के लिए पुलिस ने महिलाओं पर लाठी चार्ज किया मगर महिलाएं अरक-विरोधी नारे लगाती रहीं। उनके इस जुझारूपन के ठोस कारण थे। अरक की अनुपस्थिति से उनके जीवन में भारी फर्क आ गया था। उनका परिवार हर महीने 300-400 रुपये बचा रहा था, जो कभी उनके मर्द अरक में उड़ा देते थे। परिवारों और गाँवों में हिंसा और लड़ाई की वारदातें कम हो गई थीं। जो लोग अरक के आदी थे उन लोगों ने इस बदलाव को स्वीकार किया, जो कि आज भी दिखाई देता है।

17.5 सारांश

अरक-विरोधी आंदोलन में महिलाओं की सहभागिता का अध्ययन हमें घर और बाहरी दुनिया, निजी और सार्वजनिक-कार्यक्षेत्र के बीच मौजूद सीमाओं की पुनर्समीक्षा के लिए बाध्य करती है। राज्य और निजी और सार्वजनिक के बीच विभाजन को लेकर हमारे बीच जो भी धारणाएँ हैं हमें उन्हें त्यागना होगा। इस आंदोलन की एक बड़ी विशेषता यह थी कि इसने गरीब देहाती महिलाओं और स्थानीय नौकरशाही से लेकर राज्य के मुख्यमंत्री तक विभिन्न स्तरों पर सराकरी तंत्र के बीच एक संबंध कायम किया था। इससे महिलाओं को शासक वर्ग के ढाँचे और राज्य के ढाँचे से उसके संबंध को नज़दीकी से देखने जानने का मौका मिला। महिलाओं को अब हिंसा पर एक नया नजरिया मिला, जिसे उन्हें रोजाना की जिंदगी में सहना पड़ता था। अभी तक महिलाओं ने अपने जीवन में होने वाली हिंसा को जितना समझा था वह घर की चारदीवारी तक सीमित था, अक्सर यह दासता उन्हें स्वीकार्य थी क्योंकि इसमें उनके भाई, पिता और पति शामिल थे। फिर इसके पीछे यह धारणा भी थी कि ऐसे निजी मामलों को घर की चारदीवारी में ही रहना चाहिए।

इस आंदोलन ने सामाजिक-लिंग संबंधों की पुनर्रचना की क्योंकि महिलाएँ अब जीवन और पारिवारिक हिंसा से जुड़ी समस्याओं की सबके साथ मिल-बैठकर चर्चा ही नहीं कर रही थीं। बल्कि वे यह भी विचार-विमर्श कर रही थीं कि जो पुरुष महिलाओं द्वारा बनाई गई आचार-संहिता को भंग कर रहे हैं उनके साथ कैसा व्यवहार किया जाए। एक रिपोर्ट में एक मुस्लिम महिला के बारे में बताया गया था कि उसने यह घोषणा की थी कि अगर उसका मर्द अरक पीकर घर लौटा तो वह उसका सिर और मूंछे आधा मुड़वा कर उसे गधे से बांधकर अपने गाँव में घुमाएगी। महिलाएँ अपनी स्थिति और पुरुषों की स्थिति में मौजूद विरोधाभास के बारे में खुलकर बोलने लगीं थीं। हालांकि दोनों को उत्तरजीविता की समस्याओं से जूझना पड़ रहा था, जो कि उनके वर्ग के अनुभव की विशेषता है, लेकिन यहां अनुभवों और उसके परिणामों में सामाजिक-लिंग भेद थे।

इस तरह इस इकाई में हमने औपनिवेशिक और स्वतंत्र भारत में सामाजिक पवित्रता, मिताचार और नशाबंदी के बारे में चर्चा की। हमने इसमें सारक्षता से उपजी जन चेतना के परिणाम स्वरूप आंध्र प्रदेश में 1992 में हुए अरक विरोधी महिला आंदोलन का विश्लेषण किया। यहां हमने शराब और घरेलू हिंसा के बीच के संबंध को बताया और फिर यह जानकारी दी कि महिलाओं ने इसके खिलाफ किस तरह संघर्ष किया। ऐसा करते हुए हमने अरक-विरोधी आंदोलन की विस्तार से इसके राजनीतिक और जुझारु पहलुओं समेत चर्चा की। इस इकाई के अध्ययन से हमें पता चलता है कि महिलाएं आंदोलन चलाने और उसका नेतृत्व करने में कितनी सक्षम हैं, विशेषकर जब शराब का नशा जैसी कोई बुराई उनके घर परिवार और सामाजिक ताने-बाने को छिन्न-भिन्न करने में लगी हो।

17.6 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

अरक	:	एक तरह की देशी शराब जिसे आंध्र प्रदेश में अरक के नाम से जाना जाता है।
अंचिन	:	नीलामी।
आबकारी	:	शराब की बिक्री पर लगने वाला कर।
सामाजिक लिंग-सोच	:	पुरुषोचित और स्त्रियोचित भूमिकाओं और अभिवृत्तियों के अनुरूप व्यक्तियों का समाजीकरण।
नैतिकता	:	नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य।

उत्पीड़न : अन्यायपूर्ण दमन।

गश्त : टोलियों में चौकसी निगरानी करने का काम।

पराधीन बनाना : किसी व्यक्ति को निम्न स्थिति में रखना।

17.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

तेन्डुलकर, डी.जी. (1969) *लाइफ ऑफ मोहनदास करमचंद गांधी.* खंड 2-6. प्रकाशन विभाग. भारत सरकार.

पाइवार, डी. (1973). *प्योरिटी क्रूसेड:सेक्सुअल मोरलिटी एंड सोशल कंट्रोल. 1868-1900.* कनेक्टिकट ग्रीनवुड प्रेस.

स्टिम्पसन, सी.आर. और ई.एस. पर्सन. (1980) (संपा.) *वीमेन:सेक्स एंड सेक्सुएलिटी.* शिकागो यूनिवर्सिटी.

इकाई 18 शोध रिपोर्ट का लेखन

रूपरेखा

18.0 लक्ष्य और उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 संबोधित या लक्ष्य समूह

18.3 रिपोर्ट की सामग्री

18.4 आरंभिक भाग

- 18.4.1 रिपोर्ट के मुख्य भाग
- 18.4.2 रिपोर्ट की संदर्भ सूची बनाना

18.5 रिपोर्ट लेखन के आगे के पहलू

- 18.5.1 नैतिक पहलू
- 18.5.2 रिपोर्ट का प्रकाशन

18.6 सारांश

18.7 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

18.0 लक्ष्य और उद्देश्य

शोध रिपोर्ट का लेखन शोधकार्य का अंतिम चरण और अभिन्न अंग है। यह तभी किया जाता है जब शोध से संबंधित आंकड़ें या जानकारी एकत्र कर उसे समेकित और विश्लेषित कर लिया गया हो। रिपोर्ट में शोधकर्ता द्वारा अपनायी गई विभिन्न विधियों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। रिपोर्ट का लक्ष्य आपको निम्न की प्रासंगिकता समझाना है:

- लक्ष्य समूह,
- रिपोर्ट की भिन्न शैलियां या प्रकार,
- रिपोर्ट की सामग्री–इसका आरंभिक भाग, मुख्य भाग और रिपोर्ट की संदर्भ सूची बनाना,
- रिपोर्ट के नैतिक पहलू और उसका प्रकाशन, और
- रिपोर्ट का प्रभाव और उसका उपयोग।

शोध रिपोर्ट लेखन का प्रयोजन लक्ष्य समूह को अनुसंधान या शोध कार्य से संबंधित विशेष बिन्दुओं के बारे में बताना होता है। जिससे उसके पास एक ठोस दस्तावेज में शोध के विषय से जुड़े सारे पहलू मौजूद रहते हैं। इससे अन्य लोगों को अनुसंधान कार्य का अध्ययन करने और उस पर टीका-टिप्पणी करने में सहायता मिलती है। शोध एक ऐसा उपक्रम है जिसके लिए अनुसंधानकर्ता को उस विषय से संबंधित साहित्य से परिचित और अपने शोध कार्य को संबंधित ज्ञान के भीतर समुचित परिप्रेक्ष्य में रखने में समर्थ होना चाहिए। शोध के संबंधित विषय को आगे बढ़ाने और उस पर नए मत या सिद्धांतों के विकास में उपयोगी बनाने के लिए यह अनिवार्य है। इसलिए शोध रिपोर्ट का प्रयोजन देश और विदेश के अनुसंधानकर्ताओं को शोध के लिए उपयोग में लाई गई विधियों, सिद्धांतों, डाटा व्याख्या और संदर्भ सूची सहित रिपोर्ट का विश्लेषण प्रदान करना है।

18.1 प्रस्तावना

समाज-शास्त्र में शोध कार्य में सूचना का आदान-प्रदान काफी हद तक सेमिनारों, कनवेन्शनों, परिचर्चाओं और पत्राचार के माध्यम से होता है। शोध कार्य के आरंभिक चरणों पर जब परिकल्पनाएं अस्थायी हों और सही दिशा की तलाश हो तब ये सभी विधियां सूचना के आदान-प्रदान में बड़ी उपयोगी और प्रभावी होती हैं। ये वास्तविक प्रक्षेत्र कार्य और रिपोर्ट के रूप में उसके विकास के बीच के फासले को कम करते हैं। मगर सचाई तो यह है कि शोधकर्ताओं को अंतत: प्रकाशित रिपोर्टों पर ही निर्भर रहना पड़ता है जो स्थानीय परिस्थितियों से परे होती हैं। इन विधियों से शोधकर्ता को अपने संप्रेषण के महत्व को समझने में सहायता मिलती है क्योंकि शोध कार्य के प्रकाशित होने पर जब प्रशंसा और आलोचना होती है, तब किए हुए शोधकार्य का विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है।

इस इकाई में हमने अपनी चर्चा की शुरुआत लक्ष्य समूह के विचार के परिचय से की है जिसकी ओर संकल्पनात्मक रूप से शोध की दिशा होती है। इसके बाद हम रिपोर्ट की शैली या उसके प्रकार पर आते हैं जिसे रिपोर्ट की विषयवस्तु के अनुसार समूची प्रक्रिया को प्रस्तुत करने के काम में लाया जाता है। तत्पश्चात हम रिपोर्ट की वास्तविक सामग्री पर आते हैं और फिर रिपोर्ट की आरंभिक बातों के बारे में चर्चा करते हैं। फिर हम रिपोर्ट के मुख्य भाग और उन तथ्यों के बारे में बात करते हैं जिन्हें शोधकर्ता को रिपोर्ट की संदर्भ-सूची तैयार करते समय ध्यान में रखना चाहिए। इन तकनीकी बातों को शोधकर्ता को जानना चाहिए जिसमें रिपोर्ट लेखन की नैतिकता और उसके प्रकाशन से जुड़े महत्वपूर्ण पहलू भी शामिल हैं। अंत में हमने सारांश में रिपोर्ट के प्रभाव और उसके उपयोग के बारे में संक्षेप में बताया है।

18.2 संबोधन या लक्ष्य समूह

कोई शोधकर्ता अपनी रिपोर्ट को जिस तरीके और विधि से प्रस्तुत करता है उसमें वह सिर्फ अपने विषय, डाटा संग्रह और विश्लेषणात्मक विधि को परिप्रेक्ष्य में ही नहीं रखता है। बल्कि इसके लिए उसे अपने लक्ष्य या भावी संबोधन समूह को भी ध्यान में रखना होता है, जो कि अति महत्वपूर्ण है। एक दृष्टिकोण विशेष के प्रति शोधकर्ता की प्रतिबद्धता ही यह तय करती है कि वह किस व्यक्ति या समूह से मिलना चाहेगा। इसलिए कुछ शोधकर्ता, सिर्फ उसी संगठन के लिए लिखते हैं जिससे वे जुड़े हैं, भले ही वृहत्तर समाज से उनका कैसा ही संबंध हो। कुछ ऐसे शोधकर्ता भी हैं जो सरकारी नीति को प्रभावित करने के लिए लिखते हैं तो वहीं परिवार परामर्शदाता (फेमिली काउंसेलर) दैनिक जीवन की परस्पर-व्यवहार संबंधी समस्याओं पर लिखते हैं। मगर यही सब कुछ नहीं है। एक संबोधन उप-समूह भी हो सकता है जिसे शोधकर्ता संबोधित करता है। इस प्रकार शोधकर्ता कुछ चुनिंदा लोगों या एक विशाल संबोधन-समूह को संबोधित करता है। इसलिए यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दूसरे अनुसंधानकर्ताओं के लिए लिखना बड़े जन-समूह के लिए लिखने से हटकर है।

जरा सोचिए 1

आपके विचार में शोधकर्ता के लिए यह आवश्यक क्यों है कि वह एक लक्ष्य संबोधन समूह को ध्यान में रखकर चले? उत्तर लिखिए।

इस तरह के शोध लेखन के संबंध में एक बड़ी समस्या यह है कि समाज विज्ञानी मुख्यत: अपने विषय में सक्रिय अन्य शोधकर्ताओं को रखकर ही चलते हैं। किंतु इस कारण ये अपने सरोकार के विषय में अधिक गहराई से मंथन और लेखन कर सकते हैं। उधर जनोन्मुखी लेखक को एक लोकप्रिय शैली में लिखना होता है। मगर इस प्रक्रिया में वह समस्या का अति सरलीकरण कर बैठता है ताकि वह

अपनी बात ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचा सके। यह बात अपने आप में अतिशयोक्ति तो हो सकती है मगर यह स्थिति संदेह से परे है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि विशाल संबोधन समूह तक जाने वाले शोधकर्ताओं को विवादस्पद विषयों से हटकर चलना पड़ता है और इसके लिए उन्हें ऐसे सामान्यीकरण भी करने पड़ते हैं जो प्राय: प्रामाणिकता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते।

इसे हम अभिजात्य/जनसाधारण विभाजन कहते हैं। यह विभाजन समाज विज्ञान में प्रयोग की जाने वाली कार्यप्रणाली की किस्म के साथ ही उत्पन्न होता है। जो शोधकर्ता परिष्कृत और विस्तृत विधियां अपने शोधकार्य के लिए अपनाते हैं, इसके परिणामों को इस तरह से प्रस्तुत करना नहीं चाहते या नहीं कर पाते जिससे एक विशाल संबोधन-समूह उसकी तरफ आकर्षित हो पाए। उनकी रिपोर्टों को लोकप्रिय बनाने के लिए संवेदीकरण सिद्धांतों का प्रयोग भी बड़ा कठिन होता है। लेकिन यहां यह बात नोट की जानी चाहिए कि जानकार और अधिक शिक्षित संबोधन-समूहों की संख्या में विशेष वृद्धि से शोधकर्ता के लिए तकनीकी विवरणों और सटीक विश्लेषण का संप्रेषण सहज हो जाता है। दूसरी ओर कुछ शोधकर्ताओं की कार्य-प्रणाली ऐसी होती है कि वे सिद्धांतों का प्रयोग बड़ी सहजता से गंभीर विद्वता के मानकों की अवहेलना किए बिना कर लेते हैं। इसलिए समाज विज्ञान के शोध का प्रयोग व्यापक संबोधन-समूह को आकर्षित करने के लिए किए जाने की पूरी संभावनाएं हैं। मगर हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यह संबोधन-समूह कौन है। समाज विज्ञानियों ने इन दो चरम स्थितियों के बीच का मध्यम मार्ग अपनाने का प्रयास किया है। इसलिए यह अनिवार्य है कि सामाजिक विज्ञान की रिपोर्ट को आंकड़ों और वृत्तिभाषा (या तकनीकी भाषा जिसे 'अंग्रेजी' में जार्गन कहा जाता है) से इतना बोझिल, इतना भी तकनीकी न बनाया जाए कि वह उन साधारण लोगों की समझ से परे बन जाए जो उसमें रुचि रखते हैं। दूसरी ओर यह भी जरूरी है कि साधारण पाठक तक अपनी बात पहुंचाने के फेर में रिपोर्ट पूरी तरह से गड़बड़ा न जाए।

साधारण लेखन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इस तरह के कार्य को तकनीकी पत्रिकाएं और प्रकाशन स्वीकार नहीं करते क्योंकि ये प्रकाशन प्राय: 'वर्स्टहिन' विधि को नहीं मानते। फिर साधारण विधियां प्राय: विद्वतापूर्ण आलोचना के लिए गुंजाइश नहीं छोड़ती। इसलिए रिपोर्ट की शैली संबोधन समूह पर निर्भर करती है। इसके सुस्पष्ट परिणाम हैं, जो इस निर्णय से उत्पन्न होते हैं कि उसे विद्वान अभिजात्य वर्ग के लिए लिखा जाए या जन-साधारण के लिए। रिपोर्ट लेखन में एक और महत्वपूर्ण मुद्दा वृत्तिभाषा का है। इसकी तकनीकी शब्दावली से रिपोर्ट लोगों के बड़े हिस्से की समझ से परे हो जाती है। जिससे इसकी समझ समाज-विज्ञानियों के दायरे तक ही सीमित रह जाती है। इस तरह की वृत्तिभाषिक शब्दावली पाठक के धैर्य की परीक्षा लेती है। मगर इसमें संदेह नहीं है कि कुछ तकनीकी शब्दों ने एक विशेष अर्थ प्राप्त कर लिया है और उन्हें त्यागा नहीं जा सकता है। समाज-शास्त्र के कुछ ऐसे विद्वान भी हैं जिन्होंने कई किस्म के शब्दों का प्रयोग किया है जिन्हें समझ पाना कठिन है। इसलिए वृत्तिभाषा अभी भी बहस का मुद्दा है। शोधकार्य अपने क्षेत्र में सक्रिय शोधकर्ताओं को संबोधित कर रहा हो, तो शोधकर्ता वृत्तिभाषा का प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र है भले ही उसके दूसरे संबोधन समूह साधारण और वृत्तिभाषा की शब्दावली से अनभिज्ञ हों।

18.3 रिपोर्ट की सामग्री

रिपोर्ट की सामग्री चाहे वह शोध निबंध हो, थिसिस या बड़े पैमाने की रिपोर्ट हो उसे एक विशेष तरीके से प्रस्तुत किया जाना होता है ताकि वह उपयोगी बन सके। रिपोर्ट की सामग्री को भिन्न भागों में बंटा जाता है। जिस तरह एक निबंध में उसका आरंभ, मध्य और अंत होता है ठीक उसी तरह शोध रिपोर्ट भी आरंभिक, मुख्य भाग और संदर्भ में बंटी होता है। ये अपने आप में कठिन नहीं है। आइए आरंभिक भाग की चर्चा करते हैं जिसके बाद हम रिपोर्ट के मुख्य भाग और फिर संदर्भ भाग पर आएंगे।

क्षेत्र कार्यकर्ता - सूचना एकत्रित करते हुए

18.4 आरंभिक भाग

आरंभिक भाग का पहला भाग मुख-पृष्ठ (टाइटल पेज) होता है जिसमें शोध कार्य के शीर्षक और लेखक का नाम दिया जाता है। इसके अलावा इसमें संकाय और संस्थान के नाम और उस संस्था या व्यक्तिविशेष के नाम भी दिए जाते हैं, जिसे यह रिपोर्ट पेश की जा रही हो। रिपोर्ट के प्रयोजन भी दिए जाते हैं और अंत में रिपोर्ट प्रस्तुत करने की तिथि दी जाती है। इस पन्ने के बाद अनुमोदन पृष्ठ (एप्रूवल शीट) होता है जिसमें शोध कार्य के मार्गदर्शक विशेषज्ञ (सुपरवाइजर) द्वारा दिया गया प्रमाणपत्र होता है।

इसके पश्चात प्राक्कथन (प्रिफेस) आता है, जिसमें शोध का ब्योरा देते हुए यह बताया जाता है कि यह उस विषय में किस तरह योगदान करेगा। प्राक्कथन के बाद आभारस्वरूप उन लोगों और उस संस्थान के नाम दिए जाते हैं, जिनसे शोधकार्य में सहयोग मिला हो। प्राय: इसमें संयम बरता जाता है और भावुकता से बचा जाता है ताकि उससे वस्तुनिष्ठता और निष्पक्षता के सामाजिक विज्ञान के आदर्श प्रतिबिंबित हों। आभार-पृष्ठ के पश्चात विषय-सूची का पृष्ठ आता है, जिसमें उपभागों, संदर्भ इत्यादि सहित समूची योजना के बारे में जानकारी दी जाती है जिसके अनुसार शोध कार्य को विभाजित किया गया हो। यह अध्याय दर अध्याय समूचे कार्य का एक पूर्ण ब्योरा देता है जिसमें प्रत्येक अध्याय और भाग के आरंभ की पृष्ठ संख्या बतायी जाती है। इसके बाद वाले पृष्ठ में तालिकाएं, आंकड़े या चित्र इत्यादि की पृष्ठसंख्या बतायी जाती है।

18.4.1 रिपोर्ट के मुख्य भाग

रिपोर्ट का मुख्य भाग कई भागों में बंटा होता है जिन्हें हम मोटे अक्षरों (बौल्ड टाइप) से बताते हैं।

शोध का ब्योरा

शोध का प्रस्ताव ही रिपोर्ट का पहला अध्याय बनता है। जिस समस्या को शोध का विषय बनाया गया है उसके बारे में अच्छी तरह से बताया जाए। समाजशास्त्रीय अध्ययन के मामले में सामने आई कठिनाइयों का अध्ययन किए गए क्षेत्र और वास्तविक क्षेत्र में बिताए गए समय समेत क्षेत्रकार्य संबंधी सभी प्रासंगिक जानकारियां इस भाग में दी जाती हैं। रिपोर्ट का यह भाग पाठक में रिपोर्ट के प्रति न्यूनतम रुचि पैदा करता है कि उसने इसमें क्या पढ़ना है। अध्ययन पूरा कर लेने और सोच-विचार के बाद ही तैयार किया जाना चाहिए। इसमें कई उपकारक शामिल होते हैं, जैसे:

i) अनुसंधान का महत्व और अध्ययन के प्रयोजन का ब्योरा।

ii) अध्ययन की सीमाएं भी बताई जाएं।

iii) यह भी महत्वपूर्ण है कि बुनियादी सिद्धांतों को अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया जाए जिससे कि लक्ष्य संबोधन-समूह को आगे की जाने वाली चर्चा और प्रस्तुतीकरण के बारे में ज्ञान हो जाए।

iv) इस चरण पर परिकल्पना को रखा जा सकता है लेकिन सामाजिक विज्ञान में कुछ रिपोर्टों में परिकल्पना को आरंभ में देने के बजाए अध्ययन के अंत में निष्कर्ष निकालते समय पर रखा जाना पसंद किया जाता है।

अनुभव से सीखें 1

महिला और सशक्तिकरण जैसा ही कोई विषय चुनें और यह बताएं कि आप इसमें किस तरह का शोध कार्य करेंगे। इसके लिए कौन सी शोध विधि अपनाएंगे?

अब हम रिपोर्ट के प्रस्तावना वाले भाग के एक और क्षेत्र पर आते हैं। यह है शोध के प्रासंगिक क्षेत्र में उपलब्ध साहित्य पर चर्चा। यह अध्ययन की प्रासंगिकता को स्थापित करने के लिए आवश्यक है क्योंकि यह अध्ययन के उस विशेष क्षेत्र को स्थापित करता है जिसमें शोध कार्य किया गया है। इसमें शोधकर्ता अपने अध्ययन में लीक से हट कर लिए गए विशेष बिंदुओं, निरंतरता के क्षेत्रों को स्थापित करके यह बताता है कि किस क्षेत्र विशेष में उसने यह शोध कार्य किया है। साहित्य पर यह चर्चा तर्क के आधार पर बनी हो और उसमें कालानुक्रम (तिथि इत्यादि) का ध्यान भी रखा जाए। प्रस्तुत की जा रही रिपोर्ट के बारे में यहां यह भी बताया जाए कि किन-किन पहलुओं पर अभी तक ध्यान नहीं दिया गया था, इन पर विशेष ध्यान दिया गया है और किन-किन पहलुओं को छुआ नहीं गया है। इस प्रकार यह प्रक्रिया अध्ययन के समग्र सार्थकता को रेखांकित करती है और स्पष्टत: यह बताती है कि यह शोध क्या है।

यह हमें प्रस्तावना के एक और महत्वपूर्ण पहलू यानी कि कार्य-प्रणाली के स्पष्टीकरण की ओर ले जाता है। रिपोर्ट में यह अति महत्वपूर्ण भाग है जो समूचे अध्ययन की विश्वसनीयता को शुरुआत में ही स्थापित करता है। शोधकर्ता अगर विश्वसनीय तरीके ये यह नहीं दिखा सकता है कि उसने समस्या को किस तरह से लिया है और इसके लिए उसने किस तरह की कार्य-प्रणाली संबंधी युक्तियों का प्रयोग किया है तो पाठक को सामाजिक विज्ञान अनुसंधान की विभिन्न प्रकार की विधियों के बारे में विश्वास में लेना कठिन हो जाता है। जैसे क्षेत्रगत अध्ययन कार्य में भागीदारी, शुद्धत: पर्यवेक्षण पर्यवेक्षक के रूप में सहभागी या सहभागी के रूप में पर्यवेक्षक। ऐसे में अपने दृष्टिकोण और जिन परिस्थितियों में यह अपनाया गया उसके बारे में स्पष्ट करना महत्वपूर्ण हो जाता है।

क्या आप जानते हैं? 1

वृत्तिभाषा (या तकनीकी शब्दावली) कुछ विशेष परिस्थितियों में अनूठा काम करती है। एक काम यह करती है कि तानाशाही या सर्वसत्तात्मक शासन में यह उन सारी बातों को बड़ी सहजता से बता देती है जो कि सरल, साधारण भाषा में संभव नहीं है। क्योंकि एक खास लक्षित संबोधित समूह के लिए प्रकाशित सामग्री को सेंसर करने वाले अधिकारी वितरित करने की अनुमति तो दे सकते हैं मगर वे ऐसे लेखों या रचनाओं का वितरण नहीं होने देंगे जो जन साधारण के लिए हो और उसमें असंतोष भड़काएं या कानून और व्यवस्था को भंग करे।

साक्षात्कार, प्रश्नोत्तरी, विषयसंबंधी अध्ययन (केस स्टडी) इत्यादि ये सभी संबंधित विधियां हैं। किसी भी खास विधि के प्रयोग को समुचित तर्क देकर न्यायसंगत ठहराया जाना जरूरी है। अध्ययन में प्रयोग की गई प्रश्नोत्तरी या अनुसूची को अध्याय के अंत में नत्थी करने या रिपोर्ट के परिशिष्ट में देने का प्रचलन भी है। इससे शोध को दिशा देने वाले सरोकारों के साथ-साथ यह भी ज्ञात हो जाता है कि प्रश्नोत्तरी की रचना कितनी अच्छी तरह से की गई थी।

प्रस्तावना में कार्य-प्रणाली संबंधी भागों को स्पष्ट करने के बाद प्राय: लेखन कार्य रिपोर्ट के विभिन्न अध्यायों/भागों की ओर बढ़ता है, जिनमें डाटा का विवरण और उसका विश्लेषण दिया जाता है। समाज वैज्ञानिक रिपोर्ट में विशेषकर समाज शास्त्र के क्षेत्र में डाटा को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना होता है। इसी के साथ इसे संबंधित क्षेत्र में पूर्ववर्ती और समकालीन शोधकार्यों से जोड़ना होता है। इसका तात्पर्य यह है कि रिपोर्ट के प्रत्येक अध्याय और भाग में शोधकार्यों की तिथि और पर्याप्त विवरण एक निश्चित प्रसंग में दिए जाने चाहिए और यह प्रसंग शोधकर्ता को उसकी रुचि के क्षेत्र में पहले से उपलब्ध शोध कार्य से परिभाषित होता है, जिसमें वह शोध कार्य को प्रस्तुत कर रहा है। इसी तरह से शोधकार्य के तुलनात्मक आयामों को ध्यान में रखना जरूरी है। यह पहलू अंतर्भूत और बाहरी दोनों है। इसके बिना शोधकार्य निरर्थक होगा। यह सिद्धांत ऐसे क्षेत्र में लागू नहीं होता जिसमें कोई शोध कार्य नहीं हुआ हो। इसलिए प्रवर्तनकारी अध्ययनों को इस संदर्भ में कुछ हद तक उचित ठहराया जा सकता है क्योंकि उनमें शोध कार्य किसी स्थापित प्रसंग में नहीं होता। मगर आधुनिक युग में सामाजिक रुचि का शायद ही ऐसा कोई क्षेत्र बचा हो जिसमें कि संबंधित शोध साहित्य उपलब्ध न हो। अंत में चर्चा को प्रभावशाली बनाने के लिए तालिकाओं, ग्राफों और चित्रों का प्रयोग भी किया जाए, ऐसे डाटा देने का प्रयास नहीं किया जाए जिसका मौजूदा शोधकार्य से कोई संबंध नहीं हो। सामाजिक नृ-विज्ञान में विशेषकर चित्र इत्यादि प्रसंग के महत्व को बढ़ाते हैं। विवरण और विश्लेषण प्रस्तुत किए जाने के बाद शोधकर्ता को अपने शोध के परिणामों, या निष्कर्षों को प्रस्तुत करना होता है। इसे अंतिम अध्याय के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

अनुभव से सीखें 2

किसी प्रकाशित शोध पत्र के अंत में दिए गए निष्कर्ष को पढ़ें और इसकी अनिवार्य विशेषताएं नोट करें। इस अध्ययन के आधार पर एक टिप्पणी तैयार करें।

शोध रिपोर्ट का अंतिम अध्याय रिपोर्ट में उससे पहले दी गई जानकारी की पुनरावृत्ति भर नहीं है। बल्कि इसे इससे परे जाना चाहिए। इसमें अभी तक जो कुछ प्रस्तुत किया गया है इसके आधार पर निष्कर्ष निकाले और परामर्श दिए जाते हैं। यही अंतिम अध्याय को सार्थक बनाता है। इसमें शोधकर्ता को निश्चय पूर्वक यह सिद्ध करने का अवसर मिलता है कि प्रस्तावना में जो कुछ कथन दिए गए हैं वे सत्य हैं और यह शोध रिपोर्ट वास्तव में संबंधित क्षेत्र में चल रही बहस में सार्थक योगदान करती है। लेकिन यह भाग पूर्ववर्ती या समकालीन शोधकार्य से पृथक नहीं होना चाहिए। बल्कि इसको दोनों के बीच एक पुल का काम करना चाहिए। इसलिए अंतिम अध्याय में साधारण और विशिष्ट निष्कर्ष निकाले जाते हैं और प्रासंगिक परामर्श दिए जाते हैं। कई शोध रिपोर्टों में यह उनके योगदान में

महत्वपूर्ण भाग होता है। वैसे भी शोधकर्ताओं से विशेष परामर्श और सिफारिशें पाने के लिए उनसे विशेष शोधकार्य कराए जाते हैं। लेकिन संस्थाओं और डिगरियों के लिए किए जाने वाले शोधकार्यों की रिपोर्टों में भी रचनात्मक सामान्यीकरण और सुझावों के महत्व को नकारा नहीं जा सकता है। इसलिए रिपोर्ट का यह अंतिम भाग पूर्ण अध्याय है जो उस समस्या पर केन्द्रित है जिसका समूचे रिपोर्ट में अध्ययन, प्रस्तुतीकरण और विश्लेषण किया जाता है। यहां यह कहना गलत नहीं होगा कि अंतिम अध्याय के कमजोर होने और उसमें सही तरीके से तर्क नहीं करने से समूचा अध्ययन कार्य निष्फल, निरर्थक हो जाता है। किसी भी शोधकर्ता की मौलिकता और विश्लेषणात्मक क्षमता इसी से सिद्ध होती है कि उसने इस भाग को कितने प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत किया है।

18.4.2 रिपोर्ट की संदर्भसूची बनाना

समूचे अध्ययन या शोध रिपोर्ट में शोधकर्ता को कुछ विशेष संदर्भों का उल्लेख करना जरूरी होता है। यह कार्य प्रत्येक अध्याय या रिपोर्ट के अंत में किया जाता है। इसे करने का एक विशेष तरीका है और इसे 'संदर्भ और नोट', संदर्भसूची, 'परिशिष्ट' और 'शब्द या ग्रंथ सूची' (बिबलियोग्रैफी) शीर्षक के अंतर्गत प्रस्तुत किया जाता है। इसमें मूल पाठ के दौरान उद्धृत स्रोतों की सूची दी जाती है। उदाहरण के लिए मूल पाठ में संक्षेप में उद्धत (मार्शल, 1952) को संदर्भसूची में इस प्रकार पूरी तरह से स्पष्ट किया जाता है: टी.एन. मार्शल (1952), द प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी, गौर्डा प्रेस, ताइवान। ठीक यही तरीका रिपोर्ट में उद्धृत प्रत्येक पुस्तक के लिए अपनाया जाता है। संदर्भ सूची बनाने का एक और तरीका उन्नयनित संख्या प्रणाली (एलीवेटेड न्यूमेरिकल सिस्टम) है। हमने पीछे उल्लेख किया है कि क्षेत्रगत-कार्य संबंधित क्षेत्र में मौजूद डाटा की बुनियादी जानकारी देता है। इस पद्धति में उन्नयनित संख्या (जो चलती पंक्ति में किसी शब्द के ठीक ऊपर छोटे टाइप में अंकित होती है) किसी पुस्तक या नोट का संदर्भ देती है। संदर्भ में समूची पुस्तक का नाम और प्रकाशन संबंधी विवरण दिए जाते हैं।

> **जरा सोचिए 2**
>
> किसी शोध कार्य की संदर्भ सूची तैयार करना क्या आवश्यक है? समाचार पत्र और पत्रिकाएं अपनी रिपोर्टों में संदर्भ सूची क्यों नहीं देते?

संदर्भ में लेखक और प्रकाशन वर्ष या उन्नयनित संख्या का प्रयोग किया जाए, यह प्रचलन या विशेष जरूरतों पर निर्भर करता है। किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए तैयार की गई रिपोर्ट के लेखन में उस प्रकाशन या पत्रिका की "हाउस स्टाइल" का अनुसरण करना पड़ता है, जिसमें उसे प्रकाशित होना है। इसलिए नोट और संदर्भ को एक सतत क्रम में दिया जाता है और उन्हें अध्याय या रिपोर्ट के अंत में स्पष्ट किया जाता है। इसके अलावा उन्हें पृष्ठ के अंत में सबसे नीचे फूटनोट (पाद टिप्पणी) के रूप में दिया जा सकता है। इस तरह के फूटनोट में सटीक बात कही जानी चाहिए। इनमें साधारण बातों के लिए कोई स्थान नहीं होता।

इस प्रकार नोट या फूटनोट किसी बिंदु की व्याख्या या किसी संदर्भ के प्रकाशन विवरण हो सकते हैं। संदर्भ बनाने के लिए कुछ मानक संकेत-चिन्ह हैं, जिनसे इस भाग को संक्षिप्त और स्पष्ट रखने में सहायता मिलती है। ये सामाजिक विज्ञान लेखन का अंग हैं। यहां हम आपको इनमें से कुछ के प्रचलनों से परिचित कराएंगे ताकि आप भी अपनी रिपोर्ट को सटीक और स्वीकार्य बना सकें। शोध रिपोर्ट लिखने के लिए संदर्भ प्रस्तुत करने का ज्ञान सीखना अति अनिवार्य है।

शोधकर्ता को कुछ मानक संदर्भन तकनीकों का ज्ञान होना चाहिए यहां हम कुछ संक्षिप्त शब्द-रूपों की सूची नीचे दे रहे हैं:

anon — लेखक अनाम है

cf — तुलना

ch. chap	–	अध्याय
col, cols	–	कालम
ed	–	संस्करण
et.al	–	और अन्य
fig, figs	–	चित्र
ibid	–	वही संदर्भ
idem	–	वही व्यक्ति
illus	–	सचित्र
infra	–	नीचे
loc, cit	–	उद्धृत स्थान
mimeo	–	मिमियोग्राड
MS	–	पांडुलिपि (मैनुस्क्रिप्ट)
n.d.	–	कोई तिथि नहीं दी गई है
n.p.	–	कोई स्थान नहीं
op, cit	–	पहले या पीछे उद्धृत
supra	–	ऊपर
vide	–	देखिए

एक पुस्तक के लिए संदर्भ इस प्रकार दिया जाता है: राग्डा, टेर्जी (1978) *नेचर एंड मैन* (प्रथम संस्करण) स्टॉकहोम, पर्सीक्यूशन प्रेस पृ. 27-32। इसमें लेखक का उपनाम, मुख्य नाम, प्रकाशन का वर्ष, शीर्षक (अधःरेखांकित), संस्करण, प्रकाशन का स्थान, प्रकाशक का नाम, कुल पृष्ठ संख्या इसी क्रम में दिए जाते हैं।

लेख में निम्न स्टाइल अपनायी जाती है:

डेविस माइल्ज (1954), "रिलेक्शन एंड सोसायटी: ए स्टडी ऑफ बैंकर्स"। *डाउन बीट* खंड सं. 10-27, पृ. 791 (लेखक का उपनाम मुख्य नाम; लेख का शीर्षक, पत्रिका का शीर्षक (अधःरेखांकित) खंड, संख्या, पृष्ठ)।

इसी प्रकार कार्य-प्रणाली को अप्रकाशित सामग्री जैसे थीसिस या शोध निबंध या समाचार पत्र के लिए लेखन में संदर्भन करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। फिर इसके ज्ञान की एक उपयोगिता यह भी है कि अध्ययनकर्ता एक मानक शोध अध्ययन के संदर्भ भाग को पढ़ेगा। ग्रंथ सूची (बिबलियोग्रैफी) में संदर्भसूची से सिर्फ यही अंतर है कि यह अंग्रेजी के वर्णक्रम के अनुसार तैयार की जाती है और इसका दायरा बड़ा होता है। इसका यह तात्पर्य है कि ग्रंथ-सूची या बिबलियोग्रैफी में वे सभी शोध-कार्य या रचनाएं शामिल होती हैं जो इन विद्वानों या अध्येताओं के लिए तुलनात्मक महत्व लिए होती हैं जिन्हें मौजूदा अध्ययन के क्षेत्र में रुचि हो। इसका दायरा संदर्भों से बड़ा होता है क्योंकि संदर्भ सूची के लिए आवश्यक है कि एक निश्चित स्थान पर उठाए गए बिंदु के लिए लगभग पूर्णतः दोषरहित संकलन प्रस्तुत किया जाए। इस प्कार संदर्भन प्रत्यक्ष या सन्निकट क्षेत्र का प्रावधान है जिससे कोई बिंदु लिया गया है या जिससे उसकी समानता है। यह तर्क के प्रसंग की पुष्टि करता है। बिबलियोग्रैफी मौजूदा अध्ययन को कहीं ज्यादा संबंधित क्षेत्र में हुए कार्यों के व्यापक दायरे में रखती है और आगे के अध्ययन के लिए गुंजाइश छोड़ती है। यह रिपोर्ट लेखक के ज्ञान के दायरे को भी दर्शाती है।

18.5 रिपोर्ट लेखन के आगे के पहलू

यहां पर कुछ खास कारकों का उल्लेख करना जरूरी है जो रिपोर्ट के दायरे को सीमित करते हैं। दूसरी तरह से कहें तो आदर्श स्थिति तो यह है कि शोधकर्ता को अपनी खोजों, निष्कर्षों को मुक्त रूप से संप्रेषित करना चाहिए। मगर वास्तविकता में ऐसा नहीं होता क्योंकि शोधकर्ता को अपने सामाजिक परिवेश को भी ध्यान में रखना पड़ता है। शोधकर्ता का सामाजिक या बाह्य संप्रेषण उसे किस तरह से किसी एक या दूसरी विचारधारा से जोड़ता है, यह उस पर अंकुश लगाता है। यह कारक वह जो कुछ अपने शोधकार्य में कह रहा है, उस पर सीमा बांधता है। कुछ शोधकर्ता एक विशेष दृष्टिकोण या विचारधारा को प्रतिष्ठित करने के लिए लिखते हैं और इसीलिए उन्हें अन्य परिप्रेक्ष्यों के विद्वानों से आलोचना का शिकार होना पड़ता है।

शोध के राजनीतिक पहलुओं से उत्पन्न होने वाली सीमाएं सबसे शक्तिशाली होती हैं। कभी-कभी वे एजेन्सियां भी सीमाएं लगाती हैं जो शोध के लिए वित्तीय सहायता देती हैं। शोधकार्य अगर राजनीतिक रूप से विवादास्पद हो तो भी यह आवश्यक नहीं कि उसे कोई प्रकाशक मिल ही जाएगा। अपने विवादास्पद इरादे का पता न लगने देने के लिए शोधकर्ता कभी-कभी वृत्तिभाषा का प्रयोग करता है। इसका समाधान यही है कि बीच का रास्ता अपनाया जाए जिससे शोधकर्ता के इरादे को सिर्फ विशेषज्ञ ही नहीं बल्कि जन-साधारण का एक बड़ा तबका समझ जाए।

18.5.1 नैतिक पहलू

अब हम अनुसंधान कार्य में रिपोर्ट लेखन के एक अति महत्वपूर्ण बिंदु पर आते हैं। सबसे पहले हमारा ध्यान कुछ बुनियादी बातों पर जाता है, जो इस प्रकार हैं:

- उन लोगों के लिए शोधकर्ता की प्रतिबद्धता; जिनका उसने अध्ययन किया है,
- समाज के लिए प्रतिबद्धता,
- अपने सहयोगियों के लिए शोधकर्ता की प्रतिबद्धता।

शोधकर्ता सूचना के स्रोतों (सूचना देने वाले लोगों) के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। मगर यहीं पर एक समस्या पैदा होती है। सूचना के स्रोत या सूचनादाताओं (मुखबिरों) के नाम क्या गोपनीय रखे जाने चाहिए? इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं है। ऐसे अध्ययनों में सूचनादाताओं के नाम गुप्त रखे जाना आवश्यक हो जाता है, जिनमें शोधकर्ताओं को यह महसूस होता है कि सूचनादाता को उत्पीड़ित किया जा सकता है या उसके निजी जीवन (पर्सनल प्राइवेसी) में व्यवधान पड़ेगा। सूचनादाता को गुमनाम रखने के लिए अक्सर उसका नाम बदल दिया जाता है। वस्तुत: समाज विज्ञान और नृ-विज्ञानी अक्सर समूचे गांव का नाम ही बदल डालते हैं जिससे कोई अन्य उस गांव तक नहीं पहुंच सकता। कई मामलों में सूचना के स्रोतों को गुमनाम रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती हैं लेकिन कई बार शोधकर्ता के लिए यह तय करना कठिन हो जाता है कि सूचनादाता की पहचान गोपनीय रखना आवश्यक है या नहीं।

क्या आप जानते हैं? 2

सूचनादाता की पहचान को गुप्त रखना समाज विज्ञान संबंधी शोधकार्यों में एक मुख्य समस्या है। शोधकर्ताओं के सामने यह प्रश्न रहता है कि वे उत्तरदाताओं (रेस्पांडेन्ट्स) की पहचान हमेशा गुप्त रखें या नहीं, रखें तो कैसे। इस प्रश्न पर काफी बहस हो चुकी है। सो बेहतर यही है कि शोधकर्ता पूर्णगोपनीयता और आंशिक प्रकटन के बीच संतुलन बना के चले।

समाजशास्त्रीय अध्ययनों में गोपनीयता अक्सर इसलिए रखी जाती है कि अगर शोधकर्ता अध्ययन क्षेत्र और सूचनादाता की पहचान बता दें तो सूचना के स्रोत को ही गड़बड़ाया जा सकता है या वह पूरी

तरह से सूख जाएगा। कोई शोधकर्ता अगर किसी अध्ययन की प्रामाणिकता की पुष्टि करना चाहे तो वह अध्ययन क्षेत्र में जाकर सूचनादाताओं को पहचान सकता है। इस स्थिति में अपने बयान बदलने या उनसे इनकार करने के लिए उन पर दबाव पड़ सकता है ताकि वे खुद को और अपने सम्प्रदाय को इससे उत्पन्न होने वाली किसी भी संभावित कठिनाई से बचा सकें। इसलिए सूचनादाता अगर अपना नाम प्रकट करने की अनुमति दे देता है तो भी शोधकर्ता को इस स्वतंत्रता से बचना चाहिए। विशेषकर गांव संबंधी अध्ययनों में यह जरूरी है क्योंकि अक्सर सूचनादाताओं को इस अनुमति के परिणामों की कोई समझ नहीं रहती। नृ-विज्ञानियों ने वास्तव में अपने सूचनादाताओं के नाम तभी प्रकट किए हैं जब उन्हें यह विश्वास था कि उन तक नहीं पहुंचा जा सकता है और इस तरह की सूचना के प्रसार से उन्हें कोई खतरा नहीं है।

इस समस्या का समाधान कई तरह से तलाशा गया है। लेकिन सबसे बेहतर उपाय यही अपनाया जाता है कि कहां, कब और कैसे किसी विशेष सूचना का संदर्भ मिला। इसके बारे में सटीक जानकारी नहीं दी जाती। समाजशास्त्री और मनोवैज्ञानिक अपने अध्ययन के प्रक्षेत्र, लोगों और सूचनादाताओं को काल्पनिक नाम और पहचान देते हैं। काल्पनिक नामों का प्रयोग इस आधार पर उचित माना जाता है कि शोधकर्ता की रुचि पैटर्नों या प्रक्रियाओं में हैं, न कि विशिष्ट संदेशों में । इससे अध्ययनों के परिणामों का प्रतिकृतिकरण भी नहीं हो पाता है। अंत में हम यह भी बता दें कि सूचनादाताओं को गलत ढंग से उद्धृत करना, डाटा में हेर फेर करना, महत्वपूर्ण डाटा को छोड़ देना, ये सभी नैतिकता से जुड़े नाजुक सवाल हैं। ये हमें यही बताते हैं कि सामाजिक विज्ञान अनुसंधान का एक कठिन क्षेत्र है। मगर पहचानों को काल्पनिक रखने का यहां यह मतलब भी हो सकता है कि किसी शोधकर्ता के अध्ययन के परिणामों की सत्यता की जांच किसी तरीके से नहीं की जा सकती है।

18.5.2 रिपोर्ट का प्रकाशन

किसी भी शोध रिपोर्ट का साधारण परिणाम किसी पत्रिका में उसके अंश का या फिर पुस्तक के रूप में समूची रिपोर्ट का प्रकाशन है।

पत्रिकाओं और पुस्तक प्रकाशकों के पास विशेषज्ञों का एक दल होता है जो पांडुलिपि का अध्ययन कर उसे प्रकाशित करने या न करने का निर्णय देते हैं। पत्रिकाओं की अपनी अलग हाउस स्टाइल और प्रतिष्ठा व पहचान होती है।

किसी प्रकाशनालय या पत्रिका की प्रतिष्ठा संपादक मंडल और प्रकाशन की पहुंच पर निर्भर करती है। इसका यह मतलब है कि अक्सर उनकी पुष्टि के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अल्प-ज्ञात प्रकाशक या पत्रिकाएं अच्छे लेखकों के कार्यों को सहर्ष प्रकाशित करते हैं। पर संपादक अक्सर एकतरफा दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं भले ही अध्ययन के लिए अनुसंधान अच्छी तरह से क्यों न किया गया हो। इसलिए अगर शोधकर्ता को किसी प्रकाशक या पत्रिका की ओर से अस्वीकृति का पत्र मिले तो इससे उसे निराश नहीं होना चाहिए।

18.6 सारांश

शोध एक बड़ा ही श्रमसाध्य कार्य है, जिसके कई पहलू हैं। शोध रिपोर्ट के लेखन के लिए उच्च कोटि की योग्यता आवश्यक है। इसके बावजूद भी कुछ ही शोधकार्य ऐसे हैं जिनका स्वागत ज्ञान के विस्तार में महत्वपूर्ण योगदान के रूप में हुआ है। महत्वपूर्ण और प्रभावशाली पद पर होना भी रिपोर्ट के प्रकाशन, उसके प्रसार और प्रशंसा में सहायक होता है। मगर इस क्षेत्र में कोई अनुसंधान नहीं हुआ है कि किसी शोधकार्य को प्रकाशन पर सफलता कैसे मिलती है।

इस तरह से इकाई का आरंभ हमने लक्ष्य या संबोधन समूह पर चर्चा से किया। इसके बाद हमने रिपोर्ट की स्टाइल और उसके प्रकारों के बारे में चर्चा की। तत्पश्चात हमने शोध रिपोर्ट के मुख्य

भाग यानी–आरंभिक, मुख्य भाग और संदर्भन के विभिन्न पहलुओं समेत उसकी सामग्री पर चर्चा की। फिर हमने रिपोर्ट लेखन के महत्वपूर्ण पक्षों पर रोशनी डाली। ये पहलू नैतिकता और रिपोर्ट के प्रकाशन से जुड़े हैं। इस प्रकार हमने इस विषय पर आपको शोध रिपोर्ट लेखन के संबंध में पर्याप्त प्रासंगिक जानकारी दी है।

18.7 पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

ग्रंथ-सूची	:	वर्णमाला क्रम में एक विषय से जुड़ी पुस्तकों की सूची।
गोपनीयता	:	सूचना के स्रोत को गुप्त रखना।
नैतिक	:	सामाजिक मूल्यों और आदर्शों से जुड़ी-बातें।
वृत्ति भाषा	:	किसी विषय की तकनीकी भाषा।
वस्तुनिष्ठता	:	पूर्वाग्रह और पक्षपात से मुक्त।

18.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गिडियोन, एस., और नेट, *आर. ए मेथडॉलॉजी ऑफ सोशल रिसर्च.* जयपुर रावत पब्लिकेशंस.

रेड्डी, सी.आर. (1987) *रिसर्च मेथंडलॉजी इन सोशल साइंसेज.* दिल्ली : दरिया पब्लिशिंग हाउस.

संदर्भ:

अग्रवाल, बीना (1992) "द जेंडर एंड एनवायरनमेंटल डिबेट इन इंडिया: लेसंस फ्रांम इंडिया" *फैमिनिस्ट. स्टडीज* खंड 18 अंक 1.

आलम, जयंती (1999) "वीमेन एंड एनवॉयरनमेंटल मैनेजमेंट" *मेनस्ट्रीम* अप्रैल, 12, 1997.

जैन, शोभिता "वीमेन एंड पीपुल्स इकॉलॉजिकल मूवमेंट : ए केस स्टडी आफ वीमेंस रोल इन द चिपको मूवमेंट इन उत्तर प्रदेश" *इकॉनमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, 19(41) अक्तूबर 13, 1984.